साहित्य
का
श्रेय और प्रेय

लेखक
जैनेन्द्रकुमार

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज, दिल्ली

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागज, दिल्ली

प्रथम सस्करण
१९५३

मूल्य
सात रुपये

पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागज दिल्ली की ओर से दिलीपकुमार द्वारा प्रकाशित और न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली में मुद्रित

विषय-सूचो

●

		पृष्ठ

●

प्रस्तावना

जैनेन्द्र : कलाकार और विचारक

कलाकार और दर्शन का नाता बहिन-भाई का रहा है। दोनो मे आज के युग मे किसी प्रकार का अन्तर डालना खतरे का काम है। शॉ ने जब कहा कि 'आज की सदी के कलाकार को अन्तत दार्शनिक होना ही पडेगा' तब उस कथन मे आत्म-रक्षा से भी अधिक कुछ तथ्य था। वस्तुत कला की मन्दाकिनी दर्शन के गुरु-गिरि से फूट कर काल और परिस्थिति के बीहड वन और मैदानो में से बहती हुई समष्टिगत अभेदानुभति के महासागर में मिलने चली जा रही है। वह चिरतन गतिशीला और वेगवती है, अत भेद-मन्थन उसका आदि, अभेद-लाभ अन्त और प्रेरणा मध्य माना जा सकता है।

यहाँ 'कला' के अर्थ समझने होगे। टॉलस्टाय ने जिसे समस्त के समीप आने का भाव-माध्यम बताया, इमर्सन जिसे दैवी गुण मानते थे, हेगेल ने जिसे 'आत्म सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का महत्पथ' कहके सम्बोधित किया, उसी कला को भला हम भौतिक और जड ऐन्द्रिय-लालसा-पूर्ति का साधन किस भाति कह सकते है ? वह मुक्ताकाश मे उडते रहने को नही है, न धरती से वह चिपटी है। जो खारे जीवन-सागर से आत्म-सूर्य की तेजोमयी किरणो द्वारा गगन-प्रान्तर मे खीच ली जाती है, कला उस वाष्प-सी है। यथार्थ से ऊपर आदर्श की ओर उसका गेह है। क्षार सब नीचे छूट जाता है, शुद्ध तेज ही वहाँ रहता है। फिर वही वाष्प ताप-मान की अनुकूलता पाकर पानी बन नीचे बरस रहती है और हरि-याली उपजाती है। बरसने से पहले वह सघन भी है, तडित्पूर्ण, हुकार और वेदना से भरी। और उस मे कभी तडित्तर्जन और घनगर्जन का भीष्म-सौन्दर्य दीखता है, तो कभी सप्तरगी धनुष का इन्द्र-सौन्दर्य भी।

उसी से बन आता है । मानव-कल्पना उस सौन्दर्य को पीकर पीन हो उठती है । फिर भी यही उस महा-व्यापार का आशय मान तृप्त होना भूल है । धूप से तपी और प्यासी धरती-माता की छाती पर विरहाकुल वह सघन वेदना सहस्र-सहस्र धाराओ मे पानी बन बरस पडे,—हो सकता है कि उस तमाम (कला) व्यापार का निहिताशय यही हो । क्या इसी का परिणाम नही है कि धरती-माता मानो प्रत्युत्तर मे हरियाली ओढनी ओढ असख्य शस्य-बालियो से सुनहरी मुस्कान मुस्कराती हुई खिल पडती है ।

कला की अवतारणा, रूपक को तजकर कहे तो, जीवन के अभाव-छिद्रो को आत्म-स्वर की रागनी से भर देने के लिए होती है ।

वैसे तो मानव स्वय एक अपूर्ति है। परन्तु जिस अनुपात में वह अपूर्ण है उसी अनुपात में उसमें 'पूर्णात्पूर्णमिदम्' की ओर अग्रसर होने की प्रबल आकाक्षा भी विद्यमान है । विकास अथवा उत्क्रान्ति का इससे अलग कोई अर्थ नही । जीवन के धर्म-क्षेत्र में एक ओर मानवात्म्य रूपी सत्यप्रिय पार्थ और दूसरी ओर प्रचड अनीक-सज्जित स्वार्थ-प्रिय दुर्योधन-दु शासन के बीच सदैव समर चलता रहता है । अच्युत-काल इस सब लडाई-झगडे के बीच मे केवल फलेच्छा-विरहित परन्तु आत्म-योग-मय कर्म-लग्नता का आदेश देता है । कला उस सघर्ष-रति को धारण करती और उसके विष फल का द्योतन करती है । वहा चिन्तन है सजय । वैसे दोनो ही अपने आप मे साध्य नही है, न चिन्तन न धारणा । साध्य परात्पर है । परात्पर 'कूटस्थमचलध्रुव' है और वही सत्य है ।

भावगम्य और बुद्धिगम्य ज्ञान अपने-आप मे परिमित है । हम उनके सहारे जब अपरिमेय की ओर बढते है तब दिल और दिमाग मे एक तरह की कशमकश शुरू हो जाती है । बुद्धि कहती है, मै पहले देखूगी । लो मैने जान भी लिया। वह (अपरिमेय) यो है, और यो है । भक्ति-भावना कहती है, 'देखने को मुझे आँखें कहा हैं ? देखने को मुझे कहां जाना है ? मै दूर

की दूर नही जानती—लो, मैने चरण गह लिये है।' ओ री पगली बहिनो, तुम दोनो ही अर्ध-सत्य को गहे उसी को सम्पूर्ण माने बैठी हो। भूल की असल गाठ, मुक्ति-बोध की राह मे असल बाधा, तो इस 'मै मै' मे है, जिसके प्रयोग से तुम दोनो बाज नही आ रही हो।

और यही वह अह-भावना है जिसके विरुद्ध जैनेन्द्र ने, समष्टि-प्रेम की भित्ति पर खडे होकर, खुल्लमखुल्ला विद्रोह घोषित किया है। उनकी हरेक कृति का रोम-रोम आत्मोत्सर्ग और आत्म-दान की इस महत् भावना से परिप्लावित है। जहा साख्य दार्शनिक प्रकृति के चेतन-नृत्य के पुरुष-सपर्क के साथ में बुद्धितत्व और अहतत्व के सृजन की बात करते है वहाँ जैनेन्द्र प्रकृति तक से आत्म-समर्पण की सीख लेना जरूरी समझते है। २७-३-३७ के एक पत्र में उन्होने लिखा है,—"तुम जानते हो कि आर्टिस्ट निर्मम नही हो सकता ? ऐसी धारणा गलत है। ज्ञातव्य वस्तु के सम्बन्ध मे उसे ममताहीन वैज्ञानिक होना चाहिए। हाँ, ज्ञातव्य उस के लिए है वह स्वयम्, 'पर' नही। 'पर' को तो जाना ही नही जा सकता। जाना जा सकता है तो स्वयम् के भीतर से। इसलिए वह अपने को और अपने ज्ञान को भी बराबर कसता रहता है। सच्चे आर्टिस्ट को अपने जीवन के बारे में शुद्ध वैज्ञानिक होना पडता है। इसलिए 'पर' के प्रति है वह भावुक कलाकर, और अपने प्रति है परीक्षा-प्रयोगी तत्त्वान्वेषी। जहा मै वस्तु को शोधना-बिठाना चाहता हू, वहाँ होना ही चाहिए मुझे गणितज्ञ की भाति सावधान। जहा स्फूर्तिदान एव चैतन्योत्पादन लक्ष्य है, वहाँ होना होगा कलाकार।"

जैनेन्द्र हिन्दी-ससार के सम्मुख 'परख' के कलाकर के रूप मे आये थे। उनकी कथाओ ने हिन्दी-भाषियो के ध्यान को सहसा आकृष्ट कर लिया। क्योकि जैसे कि स्व० प्रेमचन्द जी ने 'हस' (वर्ष ३ सख्या ४) मे लिखा था, उनमे "अन्त प्रेरणा और निष्कपट जैसे बन्धनो में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो।...उनमे साधारण-सी बात को भी कुछ इस ढग

से कहने की शक्ति है जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी भाषा मे एक खास लोच, एक खास अन्दाज है।" धीरे-धीरे कथा-शिल्पी जैनेन्द्र विचारक के रूप मे सामने आने लगे और परसो मेरे एक मित्र ने मजाक मे यहा तक कह दिया कि 'अब वे सूत्रकार होते जा रहे है।' आशय, जैनेन्द्र की मनोभूमि मे कलाकार से दार्शनिक की ओर बढने वाली विकास-प्रेरणा मननीय तत्व है।

यहा मुझे नवम्बर ३६ के 'हस' मे प्रकाशित अपने लेख के कुछ अश उद्धृत करना आवश्यक जान पडता है। "वस्तुत जैनेन्द्र मे, क्या जीवन और क्या साहित्य, घर और बाहर, व्यक्ति और समष्टि, एक दूसरे के प्रति चिर-अपेक्षाशील रहे है। जैसे एक का दूसरे के बिना अस्तित्व ही असम्भव है। पर फिर भी उसमें व्यक्ति और घरवाला (यानी समाज-सम्मत व्यक्ति-केन्द्र-बोधक) जो तत्व है वह दूसरे के ऊपर अधिक अधिकार से रौब जमाता हुआ चलता जान पडता है।" यही लौकिक और अलौकिक, वास्तव और सत्य, अनेक और एक का जो भेदा-भेद है वही जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की विशेषता है। जैनेन्द्र ऐसी सुलझन है जो पहेली से भी अधिक गूढ हो। वे इतने सरल है कि उनकी सरलता भी वक्र लगे। वे इतने निरभिमान है कि वही उन का अभिमान है। वे परिस्थितियो से ऐसे आबद्ध है कि उसी मे उन्होने अपनी मुक्ति मान ली है।"

अर्थात् जैनेन्द्र मे विचारक कलाकार अपने कलात्मक और विचारात्मक अस्तित्व को किसी भी प्रकार, कभी, कही भी, जरा भी एक दूसरे से अलग न देख पाता है और न रख ही पाता है।

साहित्यकार जैनेन्द्र : शैली का वैशिष्ट्य

और यह सामजस्य किस सफाई और महिम्नता से व्यक्त हुआ है? उनके लेखो में उन्हें पढने से बातचीत का अथवा स्वयं उन्ही से बात-

चीत करने का मज़ा कैसे उत्पन्न होता है, यह दर्शनीय है। यहाँ साहित्य के एक अध्ययनशील विद्यार्थी के नाते जैनेन्द्र के साहित्यिक विचारों पर मुझे कुछ कहना ज़रूरी जान पडता है।

प्रस्तुत पुस्तक का आधे से अधिक अश साहित्य और आलोचना से भरा है। साहित्य क्या, साहित्य और समाज, साहित्य और धर्म, साहित्य और राजनीति, साहित्य और नीति, साहित्यकार कौन, कैसा आदि लेख, लेखक सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, कुछ पत्र और नेहरू जी के आत्मचरित और प्रेमचन्द पर लिखी हुई आलोचनाओ से मेरा मतलब है। साथ ही स्थान-स्थान पर साहित्य-सभाओ में दिये हुए भाषण भी उस में आ जाते है। साहित्य शब्द के निर्माण मे जो 'सहितता' अर्थात् समवेतता या व्यक्ति में समष्टि की उपलब्धि के अर्थ विश्व मे बिखर जाने की जो अन्तरतम लालसा है, साहित्य को उसी का शब्दाकित रूप जैनेन्द्र ने माना है। इस दृष्टि से उन्होने उसे विज्ञान या दूसरे ऐसे बुद्धि-व्यवस्थाओ से अलग माना है। साहित्य मुख्यत भावो का आदान-प्रदान है। वह विचार-जागृति का विधायक प्रणेता है। इस अर्थ मे वह निष्प्राण, जीवन से भिन्न, असबद्ध और विभक्त, अथवा वासनासेवी कभी नही हो सकता।

साहित्य की सीमाओ और जिम्मेदारियो को भली भाति पहिचानकर ही जैनेन्द्र ने साहित्य लिखा है, यह कहना अयुक्त न होगा। उनके साहित्य मे सबसे प्रथम और विशेष गुण, उनकी भाव-रम्य सहज वार्तालाप शैली के अतिरिक्त, उनकी विचार-प्रवर्तकता है। उनके विचारो का चाहे प्रत्याख्यान हम करे, पर यह तो हम कदापि कह ही नही सकते कि वे पाठक या श्रोता के मन मे विचार-लहरिया नही उठाते। उनकी लेखनी की क्षमता इसी मे है कि वह विचारो को ठेलती, कुरेदती और आगे बढाती है। एक अच्छे लेखक से प्रामाणिकता और विचार-प्रवर्तकता से अधिक कोई माग करना भी भूल है। पश्चिमी साहित्य पढ-पढकर हमारे दृष्टिकोण में कुछ इस तरह की एक खराबी पैदा हो गई है कि

हम उसी साहित्य को ज्यादह उत्कट मानते है जो मतप्रचार से भारा क्रान्त हो। जैसे अप्टन सिक्लेयर या ऐसे ही छलछलाती शैली और भावो के अन्य ग्रन्थकार। भारतीय आदर्श ऐसी भाव-विषमता के आवेश से पैदा हुए या नसो मे ज्वार-उभार पैदा करने वाले साहित्य से सर्वथा भिन्न रहा है।

इस संग्रह की विशेषता

प्रस्तुत सग्रह मे जैनेन्द्र कुमार के सन् ३३ से सन् ५३ तक के बीस वर्षो के साहित्य-विषयक चिन्तन को एक स्थान पर एकत्र करने का यत्न किया गया है। यह साहित्यविषयक विचार कही सीधे लेखो में, कही पुस्तको की या लेखको की आलोचना के रूप में, कही प्रश्नोत्तर रूप में और कही पत्राशो में प्रकट हुए है। इन साहित्यविषयक विचारो में एक प्रकार की अन्विति है, एक निरतरता है, एक आग्रहशून्य आग्रह है। सहजता उनके विचार का उत्स है। वही उनके विचारो की ऋजुता और प्रवहमानता का आधार है और वही उनका साध्य भी है। कही कही साहित्य-समाक्षा के विद्यार्थी के लिए आदर्शवाद की, आशय नैतिकता की, सौदर्यदृष्टि पर विजय सी जान पड सकती है। परतु अन्तत उस में मानव-कल्याण की, लोकमगल की, भावना स्पष्टत ध्वनित होती है।

आशा है कि जैनेन्द्र जी के साहित्य-विषयक इन विचारोत्तेजक, गभीर और मूलग्राही लेखो का समुचित स्वागत होगा, उन पर वाद-विवाद चलेगा और अन्तत हम साहित्य के सही मूल्याकन मे सहायक सही दृष्टि कुछ अश तक पा सकेंगे।

नई दिल्ली
२०–२–५३

—प्रभाकर माचवे

: १ :

मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय

रेडियो की यह माग कि म अप। साहित्य का श्रेय बताऊ और प्रेय बताऊ, मुझे कुछ हैरान करती है। इसलिए पहले यह खयाल था कि इस सवाल का जवाब देने का जिम्मा न उठाऊगा और बात टाल छोड़ूगा। कह दूगा कि जो मेरे नाम पर छपा हुआ मिलता है उस पर पढने वालो का पूरा हक है, मेरा हक नही है, और इस तरह के सवाल मुझे छोड कर पाठको से करने चाहिए। लिखकर मै तो उससे बरी हो गया हू और वह माल दूसरो के कब्जे का है, यानी मेरे सिवा सब का है।

लेकिन, सच यह कि उस सवाल ने मुझे खीचा भी है। इसलिए नही कि सचमुच अपनी तरफ से कोई खास श्रेय डाल कर लिखाई का काम मैने किया है, बल्कि इसलिए कि उससे मेरे लिए अपने को टटोलने की जरूरत पैदा होती है।

जवाब देते वक्त सवाल के प्रेय शब्द को मै टाले दे रहा हू। आखो को अच्छा लगे वह प्रेय, इस तरह प्रेय रूप होता है। लेकिन विवेक रूप को नही देखता, गुण को देखता है। या कहे कि गुण की अपेक्षा में रूप को देखता है। इस तरह लिखने के मामले मे प्रेय का मै अविश्वासी हू। यह नही कि आखें रूप पर नही जाती, पर साथ ही चाहता हू कि मन रूप पर न जाए। लेखक की हैसियत से, इसलिए, मैने रूप पर जाने वाली आखो को, जहाँ तक बस चला है, बहकने नही दिया है। यानी मेरी रचनाओ में सुन्दरता नही है। आकृति और रूप का वर्णन मेरी कलम में नही उतरा है। कही भूले-भटके यदि वह मिल जाता है तो मेरी ओर से साथ-साथ व्यग का इशारा भी वहाँ गया है। रूप मुसीबत है—उसके

लिए तो पहले कि जिसमे है, फिर उसके लिए भी कि जो उस पर रीझता है। रूप इस तरह छल है। एक ओर मान के साथ मिला हुआ है तो दूसरी ओर कामना के साथ। अपने अन्दर की कामना बाहर रूप की सृष्टि कर दिखाती है। अध्यापक के लिए जो लडकी निकम्मी है, प्रेमी के लिए वही अप्सरा है। इसे आखो का ही फर्क कहना चाहिए। इसलिए रूप तो देखने वाले की आखो मे है, वैसे वह कही नही है। इस तरह प्रेय को तो मै छोड कर ही चलना चाहता हू।

छोड़ने का मतलब कुछ और आप न ले जाय। शरीर, इन्द्रिय और मन समेत हम चलते और चल सकते है, तो प्रेय के ही पीछे। भगवान् या आदर्श या सत्य कितना भी कुछ हो, हमारी लगन ही उससे नही लग गई है, यानी प्रियतम भी अगर वह हमारे लिए नही हो गया है, तो वह हमारे अन्दर किसी भूले कोने में ही पडा रहेगा। तब देखेंगे कि नाम जब हम राम का ले रहे है, तब ध्यान रूपसी का कर रहे है। राम की ओट में काम अन्दर से झाक रहा है। इसलिए और किसी को चाहे छुट्टी रहे, जीवन से प्रेय को तो छुट्टी मिल नही सकती। फिर भी प्रेय है छल। आख के आगे की तस्वीर हर घडी अदलती-बदलती है, तभी आख अपना काम करती है। चचल न हो, वह आख नही। सो ही रूप का हाल है।

इस उलझन का एक ही उपाय है। वह यह कि प्रेय तो रहे, पर श्रेय से दूर न रहे। अर्थात् बाहर की बन्द कर अन्दर की आख से, जिसे विवेक कहते है, हम देखें और बाहर की आख को कहें, यानी बराबर इसके लिए साधते रहे, कि दीखने वाले रूप को भी वह उससे अन्यत्र कही न देखे।

आखिर निर्गुण भगवान् को इसीसे तो मनुष्य के निकट आकर सगुण बनना होता है। यह मै नही मान सकता कि यथार्थ में राम और कृष्ण कामदेव से कुछ भी न्यून न रहे होगे। फिर भी भगवान् को जब राम और कृष्ण मे हमने देखा, तो क्या अपने बस का सुन्दर से सुन्दर

रूप हमने उन प्रतीको मे नही ला उतारा। इस तरह वे परम-पुरुष रूब की ओर से भी भुवन-मोहन बन गए।

इसी से कहना होगा कि सत्य से सुन्दर कुछ है ही नही। सूरज से धूप मिलती है, धूप मे क्या रूप है ? जो है, वह आख के वस का नही है, इतना धौला है। पर क्या उसीकी कुछ किरणो मे से सतरगी इन्द्र-धनुष हमको नही प्राप्त होता ? बालक धूप का आदी है, लेकिन आस-मान मे सतरगी धनुष को खिचा देख कर वह एकाएक किलकारी मार उठता है। देखते-देखते वह धनुष मिट जाता है और वह विचारा आस लगाता है कि कब वही बाकी सतरगी कमान फिर देखने को मिलेगी। मानो, उसके आनन्द के निकट दुनिया उस धनुष के कारण ही सच हो, अन्यथा सब फीका हो और व्यर्थ।

मानना होगा कि हमारी आखें क्योंकि रूप पर खुलती है, इसलिए, अगर कोई सत्य हो तो उसे हमारे सामने रूपवान् होकर ही आने का साहस करना चाहिए। और सचमुच साहित्य इसका ध्यान रखता है। आदमी की इस पहली असमर्थता का ध्यान न रख कर चलने वाले दार्शनिक जीवनभर सत्य तत्व खोजते और शब्दो मे उन्हे गूथ कर बखेर जाते है। पर कोई उन्हे लूटने नही लपकता। सुन्दर नही है, सच पूछिए तो, उपयोगी सत्य वही है। पर सत्य के उपयोग से बिरलो को काम। पहली आवश्यकता लोगो की है, प्रेम, और रूप मे अन्धे होकर प्रेम कैसे हो। मै मानता हू कि साहित्य सत्य के प्रति मनुष्य मे वही अनन्य प्रेम उत्पन्न करता है, और वह अनजाने तौर पर, क्योकि जिस प्रेय को वह पाठक की रागात्मक वृत्तियो के आगे प्रत्यक्ष कर उठाता है, वह फिर उत्तरोत्तर शिव और सत्य के सिवा कुछ दूसरा है ही नही।

इस जगह आकर मान लेता हू कि प्रेय से मेरी छुट्टी हुई, क्योकि वह सरक कर श्रेय मे मिल गया और स्वय से खो गया।

तो, श्रेय की जहा तक बात है, मै स्वार्थ से चलना चाहता हू। तब

मेरे साहित्य मे क्या श्रेय है जो पाठक को देने का कष्ट मै करता हू, यह प्रश्न ही इस रूप मे नही रहता। जरूर, अगर साहित्य मे श्रेय होगा तो पहले लिखने वाले का होगा। पढने वाले को इस मामले मे अनिवार्य पीछे रहना होगा। अपने लिखने का पहला लाभ मुझे मिलेगा और मै लूगा। उसके बाद पाठक को भी अगर कुछ मिलता होगा तो उसकी कैफियत वह देगा। मै तो उसे यही कहूगा कि वह मेरा कृतज्ञ न हो। इस तरह मेरी रचना से उसे मिलने वाला लाभ तो उच्छिष्ट ही है। इसमे पूछिए तो कृतज्ञ होने के कारण मेरे ही पास है।

साराश, मै स्वान्त.सुखाय पर अटकने को तैयार हू। लोकहिताय तक न भी जाऊ तो भी कोई हानि नही देखता।

तो, अपने श्रेय के लिए मै अपनी आपबीती पर जाऊगा। लिखना शुरू हुआ तब मेरी बुरी हालत थी। अन्दर से बुरी, पर बाहर से और भी बुरी। उमर काफी, करने को कुछ नही, पूछने को कोई नही, अकेला, अविश्वस्त और असमर्थ। अकेला मै, अकेली मा। आयु मे वृद्धा होती जाती हुई मा को लेकर अपनी असमर्थता और अपात्रता पर मै बेहद अपने मे डूबता जाता था। इस हालत मे सोच होता कि दुनिया में तू एकदम अनावश्यक है। फिर धरती का बोझ क्यो बढाता है ? हर पल को बोझ के मानिद तुझे ढोना पड रहा है। चल, काल से छुटकारा ले और दुनिया को छुटकारा दे। पर यह खयाल पूरा नही हो सका। क्योकि मा की ओर से ऐसा लग आता था कि शायद मेरी भी आवश्यकता है, मा के लिए मुझे मरना नही है। पर जीना कैसे है, यह भी सोच न मिलता था। ऐसी बेबसी मे मैने लिखा और उस लिखने ने मुझे जीता रखा।

जानता हू, तरह-तरह की थियरीज है। एक अरुचि और व्यग्य का शब्द है एसकेपिज्म। अनुवाद से हिन्दी में उसे बनाया गया है—पलायन-वाद। मेरे अपने मामले में लिखना मेरे लिए शुद्ध इस्केप और [illegible]ायन था।

इसलिए पहला श्रेय मेरे साहित्य का यह हुआ कि उसने मेरी रक्षा की। मै बचकर उसमे शरण ले सका, उसने मुझे जिलाया। अपने भीतर की आत्म-ग्लानि, हीन-भावनाए और उनमे लिपटी हुई स्वप्नाकाक्षाए—इस सबको कागज पर निकाल कर जैसे मैने स्वास्थ्य का लाभ किया। जो मेरे अन्दर घुट रहा और मुझे घोट रहा था, उसी को बाहर निकालने की पद्धति से देखा कि मै उससे मुक्ति पा रहा हू। उसके नीचे न रह कर उसके ऊपर आ रहा हू। जो कमजोरी थी और मुझे कमजोर कर रही थी उसी को स्वीकार कर लेकर, और रूप और आकार पहना देकर, मै अ-कमजोर—क्या मजबूत ?—बन रहा हू।

इस अनुभव मे से मै कहूगा कि साहित्य का पहला श्रेय है जीवन का लाभ। अपनी अंतरगता की स्वीकृति और प्राप्ति, अपने भीतर के विग्रह की शाति, उलझन की समाप्ति और व्यक्तित्व की उत्तरोत्तर एकत्रितता।

शुरू मे जो लिखा वह उन दबी हुई भावनाओ का रूपक था जो स्थिति की हीनता से कल्पना की सुरक्षितता मे अपना बसेरा बसा-फैलाकर फलती-फूलती है। कुछ कहानिया बनी जिनमें मै जो खुद न बन सकता था वह कहानियो के नायको के ज़रिये बन गया। मै भीरु था, लेकिन कहानी लिखी गई जिसका डाकू सरदार बडा दिलेर था। और उसका शीर्षक हुआ परीक्षा, मानो परीक्षा मेरी थी। फिर पीछे तो शायद प्रकाशक ने बेचने की तदबीर मे उस परीक्षा को फासी बना दिया। देशप्रेम के शब्द से हवा उन दिनो भरी थी और मै घर मे बैठा किकर्तव्यविमूढता मे ऊबा करता था। सो, कहानी लिखी गई देशप्रेम और उसमे दो प्रतापी पुरुष मूर्त हुए। एक उनमें वाक्शूर थे, दूसरे कर्मवीर। इसी सपाटे में मुझ अकर्मण्य ने स्पर्धा करके एक कहानी लिख डाली जो सचमुच ही स्पर्धा बन गई। जैनी होकर यहा चीटी न मरती थी, वहा कहानी में बम और तमचे वाले एक से एक बढ कर लोग खड़े हो आए।

बगाल ने क्रान्ति का मन्त्र फूका था । मुल्ला की दौड मसजिद तक तो होगी, मेरी तो घर से आगे तक न थी । शायद इसी से घर बैठे-बैठे मुझे बगाल लाघ कर इटली तक जाना पडा । वहा के मेजिनी को बख्श दिया, यह बहुत समझिए । नही तो गेरीबॉल्डी को मेरी कलम की नोक पर आना पडा और कहानी में वही करना पडा जो मैने चाहा ।

इन कहानियो के लिखने ने मुझ मास तोडते को मास दी । अब सुनता हू, एक यथार्थवाद होता है, जिसके मुकाबले मे दूसरा आदर्शवाद होता है । यथार्थ से मै क्या खीच सकता था ? तीस रुपए की नौकरी भी मै उसमें से नही खीच सका था । तब जहा से यह तीन कहानी खीच लाया और खीचकर उनके जोर से थोडा कुछ जी पाया, उस जगह का नाम जो भी कोई दे, पर उससे उऋण मै कैसे हो सकता हू । उससे टूट भी कैसे सकता हू । यथार्थ अगर वह नही है तो मेरे लिए यथार्थ की आवश्यकता भी नही है । इसी तरह आदर्श को भी उससे अलग मै लेना या जानना नही चाहता ।

हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है । मैला उसमे है, धौला उसमे है । उस सबको स्वीकार करके शनै शनै उसे बाहर निकालकर अपने को रिक्त करते जाना— मेरे खयाल मे यह बडा काम है । इससे अलग सर्जन क्या होता होगा, वह मै जानता नही हू ।

यह तो कहानी लिखने मे से आया । फिर उस कहानी के छपने मे से आया, वह भी श्रेय के जमा खाते मे है । अपनी दर्पण मे तस्वीर देखते है, तब अपनापन हमपर खुलता है । छपने से यह हुआ । लिखा हुआ मेरा अग था, छपा हुआ सबका हो गया । इस लिए वह एक स्वत्व और सम्पत्ति बन गया । करिश्मा यह हुआ कि मेरी तरफ से कहानी गई और दूसरी तरफ से एक मनीआर्डर चला आया । मानता हू कि तीन में से दो कहानिया पहली बार द्रव्य की भाषा मे कुछ लौटाकर नही लाईं । पर तीसरी ने जाकर वहा से जो मनीआर्डर चला दिया, सो एक बहुत ही

विलक्षरण बात हुई । इससे आत्मिक से अलग कुछ शारीरिक, या कि कहना चाहिए, ऐन्द्रियिक स्वास्थ्य मिला।

इसी पहले दौर में एक कहानी जो ले कर बैठा कि अटक गया। देखा कि मन मे काफी विकल्प उपज रहे है और ताना बाना फैलता जा रहा है। इस से तो मै डर गया । छापे मे छह-सात-आठ पृष्ठो मे चीज आ जाए तो ठीक है, पर यह वला तो उतने मे समाने वाली नही दीखती। इस उलझन मे पडकर तीन चार सफ लिखे हुए दूर हटा फेके। पर कुछ और करने को न था और लिखने से मिली ताजगी तीन-चार दिन मे चुक कर खतम हो गई थी। फिर वही मुर्झाहट। सोचू कि लिखू तो वही पुरानी उधेडबुन के तार दिमाग में जाग जाए। आखिर टालता कब तक ? इस तरह उस कहानी को लिखे चला गया, तो बन गई परख।

परख मे क्या श्रेय है और क्या प्रेय है—इस के उत्तर मे मुझे निश्चय है कि साहित्य का अध्यापक और विद्यार्थी अत्यन्त प्रामाणिक रूप में बहुत कुछ कह सकेगा। पर मै इतना जानता हू कि उसके सत्यधन की व्यर्थता मेरी है और बिहारी की सफलता मेरी भावनाओ की है। और, कट्टो वह है जिस ने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मै अपनी समस्त भावनाओ का वरदान देना चाहता था। यानी यथार्थता की धरती से उठ कर, उन सब चित्रो में जिन्हो ने मिलकर परख की कथा को रूप दिया, मेरी भावनाए और धारणाए ही अनायास भाव से बुनती गई है।

इस ऊपर की बात से मेरा यह मतलब ह कि व्यक्ति को सीधे अपने जीवन में मिलने वाला जो लाभ है वह साहित्य का पहला श्रेय है। शायद उसको व्यक्तित्व लाभ ही कहना चाहिए। यानी लिखने के द्वारा मैने क्या श्रेय देना चाहा है, यह दूसरे नम्बर की और गौरण बात है। उस लेखन द्वारा, नाना चरित्रो की अवतारणाओ मे से, मैने अपनी निजता में किन परिणतियो का उपभोग किया है, वही प्रथम और प्रमुख बात है।

लेखक देने के लिए कुछ दे सकता है, यह मेरी समझ मे नही

आता। पडौस का हलवाई तय कर सकता है कि आज मुझे यह इतना और वह उतना बनाना है, पर कोई दरख्त भी क्या यह सोच सकता है कि सेब नही उसे अपने ऊपर अनार उगाना है ? जो स्वय मे है उस के सिवा फल मे कुछ और होगा ही कैसे ? इसलिए सेव यह भी नही सोच सकता कि उसे सेब का फल देना है ।

यह नही कि लेखक पेड है। पर निश्चय लेखक हलवाई नही है। यानी अपने साहित्य द्वारा वह कुछ इष्ट, कुछ श्रेय या आदर्श की प्रतिष्ठा करना चाहता हो तो यह उसके कर्म से असगत बात नही है, लेकिन, फिर वह इष्ट या उद्दिष्ट उसके लिए बौद्धिक प्रतिपादन का विषय नही रह जाएगा। अर्थात् भावना से अलग धारणा मे, या कि वासना से अलग भावना में उसकी स्थिति नही है । समूची मानसिकता में उसको रमा और समाया हुआ होना चाहिए।

अपने साहित्य में कुछ मैने शब्द के द्वारा कहा है, कुछ चित्र के द्वारा व्यक्त किया है । चित्रात्मक यानी कथा साहित्य । वहा आप तो कुछ कहते नही, कथा के पात्र ही कहते-सुनते है । फिर उनकी बातें उनकी अपनी प्रकृति और कथा की परिस्थिति से बनती है । कोई परस्पर की अनुकूलता होना उनमें जरूरी नही है, बल्कि प्रतिकूलता और अन्तर्विरोध भी उनमे हो सकते है । मुझे यह भी लगता है कि एक कथा की, पात्र की, या व्यक्तित्व की निजता में जितना गहरा और गभीर विरोध समा सकता है उतना ही उसका महत्त्व है। फिर कथा के किस पात्र या पात्र के किस वाक्य और समूची वस्तु के किस पहलू मे उस मन्तव्य को देखा जाए जिसको श्रेय समझकर लेखक ने कलम उठाई है ?—स्पष्ट ही इस निर्धारण का काम मुश्किल है और जोखम से भरा है।

असल में तो एक कहानी से या पुस्तक से कुल मिलाकर एक प्रभाव पडना चाहिए। उस प्रभाव की एकता में नाना तत्त्वो की अनेकता तो

रहेगी ही। किंतु उन तत्त्वो के नानात्व में रचना के श्रेय को भी नानाविध नहीं देखना होगा।

सीधा शब्दो द्वारा जो कहा गया वह निबन्ध साहित्य तो, मै मानता हू, मुझे पाठक के हाथो पकडाई में दे ही देता है। कथा मे लक्षरणा, व्यजना और व्यग का सहारा हो और उमके बारे में द्विविधा भी होती हो, पर निबन्धो मे तो काफी प्रत्यक्ष और स्थूल रूप से मैने अपनी धाररणा के श्रेय को खोला और बताया है।

यहा याद आता है कि मैने एक बार स्वर्गीय प्रेमचन्द से पूछा था कि बताइए अपने सारे लिखने मे आपने क्या कहा और क्या चाहा है ? उन्होने बिना देर लगाए उत्तर दिया धन की दुश्मनी।

मै अपने से वही पूछू तो उत्तर मिले बुद्धि की दुश्मनी।

जानता हू प्रेमचन्द को धन प्यारा था, और बुद्धि को किसी मोल मैं नही छोड सकता हू। लेकिन मेरे अन्दर सबसे गहरे में यह प्रतीति है कि बुद्धि भरमाती है। अक्सर वह श्रद्धा को खाती है। इद्रियो की तरह बुद्धि भी पदार्थ के लिए है। जगत् के और पदार्थ के साथ निबटना ही उसका क्षेत्र है। शेष में उसे पूरी तरह श्रद्धा के अकुश मे रहकर चलना होगा।

तो, एक तरह से या दूसरी तरह से, सीधे या टेढे, उघडी कि लिपटी, वही-वही बात मैने कहनी और देनी चाही है।

बुद्धि द्वैत पर चलती है। इसलिए मेरे साहित्य का परम श्रेय तो हो रहता है अखंड और अद्वैत सत्य। उसी का व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकपा यानी अहिसा।

: २ .

साहित्य क्या है ?

साहित्य की सृष्टि और साहित्य की आधुनिक प्रगति पर आलोचनात्मक विचार आरभ करे, इससे पहले अच्छा होगा कि उस बारे की अपनी जानकारी को हम स्पष्ट कर ले ।

साहित्य क्या है ? यह प्रश्न उठाकर हम आशा न करें कि उत्तर में वह परिभाषा पा सकेगे जो प्रश्न के चारो खूँट घेर ले । परिभाषा का यह काम नही है । परिभाषा सहायक होती है, वह प्रश्नवाचक चिह्न को सर्वथा मिटा नही देती । परिभाषा द्वारा प्रश्नवाचक चिह्न को मिटा देने का यत्न हमे नही करना चाहिए । यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सब प्रकार के ज्ञान के आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है । हमारा कर्तव्य है कि हम इस चिह्न को ठेलकर आगे से आगे बढाते रहे । पर यह भी हम करें कि उसे अपनी आँखो की ओट कभी न होने दें । जब ऐसा होता है तभी आदमी मे कट्टर आग्रह और हठधर्मिता आती है और उसका विकास रुक जाता है ।

इस तरह एक परिभाषा बनाएँ और उससे काम निकालकर सदा दूसरी बनाने को तैयार रहे । यह प्रगतिशील जीवन का लक्षण है और प्रगतिशील, अनुभूतिशील, जीवन का लिपिबद्ध व्यक्तीकरण साहित्य है । इसी को यो कहे कि मनुष्य का और मनुष्य-जाति का भाषा-बद्ध या अक्षर-बद्ध ज्ञान साहित्य है ।

प्राणी मे जब नव्यबोध का उदय हुआ तभी उसमे यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि 'यह मै हूँ' और 'यह शेष सब दुनिया है ।' यह दुनिया बहुत बडी है, इसका आर-पार नही है,—और मै अकेला हूँ । यह अनन्त

है,—मै सीमित हूँ, क्षुद्र हूँ । सूरज धूप फेंकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे बहा ले जायगा और डुबा देगा, ये जानवर चारो ओर 'खाऊँ खाऊँ' कर रहे है, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर, मै भी हूँ और जीना चाहता हूँ ।

बोधोदय के साथ ही प्राणी ने शेष विश्व के प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रह की वृत्ति अपने मे अनुभव की । उसमे हुआ कि इससे टक्कर लेकर मै जीऊँगा, इसको मारकर खा लूँगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है । यह और भी जो कुछ है, सब मेरे जीवन को पुष्ट करेगा ।

बोध के साथ ही यह चुनौती, यह स्पर्द्धा मनुष्य मे जागी । यह था अहकार । किन्तु अहकार अपने में ही टिक नही सकता । अहकार भी एक सम्बन्ध था जो क्षुद्र ने विराट् के प्रति स्थापित किया । विराट् के अवबोध से क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्र ने कहा, 'ओह, मै मै हूँ और यह सब मेरे लिए है ।'

इसी ढग से क्षुद्र ने अपना जीवन सम्भव बनाया ।

आदमी ने चकमक के दो टुकडो को रगड कर अग्नि पैदा की । पर उसने यह नही कहा, 'चकमक के टुकडो को रगडा इससे आग पैदा हुई है ।' उसने नही कहा, 'देखो, मै इस तरह आग पैदा कर लेता हूँ ।' उसने माना, अग्नि देवता प्रसन्न हुए है । उन्ही का प्रसाद है कि यह स्फुलिग उसे प्राप्त हुआ है । चकमक की रगड तो प्रसाद-प्राप्ति के लिए निमित्तमात्र साधन है ।

आज दियासलाई जलाकर हमने आग पाई और एक फार्मूला (=सूत्र) प्रस्तुत किया कि अमुक रसायन-तत्त्वो से बनी दियासलाई को अमक मसाले से रगडने पर अवश्य अग्नि प्राप्त होगी । उस फार्मूले के सहारे से हमने देवता का निर्वासन कर दिया और अग्नि हमारी चेरी होकर रह गई ।

यह फार्मूला-बद्ध धारणा स्पष्ट, निश्चित, और कदाचित् अधिक तथ्यमय अवश्य है, किन्तु अनुभूतिसूचक नही है । इस धारणा से हमारे चित्त के किसी भाव को तृप्ति नही प्राप्त होती ।

अधिकाधिक अनुभूति-सचय और अवबोध-वृद्वि के बाद मनुष्य ने अपने को ज्ञाता अनुभव करना आरम्भ किया । उसने अपने को पदार्थो से और पदार्थो को अपने से एक बार अलग करके फिर उन्हे बुद्धि के मार्ग द्वारा अपने निकट लाने की चेष्टा की ।

हम कह चुके है कि मानव अपनी सब चेष्टाओ, सब प्रयत्नो और सब प्रपचो द्वारा जाने-अनजाने एक ही सिद्धि की ओर बढ रहा है । और वह सिद्धि है,—अपने को विश्व के साथ एकाकार कर देना और विश्व को अपने भीतर प्रतिफलित देख लेना । बुद्धि के उपयोग द्वारा भी वह इसी अभेद-अनुभूति तक पहुँचना चाहता है । किन्तु मानव-बुद्धि उस तल की वस्तु है जहाँ का सत्य विभेद है, अभेद नही । वह अन्वय द्वारा चलती है, खण्ड-खण्ड कर के समग्र को समझती है । अहकार उसकी भूमिका है और ज्ञेय का पार्थक्य उसकी शर्त ।

किन्तु जीवन की इस सम्भावना मे ही विराट् और क्षुद्र, अनन्त और सात का अभेद सम्पन्न होता दीखा । वह अभेद सहज ही यह कि जो कुछ है वह अपने में न-हो तो क्षुद्र क्यो, वह तो विराट् का अग है, उसका अवयव है, अतः स्वय विराट् है ।

धूप चमकी, तो वृक्ष ने मनुष्य से कहा, 'मेरी छाया मे आ जाओ ।' बादलो से पानी बरसा, तो पर्वत ने कदरा में सूखा स्थल प्रस्तुत किया और मानो कहा, 'डरो मत, यह मेरी गोद तो है ।' प्यास लगी, तो झरने के जल ने अपने को पेश किया । मनुष्य का चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनी पर से खिले गुलाब ने कहा, 'भाई मुझे देखो, दुनिया खिलने के लिए है ।' साँझ की बेला में मनुष्य को कुछ

भीनी-सी याद आई, और आम के पेड पर से कोयल बोल उठी, 'कू—ऊ, कू—ऊ।' मिट्टी ने कहा, 'मुझे खोद कर, ठोक-पीट कर, घर बनाओ, मै तुम्हारी रक्षा करूँगी।' धूप ने कहा, 'सर्दी लगेगी तो सेवा के लिए मै हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबराओ मत, मुझ मे नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'

मनुष्य-प्राणी ने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है।

फिर भी, धूप को वह समझ न सका। वर्षा के जल को, मिट्टी को, फूल को—किसी को भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे सब आत्म-समर्पण के लिए तैयार नही है ? फिर भी उस क्षुद्र ने अहकार के साथ कहा, 'ठहरो, मै तुम सबको देख लूँगा। मै 'मैं' हूँ और मै जीऊँगा।'

इस प्रकार अहकार को टेक बनाकर, अपने को ह्रस्व और सब से पृथक् करके वह जीने लगा। अर्थात् सब प्रकार की समस्याएँ खडी करके उनके बीच मे उलझा हुआ वह रहने लगा। विश्व के साथ विभेदवृत्ति ही, उसके जीने की शर्त बन कर, उसके भीतर अपने को चरितार्थ करने लगी।

पर इस जीवन मे एक अतृप्ति बनी रही जो विश्व के साथ मानो अभेद की अनुभूति पाने की भूखी थी। अहंकार से घिर कर अपने क्षुद्रत्व के अवबोध से वह त्रस्त हुआ, त्यो ही विराट् से एक होकर अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की व्यग्रता उसमे उत्पन्न हुई। इस व्यग्रता को वह भाँति-भाँति से शान्त करने लगा। यही से धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान,—सब उत्पन्न हुए।

अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया। एक आदर्श था तो दूसरा व्यवहार। एक भविष्य था तो दूसरा वर्तमान।—इन्ही दोनों के सघर्ष और समन्वय में से मनुष्य प्राणी के जीवन का इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्र के और विश्व के साथ और इस तरह स्वय अपने साथ जो एक सुन्दर समजसता, समरसता, समस्वरता (=Harmony) स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य-जाति की समस्त सगृहीत निधि की मूल । अर्थात् मनुष्य के लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूप मे उसी एक सत्य-चेष्टा का प्रतिफल है। इस प्रक्रिया मे मनुष्य जाति ने नाना भाँति की अनुभूतियो का भोग किया है। सफलता की, विफलता की, क्रिया की, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय, भीति, आह्लाद, घृणा, और प्रेम—सब भाँति की अनुभूतियाँ जाति के शरीर ने और इतिहास ने भोगी, और वे जाति के जीवन और भवितव्य मे मिल गई। भाँति-भाँति से मनुष्य ने उन्हें अपनाया और व्यक्त किया। मदिर बने, तीर्थ बने, घाट बने—शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गये, स्तम्भ खडे हुए, मूर्तियाँ बनी और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्य ने अपने हृदय के भीतर विश्व को यथा-साध्य खीच कर जो-जो अनुभूतियाँ पाई,—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एव भाषा आदि का उपादान ले उन्हे ही वस्तु-तथ्य में ढाल कर रख जाने की उसने चेष्टा की। परिणाम में हमारे पास ग्रन्थो का अटूट-अतोल सग्रह है, और जाने क्या-क्या नही है।

मानव जाति की इस अनन्त निधि मे जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है। और भी अक्षराकित रूप में जो अनुभूति-सचय विश्व को प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

: ३ :

विज्ञान और साहित्य

ज्ञान की प्राथमिक अवस्था मे मनुष्य के निकट स्वप्न और सत्य में अधिक भेद न था । जो उसने सपने में देखा, जो कल्पना की, उसे ही सच मान लिया । और जिसको आजकल हम वास्तव कह कर चीन्हते है,—पत्थर, धातु, आदमी, समाज, सरकार,—ये सब-कुछ उसके लिए उतना ही अनिर्दिष्ट अथवा सशयास्पद था जितना कि उसका स्वप्न ।

आँख खोलते ही उसने देखा,—सूरज है जो चमकता है । उसने तुरन्त कहा, 'सूरज बडा कान्तिमान् देवता है ।' उसने और भी देखा कि सूरज पूरब मे उगता और पच्छिम मे डूबता है, इस तरह चलता भी है,—उसने कहा ' सूरज देवता के रथ में सात घोडे है जो उसे तेजी से खीचते हैं ।' यो आदिम मनुष्य ने जब सूर्य को देखा तब उसे आह्लाद हुआ, विस्मय हुआ, भक्ति हुई और सूरज के सम्बन्ध में उसने जो धारणा बनाई उसमे ये सब भाव किसी न किसी प्रकार प्रगट हुए। सूर्य उसके निकट एक पदार्थमात्र न रहा जो बोधगम्य ही हो, वह उस के निकट देवता बन गया।

आख मीचने पर उसने सपने देखे । देखा, वह पक्षी की तरह उड सकता है, मछली की तरह पानी मे तैर सकता है,—पल-भर में सागरो को वह पार कर गया, सागरो के पार हरियाली ही हरियाली है और वहाँ मीठी बयार चलती है । उसने झट से कहा,—'वह है स्वर्ग । वहाँ अत्यन्त स्वरूपवान् व्यक्ति बसते है, वहाँ दु ख है नही, प्रमोद ही प्रमोद है ।'

यह सपने का स्वर्ग उसके निकट वैसा ही वास्तव होकर रहा जैसा

आँखो से दीखने वाला सूरज। सूरज के प्रति उसने जल का तर्पण दिया तो इसी प्रकार अन्य देवताओ का समारोप करके उसने उनके प्रति अपने कृतज्ञ आह्लाद का ज्ञापन किया। देवताओ के नाम बने, मूर्तियाँ बनी, स्तवन बने। और यह देवता लोग उसके जीवन के साथ एकाकार होकर हिल-मिलकर रहने लगे।

इस प्राथमिक ज्ञान के उद्बोधन की अवस्था मे मनुष्य ने अपने को जब विश्व से अलहदा अनुभव किया तब उसके साथ भाँति-भाँति के रिश्ते भी कायम रक्खे। उन्मीलन की उस दशा मे उसका समस्त ज्ञान अनुभूति-सूचक ही रहा। विशुद्ध बौद्धिक ज्ञान, अर्थात् विज्ञान, बहुत पीछे जाकर उदय में आया।

नानी ने अपने नन्हे से बच्चे को चन्दा दिखाते हुए कहा, 'देखो बेटा, चन्दा मामा !'

बच्चे ने उसे सचमुच ही अपना मामा मान लिया। जब-जब उसने चाँद देखा, ताली बजाकर, नानी की उँगली पकड कर कहा, 'देखो नानी, चन्दा मामा !'

पर जब बच्चा बढकर बडा हुआ तब चाँद देखकर उसका ताली बजाना खत्म हो गया। चन्द्रमा देखकर किसी भी प्रकार के आह्लाद की प्राप्ति उसे नही होने लगी। आह्लाद कम होगया, उत्सुकता भी कम हुई, —पर उसकी जगह एक गम्भीर जिज्ञासा का भाव जाग उठा। उससे बडी उमर पाये हुए आदमी ने कहा—

'चन्दा मामा नही। मामा कहना तो मूर्खता है, निरा बचपन है। लाओ, टेलिस्कोप लगाकर देखे, चन्द्रमा क्या है ?'

चन्द्रमा में कुछ काला-काला सा दीखता है। हमारी कल्पना, जिस में आत्मीय भाव की शक्ति है, झट वहाँ तक दौड गई और उसने कहा —'वहाँ बैठी दादी अम्मा चर्खा कात रही है।' दूसरे ने ऐसे ही कुछ और

कह दिया । यह कह कर मानो हमने सचमुच कुछ तथ्य पा लिया है, ऐसी प्रसन्नता मन को हुई।

पर उमर वाले बालक ने फिर कहा, 'नही-नही, मेरे टेलिस्कोप में जो दीखेगा चाँद मे का काला-काला दाग वही है। जब तक साफ-साफ उसमें कुछ नही दीखता, तब तक कुछ मत कहो। यह तुम क्या चर्खे वाली बुढिया की वाहियात बात कहते हो!'

जब शनै शनै इस प्रकार विश्व को आत्मसात् करने की मानव की प्रक्रिया मे यह द्विविधा आ रही, उसी समय से मनुष्य के ज्ञान मे भी विभक्ति-करण हो चला। इससे पहले जो था सब साहित्य था। उस समय मनुष्य ज्ञाता और शेष विश्व ज्ञेय न था। वह भी विश्व का अश जैसा था। उसमें अहम् सर्वप्रधान होकर व्यक्त न हुआ था। प्रकृति सचेतन थी और जगत् विराट् लीलामय था। पच तत्त्व देवतारूप थे और भिन्न-भिन्न पदार्थ उनके प्रकाश-स्वरूप। तब व्यक्ति मानो विराट् की गोद में बैठा हुआ एक बालक था।

उस समय उसकी समस्त धारणाएँ अस्पष्ट थी अवश्य, पर अनिवार्य रूप में अनुभूतिसूचक थी, प्रसादमय थी।

जहाँ फिर बुद्धि प्रधान होकर आ रही, जहाँ उसने पदार्थ को उसके चारो ओर के सम्बन्धों से तोडकर, अपनी इयत्ता मे ही समझ लेने की चेष्टा की,—और जिसका परिणाम जीवन के रस और प्रीति से, इस प्रकार, अधिकाधिक विच्छिन्न होकर प्रगट हुआ कि जिस में, अन्ततः अनुभूति कम और यत्न अधिक व्यक्त हुआ, और जो आकिक, रेखाबद्ध और फार्मूला-बद्ध विद्या हो पडी,—वही वस्तु है विज्ञान।

मनुष्य के विकास-आरम्भ के पर्याप्त काल के अनन्तर विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। आदि में तो विज्ञानो को भी अनुभूति-मय रखने की चेष्टा रही। अर्थात् रूपको, कहानियो और श्लोको द्वारा उसे प्रकट किया

गया। बहुत पीछे जाकर उसे व्यवस्था-बद्ध विज्ञान का वह रूप मिला जो जीवन की मौलिक आवश्यकता से विच्छिन्न हो गया।

इसके विरोध में जब मानव ने अपने व्यक्तित्व के पूरे जोर से विश्व मे अपनाजाने की चेष्टा को शब्दो मे व्यक्त किया,—जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ लगभग स्रष्टा ज्ञाता है ही नही वरन् वह अपनी सृष्टि से तदाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजन का है जानने का नही, जहाँ स्रष्टा और सृष्टि की एकता है,—वह है साहित्य।

इस तरह विज्ञान प्रथमावस्था मे साहित्य है।

और अपनी अन्तिम अवस्था में भी कि जब वह केवल बुद्धि का व्यापार नही है, प्रत्युत वह सर्वथा प्रसादमय, रहस्यशील और मानो ईश्वराभिमुख है, वह साहित्य है।

कहा गया है, जानना परिणति ही पाना है—Knowing is becoming। जहाँ जानने का स्वरूप यह आत्म-परिणति है, जहाँ ज्ञान धारणागत से अधिक अनुभूत होता है, मानो जहा प्राण स्पन्दन में उसका अधिष्ठान है,—वहाँ विज्ञान शुद्ध ज्ञान है और साहित्य भी शुद्ध ज्ञान है, अर्थात् एक विज्ञान है।

: ४ :

साहित्य और समाज

हिन्दी साहित्य मे अब जो नई शक्तियाँ आ रही है, उनमे बहु भाग को सामाजिक मान्यता प्राप्त नही है। कुछ काल पहले तक हमारा साहित्य उच्चवर्गीय था। उसके उत्पादक समाज के प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्ति थे। अब अधिकाश ऐसा नही रह गया है। जिनको समाज में पैर टेकने को कोई ठीक ठौर नही है, वे लोग भी आज लिखते है। इससे प्रश्न होता है कि समाज की और साहित्य की परस्पर क्या अपेक्षा है ?—क्या सम्बन्ध है ?

साहित्य अब अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है। पहले वह अपेक्षाकृत समाजगत था। समाज की नीति-अनीति की मान्यताओ की ज्यो की त्यो स्वीकृति साहित्य में प्रतिबिम्बित दीखती थी। अब उसी साहित्य में समाज की उन स्वीकृत और निर्णीत धारणाओ के प्रति व्यक्ति का विरोध और विद्रोह अधिक दिखाई पडता है। अत. यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि पहले दर्पण के तौर पर सामाजिक अवस्थाओ को अपने में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से धारण करनेवाली वस्तु थी तो अब वह कुछ ऐसा तत्व है जो समाज को प्रतिबिम्बित तो करे, पर चाटुता से अधिक उसे चोट दे, और इस भाति समाज को आगे बढाने का काम भी करे। साहित्य अब प्रेरक भी है। वह झलकाता ही नही, अब वह चलाता भी है। हमारी बीती ही उसमें नही, हमारे सकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे है।

जो समाज के प्रति विद्रोही है, समाज के नाति-धर्म की मर्यादाओ की रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेकर अपनी ही राह चल रहा है,

जो बहिष्कृत है और दण्डनीय है,—ऐसा आदमी भी साहित्य-सृजन के लिए आज एकदम अयोग्य नही ठहराया जा सकता। प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी है जो आज दुतकारे जाते है, पर अपनी अनोखी लगन और निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श भी मान लिए जाते है। वे लोग जो विश्व के साहित्याकाश मे द्युतिमान् नक्षत्रो की भाँति प्रकाशित है, बहुधा ऐसे थे जो आरम्भ मे तिरस्कृत रहे, पर अन्त मे उसी समाज द्वारा गौरवान्वित हुए। उन्होने अपने जीवन-विकास में समाज की लाञ्छना की वैसे ही परवा नही की, जैसे समाज की सम्मानना की। उनके कल्पनाशील हृदय ने अपने लिए एक आदर्श स्थापित कर लिया और बस वे उसकी ओर सीधी रेखा में बढते रहे। यह समाज का काम था कि उनकी अवज्ञा करे अथवा पूजा करे। उन व्यक्तियो ने अपना काम इतना ही रक्खा कि जो अपने भीतर हृद्गत लौ जलती हुई उन्होने पाई, उसको बुझने न दें और निरन्तर उसके प्रति होम होते रहे। समाज ने उन्हे आरम्भ मे दरिद्र रक्खा, अशिष्ट कहा, अनुत्तरदायी समझा, यातनायें तक दी, हसी उड़ाई,—यह सभी कुछ ठीक। किन्तु जो कल्याण-मार्ग उन्होने थामा, उसी पर वे लोग सबके प्रति आशीर्वाद से भरे ऐसे अविचल भाव से चलते रहे कि समाज को दीख पडा कि उनके साथ कोई सत्-शक्ति है,—जब कि समाज की अपनी मान्यताओ मे सुधार की आवश्यकता है।

ऐसे लोग पहिले तिरस्कृत हुए, फिर पूजित हुए। ससार के महा पुरुषो के चरितो में यही देखने मे आता है। समाज के साथ उनका नाता गुलामी का नही होता, नेतृत्व का होता है। वे अपनी राह चलते है। समाज उन पर हसता है, फिर उन्ही के उदाहरण से अपनी आगे की राह को प्रकाशित भी पाता है।

कर्तृ-भेद की अपेक्षा हमने साहित्य की प्रकृति में भेद चीन्हा। किन्तु गण-भेद से भी साहित्य में दो प्रकार देखे जा सकते है। एक वह जो

समाज की स्थिति के लिए आवश्यक है, दूसरा वह जो समाज को गति-शील बनाता है।

साहित्य दोनो प्रकार के प्रयोजनीय है। लेकिन यदि अधिक आवश्यक, अधिक सप्राण, अधिक साधनाशील और अधिक चिरस्थायी किसी को हम कहना ही चाहे, तो उस साहित्य को कहना होगा जो अपने ऊपर खतरे स्वीकार करता है, और, चाहे चाबुक की चोट से क्यो न हो, समाज को आगे बढाता है। वह साहित्य आदर्शप्राण होता है, भविष्यदर्शी होता है, चिरनूतन होता है,—किन्तु, ऐसा साहित्य सहज-मान्य नही होता।

समाज में दो तत्त्व काम करते हुए दीखते है। समाज के सब व्यक्ति न्यूनाधिक रूप मे इन्ही दोनो तत्त्वो के प्रतिनिधि समझे जा सकते है। एक सग्राहक है, दूसरा विकीरणक। एक समाहित, दूसरा सव्यक्तित्व। एक वह जो अपने भीतर ही अपने केन्द्र का अनुभव करता है, दूसरा वह जो अपने परिचालन के लिए अपने से बाहर देखने की अपेक्षा रखता है। एक गतिशील, दूसरा संवरणशील।

सामाजिक जीवन अथवा सामाजिक व्यक्ति इन्ही दोनो तत्त्वो के न्यूनाधिक अनुपात का सम्मिश्रण है। एक ओर गाँव का बनिया है जो दादा-परदादा के जमाने से अपनी नोन-तेल की दूकान पर बैठता है और लाखो रुपया जोडकर अपना कुनबा और अपनी जायदाद बढाने में लगा रहता है। दूसरी ओर वह है जिसे घरबार से मतलब नही, जहाँ ठौर मिला वही बसेरा डाला, व्याह की वात जिसे सुहाती तक नही,—चक्कर ही काटता डोलता रहता है। इस व्यवसायबद्ध (Stationary) और गतिशील (Dynamic),—दोनो प्रकार के जीवनो और व्यक्तियो का साहित्य मे समावेश है। दोनो मे से कोई उसके लिए अनुपयुक्त नही और कोई उसके लिए वर्ज्य नही

किन्तु समाज साहित्य की भाँति इतनी भावना-जीवी वस्तु नही है,

इसलिए, वह इतनी उदार और चिरजीवी वस्तु भी नही है। समाज व्यवसायशील तत्त्व के प्रति और उस तत्त्व के प्रतिनिधि व्यक्तियो के प्रति स्वीकृति विशेष है। दूसरे वर्ग के लिए समाज मे अवमानना और सघर्ष का भाव अधिक रहता है। अर्थात् समाज वैश्य-प्रधान है। फकीर उसकी दुनियादारी के लिए अनावश्यक है। वैश्य शासन की सत्ता को हाथ मे लेगा, फकीर केवल वैश्य की कृपा पर जीएगा। अगर फकीर वैश्य की कृपा को साभार स्वीकर नही करता तो वैश्य उसके लिए न्यायालय और जेलखाने खडे करेगा।

यह समाज की हालत है। पर वही समाज अपने साहित्य मे और आदर्श में उसी फकीर के गुण-गान करेगा! फकीर का आदर्श वैश्य के मन बहुत भाता है। फकीर अगर कुछ गडबड न करे तो उसे अपने घर में प्रतिष्ठा देकर वैश्य अपने परलोक की भी सुव्यवस्था कर लेगा। पर फकीर के रास्ते पर एक कदम चलने की बात भी अगर उसके नाती-पोतो के मुह से निकली तो फिर उनकी खैर नही!

दोनो तत्त्वो को अपने में समान रूप से धारण करनेवाला साहित्य एकागी जीवन वाले समाज से क्या अपेक्षा रक्खे? उससे क्या सम्बन्ध रक्खे?—इस प्रश्न का सीधा उत्तर नही दिया जा सकता। उत्तर यही बन सकता है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व की अपेक्षा ही उसका समाज के साथ सम्बन्ध निर्णीत होगा।

धातु का बना हुआ पैसा-रुपया-गिनी ठोस सत्य चीज है। जिनकी सत्य-कल्पना इस ठोस धातुमय तल से ऊँची नही उठती या गहरी नही जाती वे व्यक्ति यदि लिखेंगे तो उनकी रचनाओ का समाज के साथ सम्बन्ध स्वीकृति का, आज्ञाकारिता का अथवा अनुमोदना का होगा। यह भी हो सकता है कि ऊपर से उस साहित्य में समाज के लिए उगली हुई गालियाँ दिखाई दें, लेकिन, वे वैसी ही जली-कटी बाते होगी जैसे कोई रूठी और रिसियाई पत्नी खीझ मे अपने पति को कहती है। उन्ही

जली-भुनी बातो से पता चलता है कि वे समाज की कृपा के और उसके ध्यान के, अपेक्षा-चिंता के याचक है। जो पैसा चाहते है, जो पैसे के लिए जीते है, वे बडी मीठी-मीठी चीजे या बडी चरपरी चीजें लिखकर समाज को भेंट करते है। यह कौन नही जानता कि मिठाई बिकती है तो चरपरी चाट भी कुछ कम नही बिकती ? ऐसे साहित्य और साहित्यकारो का समाज के साथ सम्बन्ध उस दुकानदार जैसा है जो सबको ग्राहक के रूप मे देखना चाहता है, या उस पत्नी के ऐसा है जो जानती है कि पति के बिना उसका जीवन नही। इस साहित्य में तीखे-जले व्यग के तीर चाहे जितने हो, समाज की स्वीकृति प्रधान होती है। मनोरजन उस में अधिक होता है, तेजस्विता कम। प्लाट अधिक होता है, तथ्यान्वेषण कम। बनावट अधिक रहती है, गहराई कम। साहित्य के गोदाम मे अधिक माल इसी रकम का है, क्योकि समाज मे घरबार बनाकर छोटी-मोटी कमाई करके जीनेवाले लोग ही अधिक है।

पर फकीर कम है। वैसे फकीर जिनकी फकीरी दूकानदारी नही है। उन फकीरो का समाज के साथ सम्बन्ध क्या है ?—वे समाज के हितैषी है। वे समाज को गाली देना नही जानते, पर समाज की हाट से वे विमुख रह सकते है। अपने जीने के लिए वे समाज के इशारे की ओर नही देखते। वे लिखते है तो हितैषी के नाते लिखते है, और अपने धर्म-पालन के नाते लिखते है। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए, अर्थात् सत्य के उस रूप की प्रतिष्ठा के लिए जो उनके भीतर प्रतिष्ठित है कही बाहर नही, वे लिखते है। कहा जा सकता है, समाज के बाजार में डोरा डालने वाले लोगो के लिए वे नही लिखते। उनका समाज के साथ सम्बन्ध, उनकी ओर से कहा जा सकता है, निरपेक्ष सत् कामना का है, निष्काम हितैषिता का है। समाज की ओर से वही सम्बन्ध आरम्भ में उपेक्षा, लाछना, बहिष्कार का होता है, अन्त मे आदर और पूजा का।

साहित्य के अमर स्रष्टा के रूप मे, इस भाँति हम देखते है कि वे ही

लोग हमारे सामने आते है जिन्होने अपने को अपनी राह पर अपने आप चलाया। उन्होने यह कम चाहा कि लोग उन्हे अच्छा गिने । जैसे भी कुछ वे थे उसी रूप में उन्होने समाज के सामने अपने को प्रकट होने दिया। आज चाहे समाज उन्हें महत् पुरुष भी गिनना हो, लेकिन, चूकि समाज की नीति-धारणा बहुत धीमी चाल से विकसित होती है, इसलिए, समाज को बरबस उन्हे दुष्चरित्र और दु शील मानना पड जाता है। उनकी महत्ता के प्रकाश मे निस्सन्देह समाज-सम्मत धारणाओ में परिवर्तन होता रहता है। फिर भी, वे सहसा इतनी विकसित नही हो सकती कि हर प्रकार की महत्ता उनकी परिभाषा मे बँध जाय। यही कारण है कि आज जिस ईसा को दो-तिहाई दुनिया ईश्वरतुल्य मानती है, उसीको शूली चढाये बिना भी दुनिया से नही रहा जा सका। ईसा का दुनिया से क्या सम्बन्ध था ? वह त्राता था, उपदेष्टा था, सेवक था । दुनिया ने उसके साथ क्या सम्बन्ध बनाया ? उसे फासी दी और इस तरह अपनी व्यवस्था निष्कण्टक की। और अब दुनिया ने उसके साथ क्या सम्बन्ध बना रक्खा है ? दुनिया कहती है,—'वह प्रभु है, अवतार है !'

साहित्यकार, अर्थात् दूसरे प्रकार का साहित्यकार, वर्तमान से अधिक भविष्य में रहता है। दुनिया को खुश करने से अधिक दुनिया का कल्याण करना चाहता है। इसलिए वह दुनिया लाचार होती है कि उसको न समझे, उसकी उपेक्षा करे, या बहुत हो तो, उसकी पूजा करे,—उसका भय करे। दुनिया आस-पास से उसे समझ नही सकती, इससे ऐसे साहित्यकार का यह दुर्भाग्य होता है,—अथवा यही उसका सौभाग्य है—कि वह लौ की भाँति अपने आप में ही जलता चला जाय। वह दुनिया को खुश नही करना चाहता, रिझाना नही चाहता,—उसका भला करना चाहता है। पर दुनिया अपना भला क्यो चाहें ?—वह अपनी खुशी चाहती है।

अधिकतर साहित्यिक दुनिया को मनोरजन और विलास का सामान देते है। यह ऐन्द्रिय साहित्य है। पद्य साहित्य में लगभग अस्सी फी-सदी

साहित्य वैसा वैषयिक साहित्य है। अर्थात्, व्यसनशील साहित्य,—हल्के-से नशे और भुलावे मे डालने वाला साहित्य। इस प्रकार के साहित्य के लेखको का सम्बन्ध समाज के साथ स्वीकृति का है। वे समाज के अनुरजक है, समाज-जीवन के हमजोली है। समाज के हृदय की गहरी वेदना के साथ तादात्म्य पाने की चिन्ता और अवकाश उन्हें नही है।

अपने लिए दूसरी अस्पृहणीय स्थिति स्वीकार करके चलनेवाले दूसरे लोग है जो समाज को विलास का साधन, कोई सामयिक रतिभाव देने की ओर प्रवृत्त नही होते। वे समाज के रुख की ओर नही देखते, उसके रोग की ओर देखते है। वे अत्यन्त नम्र है, पर कठोर भी। वर्तमान को अपने स्वप्न के रङ्गो मे रङ्गा हुआ देखना चाहते हैं। उनका समाज के साथ सम्बन्ध स्वीकृति का नही होता, अहम्मन्य अस्वीकृति का भी नही होता, —मानो वह निष्काम एव हितकाम होता है।

इस तरह एक साहित्य वह है जिसे समाज की मज़े की मॉग बनाती है। दूसरा साहित्य वह है जो समाज के भावी-दर्शन के लिए सृष्ट होता है। पहले प्रकार के साहित्य में समाज स्वाद लेता है, प्रसन्न होता है,—उसे उस मे चाव होता है। दूसरा समाज को शुरू मे कुछ फीका, कठिन, गरिष्ठ मालूम होता है, पर उसीको फिर वह औषध के रूप में स्वीकार करता है। उसी भाति, साहित्यकार है जो समाज मे सम्पन्न दीखते है, और साहित्यकार है जो समाज से दूर बहिष्कृत दीखते है।

समाज का और साहित्य का आरम्भ से ऐसा ही सम्बन्ध चला आता है। हम नही समझते, कभी वह कुछ और हो सकेगा।

: ५ .

कला क्या है

कुछ बाते मुझे जल्दी मे कहना है । क्योंकि जब मुझे अवकाश और स्थिरता हो तब मै इन बातो मे नही पडूगा । उस समय तो चुप रहना मुझे अधिक प्रिय होता है । या, उस समय कुछ लिखू ही या करूँ ही, तो वह लिखना या करना अच्छा लगता है जो बृहत्-फल न हो और साधारण प्रतीत होता हो । तब कविता* लिखूगा, कहानी लिखूगा, या इसी जोड का कुछ निष्प्रयोजन काम करूँगा । किन्तु अब अवकाश की कमी मे मै कुछ उन बातो पर लिख कर छुट्टी चाहूँगा जिन पर झगडा होता है और जिन्हे लोग काम की और जरूरी समझा करते है ।

दुनिया में एक तमाशा देखने में आता है—

—जो जीवन में कलामय नही है उसे चिन्ता है कि समझे कि कला क्या है । दुनिया को ऐसी चिन्ता आजकल बहुत खा रही है । सत्य के साथ एकाकार होकर रहने की जिनके जीवन मे चेष्टा नही है वे सत्य के सम्बन्ध मे विवाद उठाने में काफी व्यस्त और मुखर है । धर्म को लेकर धार्मिक लोग सेवा-कर्म में और भगवत्-प्रार्थना में जब लीन है तब और लोग है जिनकी धर्म के सम्बन्ध में आकुलता जगत् मे उद्घोषित होती रहती है और जो धर्म को लेकर शास्त्रार्थ और यदा-कदा मानव-मस्तको की तोड-फोड किया करते है ।

सामाजिक क्या, राजनीतिक क्या और साहित्यिक क्या,—हर क्षेत्र में जब यह विचित्रता दीखती है तब बडा अनोखा भी मालूम होता है और समझ जैसे गडबड में पड जाती है । हर क्षेत्र मे श्रमी नीचे है,

---

* इससे स्पष्ट है कि लेख का 'मैं' जैनेन्द्र से तटस्थ है ।

व्यवसायी ऊपर है। साहित्य मे स्रष्टा सृष्टि करेगा, आलोचक राज्य करेगा। समाज के क्षेत्र में अहंकारी चौधरी बनेगा, विनम्र पामाल होगा। राजनीति के क्षेत्र मे वालटियर सच्चा होगा, नेता नैतिक की जगह निरा नीतिज्ञ होगा।

ऊपर से देखने से यह स्थिति मनुष्य को नास्तिक बना सकती है। नास्तिक से अभिप्राय है श्रद्धाशून्य—faithless, सदेहग्रस्त।

किन्तु श्रद्धावान् के लिए तो विचलित होने की बात कभी कुछ है ही नही। यह समस्त सामग्री आस्तिक की तो आस्तिकता ही बढाती है, श्रद्धालु की श्रद्धा को पुष्ट करती है। उसे कुछ और अधिक प्रबुद्ध और जागृत ही करती है।

जो ऊपर से देखता है वह क्रुद्ध हो रहता है,—विद्रोही और विप्लवी बन जाता है। वह अन्त में कहता है, 'असत्य ही सत्य है। मै ही परमेश्वर हूँ। जो दीखता है, उसे छोड और कोई सत्य नही है।' वह कहता है, 'मनुष्य की ही जय है। हाँ, शक्ति ही नीति है।' अहकार उसके जीवन का मूल मत्र बनता है।

किन्तु विश्वासी को तो पत्ते-पत्ते में, घटना-घटना मे, पल-पल के भीतर यही ज्वलंत रूप में लिखा हुआ दीखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। जब क्रूर सन्त की छाती पर पैर रख कर दर्प की हँसी हँसता है तब भी वह श्रद्धावान् सत यही देखता है—सत्यमेव जयते नानृतम्। हिरण्यकशिपु की नियोजित हर विपदा की गोद मे बालक प्रह्लाद को यही दीखा कि इस सब मे भी उसके प्रभु राम की कृपा ही है। कशिपु के नाश और प्रह्लाद के उद्धार की बात तो उस पुनीत कथा का अन्त है,—उस कथा के मर्म का बखान तो प्रह्लाद की वज्र-श्रद्धा में ही होता है। पहले प्रकार के पुरुष के, आशय कि नास्तिक के, निकट यह साबित नही किया जा सकता कि जो वह समझता है वही विश्व का सत्य नही है। यानी यह कि यहाँ

गर्वस्फीत शक्ति की ही जय नही है—उसके अन्तर्गत किसी और ही परम-सत्ता की जय है ।

दूसरे प्रकार के पुरुष के निकट इसी भाति यह कभी प्रमाणित नही किया जा सकता कि सत्य कभी हारता है । ऐसा पुरुष मरते मर सकता है, पर सत्य की राह छोडते उससे नही बनता ।

इन दोनो प्रकार के तत्त्वो के बीच, और इन दोनो भाति के पुरुषो के मध्य, आलाप-सलाप, तर्क-विग्रह और सधि-भेद चलता ही रहता है । इसी का नाम विश्व की प्रक्रिया है ।

हमारे मानव-जगत् का जो सम्मिलित साहित्य कोष है,वह इस सब प्रकार की प्रक्रिया की गाथा का शब्दबद्ध सग्रह है। इन दोनो तरह के लोगो में एक दूसरे को समझने की चेष्टाएँ और न-समझने की अहता, परस्पर को पूर्ण बनाने का उद्यम और परस्पर को अकृत-कार्य करने का उद्योग आदि आदि-काल से चलता चला आ रहा है । इसी सघर्ष और इसी समन्वय में से, अर्थात् इसी मथन मे से, ज्ञान ऊपर आता है और प्रगति सपन्न होती है ।

किन्तु हम जल्दी मे है और यहा हम हठात् एक सवाल उठा लेगे और कुछ देर उसके साथ उधेड बुन करके आप से छुट्टी लेगे ।

सवाल के लिए कला शब्द ही लीजिए। कला क्या है, इस पर बहुत कुछ लिखा गया है, बहुत कुछ लिखा जा रहा है । कुछ तो उस मे काफी शास्त्रीय है, कुछ ऐसा भी है जिसमें ताजगी है । 'कला' सज्ञा को ऐसा विवादास्पद शब्द बनाने की हमारी अनुमति नही है जिसको लेकर दो व्यक्ति आपस में सहानुभूति से वचित होजायँ । 'कला' शब्द मनुष्य ने बनाया इसलिए कि उसके द्वारा वह अपने भीतर अनुभूत किसी सत्य को प्रकट करना चाहता था । 'कला' शब्द में यथार्थता मनुष्य के भीतर की उसी अनुभूति की अपेक्षा से है जिसके हेतु से उस शब्द को जन्म मिला और जो शब्द की ध्वनि में और उसके रूप

में प्रस्फुटित हुई। क्योकि व्यक्तिमात्र में एक ही सच्चिदानन्द आत्मा है इसलिए, कला वह वस्तु नही है कि दो व्यक्तियो को लडाये। 'कला' शब्द पर यदि दो आदमी, उसे समझने के प्रयास में, मतभेद रखते हुए नही, वरन् अनबन बनाते दीखते है तो स्पष्ट मान लेना चाहिए कि उन दोनो के बीच में निर्जीव अक्षरो का बना हुआ मात्र 'कला शब्द ही है,— कोई तन्नियोजित सजीव भाव नही है।

जो कुछ है उस समग्र के प्रति मनुष्य असलग्न तो हो नही सकता। मनुष्य के आख है तो रात को तारे भी देखेगा ही, दिन मे सूरज भी उसे दिखाई देगा, हरियाली वनस्पति उसके सामने होगी। नाना भाति के पशु और रगबिरगे पक्षियो को देख कर कैसे न कहेगा कि वे है। इन सभी के साथ मनुष्य कुछ-न-कुछ अपना सम्बन्ध रखने को लाचार है। युग-युगातर के भीतर से शेष विश्व के साथ मनुष्य का यह अन्त-सम्बन्ध विस्तृत होता गया है और व्यवस्थित भी होता गया है। और जब तक समस्त में एकत्व अनुभूति उसे न प्राप्त हो तब तक चहुँ ओर मनुष्य का सम्बन्ध जाने-अनजाने गाढतर ही होता जायगा।

अब एक व्यक्ति व्यवहारवादी है। वह दुनिया को अपने अर्थ साधन का क्षेत्र बनाकर समझता है। प्रयोजन के द्वारा उसने दुनिया को अपने से और अपने को दुनिया से मिलने दिया है। पौधो पर से वह फूल लेगा, खेतो में से अन्न, धरती की गर्भ में से अन्य प्रयोजनीय पदार्थ, वृक्षो पर से फल, आदि-आदि। उन सब की सार्थकता उस व्यवहारवादी के निकट इसी हेतु के माध्यम से है कि वे उस का प्रयोजन सिद्ध करते है। अन्यथा दुनिया उसके मन में ही नही बैठती।

इस व्यवहारवादिता से लगभग उलटी जो दूसरी वृत्ति है उसे 'कलात्मक' सज्ञा से समझा जाता है। व्यवहार के मानो प्रतिवाद में कला है। कला की अभिधा से विश्व के साथ मनुष्य की वह वृत्ति और वह सम्बन्ध समझना चाहिए जिसका लक्ष्य अर्थ-साधन नही है, प्रत्युत

आनन्द-भोग है। पौधो पर फूल है तो वे हमे प्रसन्न करते है और हम मात्र इतने के लिए, उनके होने भर के लिए, उनके कृतज्ञ बनते है। उन्हे तोडकर माला बना ले और माला को अपने गले मे डाल ले, शायद तभी अर्थार्थी हम दुनिया वालो के निकट फूलो में कुछ सार्थकता हो। पर, कलावादी के लिए ऐसा नही है। उसके किसी प्रकार काम मे आये बिना, वृन्त पर खिलाखिला ही, वह फूल तो कलाकार के अपार आह्लाद का विषय है। इसी प्रकार वृक्षो की वायु का सौरभ, आकाश की नीलिमा, तमिस्रा का नैश सौन्दर्य आदि-आदि,—ये सब कला के लिए प्रयोजनीय है इस हेतु से सत्य नही है, उसके लिए तो वे सब प्रयोजन से कही बडे इस हेतु से सत्य है कि वे सुन्दर है। सौन्दर्य, कला के लिए, सत्य का प्रधान रूप है। प्रयोजनीयता कला के लिए उस सत्य का गौण भाव है।

उसी भाति सत्य कला के निकट मात्र ज्ञेय नही है, जैसा कि वह विज्ञान के निकट है। विज्ञान अपनी दलील के जोर से विश्वभूत सत्य को बुद्धिगम्य करना चाहता है, कला की वह स्पर्द्धा नही। कला तो अपने भीतर के आनन्द-बोध द्वारा, अन्तस्थ अनुभूतियो के सूक्ष्म तन्तुओ से समस्त विश्व को छाकर उनके सहारे, सत्य को हृदयङ्गम करेगी। कला के लिए सत्य प्रेय ही है।

इस तरह कला व्यवसायी की प्रयोजनीयता और वैज्ञानिक की विज्ञान-सम्मतता और तात्विक की निरपेक्ष ज्ञेयता से कुछ अन्य है, कुछ अन्यत्र है। जो नाना मनुष्यो के नाना प्रयत्नो का चिर इष्ट है, वह सत्य जब सुन्दर का रूप धारण करता है, तब वह कला का आराध्य बनता है। शुष्क सत्य अथवा ज्ञेय सत्य अथवा सार्थक सत्य कला के सिहासन पर नही है। उसके सिंहासन पर तो सत्य सुन्दर होकर ही बैठता है।

इतने से यह प्रकट होगा कि कला के विषय में जो 'क्यो' और 'क्या' का बहुत विवेचन करते है वे कला के उपास्य, हृदय द्वारा सेव्य सौन्दर्य

को मानो बुद्धि की छुरी के नीचे पटक कर उसका व्यवच्छेद करने चलते हैं। पर शस्त्र से शून्य-तुल्य सूक्ष्म भाव कैसे कटेगा ? कोशिश कीजिए कि आकाश का विच्छेद करे, हमारे विज्ञान को अकृतकार्य होकर लौटना होगा।

इस प्रकार असम्भव नही है कि कलाकार का उपास्य विलुप्त ही हो रहे और पडितजन की बुद्धि शास्त्रविच्छेद द्वारा मात्र यही पहुँचे कि कला का सिहासन तो उपास्य-शून्य है और वहाँ निर्बुद्धिता के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। बुद्धिवादी इस निर्णय तक पहुँचे, इसमे कलाकार को आपत्ति भी नही। मात्र उसे यही भय है कि बुद्धिवादी निराश होकर नास्तिक न हो जाय। और नास्तिक भी वह नही जिसके लिए नास्तिकता ही ईश्वरसम हो गई है, क्योकि वह तो नास्तिकता को लेकर आस्तिक बनता है, 'नास्तिकता' के प्रति कर्मण्य और श्रद्धावान् बनता है। भय है कि वह निरा सशयसेवी ध्येय-ध्यान-हीन नास्तिक न बन जावे।

: ६ :

भाग्य में कर्म-परम्परा

साहित्य का रस जिन्दगी के रस से अलग नही है। लेकिन जिन्दगी का रस क्या है ?

इस पर एक दिन खयाल गया तो दो शब्द हाथ लगे। एक भाग्य, दूसरा कर्म-परम्परा। आगे की बात हम नही जानते। अन्दाज चाहे जितने लगाएँ, अनागत अज्ञेय है। कल का आज पता नही। यही है भाग्य। भाग्य, इसी से, भविष्य मे रहता है। भविष्य अनिर्मित है और इस निर्माण की सुविधा के कारण जिन्दगी मे हमे रस है। इसी कारण पुरुषार्थ है। जीवन की गति भी इसी कारण है। हम जीते चले जा रहे है, चलते चले जा रहे है, क्योकि अन्त का पता नही और काल का अन्त नही। इससे हमारी सभावनाओ का भी अन्त नही है।

पर यह भाग्य नामक तत्व हमारी अल्पता का, अवशता का, अज्ञता का भी प्रमाण है। हम कुछ भी और नही हो सकते, समस्त के बीच हम अणु है। काल के बीच हम नपे-बधे रहेगे और अभिज्ञता के अर्थ में परम निरपेक्ष सत्य से सदा अनभिज्ञ रहेगे। अत· अपनी चिर-अनभिज्ञता की स्वीकृति ही मनुष्य की सब से बडी अभिज्ञता हो सकेगी।

भाग्य का तर्क अपना ही है। हमारे सिद्धान्तो में वह नही बधता। आज बैठे कल की कल्पना हम कर लें और इस तरह से चाहे तो अपनी कल्पना में हम अपने को मुग्ध भी कर ले, पर भावी के प्रति हमारा सच्चा सम्बन्ध उत्सुक एव विस्मित अभीप्सा का ही हो सकता है। अगला क्षण जाने हमारे आगे क्या न रहस्य खोल उठे !

इस तत्व में से ही ड्रामा को जन्म मिलता है। इससे हीन होकर साहित्य साहित्य नही। अन्त की ओर से एक 'सस्पेंस' चाहिए, एक कशिश, जैसे कि मृत्यु जीवन को खीचती है। आगे क्या होगा, पाठक में बराबर इसकी उत्सुकता बनी रहनी चाहिए। अगले पृष्ठ और परिच्छेद मे घटने वाला कार्य-कलाप अकारण न होगा। पहले जो कुछ हुआ है उसके साथ अविच्छिन्न भाव से वह जटित होगा, फिर भी पाठक ज्यो-ज्यो बढे, आगे का सब कुछ उसे आकस्मिक-सा ही जान पडना चाहिए। साहित्यिक रचना के लिए यह गुण अत्यन्त अनिवार्य है। भाग्य यदि दुर्निवार्य है, अतर्क्य और अज्ञात है, तो साथ ही सुसगत भी है। उसी भाति साहित्यकार को अपनी रचना में होना होगा। हर घटना घटित होने के पूर्व आकस्मिक लगेगी, पर घटित होने के साथ-साथ वह अवश्यम्भावी भी लगती चलेगी।

मै नही कह सकता कि रचना में वह तत्व किस भाति उतारा जाता है। कह यही सकता हू कि वह आवश्यक है। तर्क की एक-एक कडी जैसे सुशृङ्खलभाव से आगे चलती है, जीवन वैसे नही चलता दीखता। इसका अर्थ यह नही कि उसमे वैसी शृ खला नही है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि जीवन का तर्क हमारे मति-तर्क (Rational Logic) से भिन्न है। नियम तो है, क्योकि नियन्ता है। सृष्टि अभाव पर नही हो सकती। कुछ उसमें सत् है ही। वही नियति, वही Law। हमारे अपने मति-तर्क उससे टकराए तो बिखर रहेगे। इससे हमारी बुद्धि की कृतार्थता यही है कि वह उस नियति में अपना सर्वार्पण करके मुक्ति लाभ करे। वही तर्क शुद्ध और स्पष्ट और निर्मल होगा जिसे इस नियति की निष्ठा का आशीर्वाद प्राप्त होगा।

इस तरह मेरी कल्पना है कि साहित्यकार को अबोध होना चाहिए। वह जाने कि वह नही जानता। यदि वह सचमुच अपने को जानने वाला जानता है, तो अज्ञात भाग्य के प्रति जो एक स्मित-भाव चाहिए और जिस से परिप्लुत होकर जीवन सारवान एवं साहित्य सरस हो आता है,

वह वस्तु अपनी रचना में वह कहा से ला सकेगा ? आनन्द से बुद्धि की शत्रुता है। आनन्द बिना रस कहाँ ? इससे बौद्धिक जीव सरस साहित्य कैसे दे सकता है ? भाग्य के प्रति जो साश्चर्य नही है, वह अपनी रचना में पाठक की उत्सुकता किस तरह जगायगा ? वह पहले से जीवन के भेद को यदि किसी थियरी (Theory) के रूप में मुट्ठी मे वाधे हुए है, तो पाठक को वह किस आकर्षण से खीच सकेगा ? इससे मुझे जान पडता है कि एक अनुभव-गत, यद्यपि अनधिगम्य, कुछ होना ही चाहिए जिसके प्रति लेखक शिशुवत् अबोध हो और वैसा होकर धन्य हो। नही तो उसकी रचना सूखी होगी। उसमे प्राणस्पन्दन नही होगा, निस्सत्व ज्ञान की बातें फिर जितनी भी चाहे हो।

आज साहित्यिक भाषा में जो चर्चाएँ चला करती है उस धरातल पर ऊपर के मन्तव्य से परिणाम निकाल कर कहे तो यह कहना होगा कि सफल लेखन बौद्धिक प्रेरणा का फल नही है। मतवादी कोई रचना किसी के जी को छूकर उसे कृतज्ञ नही बना सकती। यथार्थ का कोई वाद नही होता, न उसकी कोई शर्त्त हो सकती है। कोई निश्चित, सुनिर्दिष्ट प्रयोजन वाध कर जो रचना होगी वह साहित्यिक सृष्टि न होगी, उसमें रस का खिचाव नहीं बुद्धि का दबाव होगा। एक प्रकार की रोमान्टिक (कल्पना-ग्राह्य) और आइडियलिस्टिक (आदर्शोन्मुख) प्रेरणा साहित्य-रचना के लिए अनिवार्य है। यानी कुछ वैसी प्रेरणा जिससे हमारी बुद्धि प्रभावित हो, पर जो स्वय उस बुद्धि की पकड में समा नही पाती हो। अर्थात् साहित्य-सृजन, यानी कवि-कर्म, प्रयोजनोपयोगी से भिन्न और ऊचे स्तर की प्रेरणा द्वारा सभव होता है।

इतना कहने के बाद अब दूसरी बात को लेंगे। अर्थात कर्म-परम्परा। भैस जैसे ऊपर मु ह उठा कर सूनी आँखो से आकाश को देखती है, मानो कि उस अनन्त विस्तृति की किचिन्मात्र प्रतिक्रिया उसमें नही है—वैसे जड और निस्पन्दभाव से भाग्य या नियति नामक महत् तत्व को स्वीकार

करने के लिए मानव नही है, मनुष्य उस भाग्य का सहयोगी है। वह स्वय विधाता है। वह भाग्य का निर्माता है। अनागत के प्रति यदि वह विस्मयाकुल है, तो अतीत के इतिहास का वही विश्लेषक भी है। जो होता है और होगा वह उसके बिना और बावजूद नही होने पायगा, उसके द्वारा और उसके सहकार से ही होनहार को होना होगा। मानव भवितव्यता मे एक परम्परा की शृ खला खोजेगा और डालेगा। इसी से मनुष्य के निकट ईश्वर स्वय नियमाधीन है। सर्वशक्तिमान् होकर भी मनुष्य का ईश्वर अपने ही नियम से आबद्ध है। यह मनुष्य के लिए ही सम्भव हुआ कि उसने भाग्य को कर्मफल-परम्परा के रूप में देखा और कहा कि विधाता और विधान एक है : God is Law.

इसका यह आशय कि कवि-कर्म बुद्धि-प्रेरित न हो, पर वह नियमहीन भी नही है। वह तनिक भी उच्छृङ्खल नही है। विश्व मे वही सब से दायित्वपूर्ण काम है। पदार्थ-विज्ञान से भी सूक्ष्म और अमोघ उसके नियम हैं। पर वे नियम तो स्वय जीवन के नियम है, इसी से वे बधने मे नही आते, और नही आयेंगे। इसी से वे बाधते भी नही दीखते है, आनन्द को खोलते ही है।

प्रेम से बडा दूसरा क्या नियम चाहिए ? उसमे अनन्त शोध का अवकाश है। जहा अप्रेम है, साहित्यिक नियम का वही भग है। फिर उस भग को समझाने के लिए किसी उपाध्याय और आचार्य की भी आवश्यकता नही है, पाठक का मन ही उसे तत्काल बतला देता है। भाषा के छन्द के या अन्य जितने नियम हम जानते है, उन सबका भग वहाँ क्षम्य है। पर प्रेम के नियम के भग के दण्ड से तो कोई बच नही सकता। जहाँ वह है, वहाँ पाठक की सहानुभूति अनायास उथली पडकर उचटने लग जायगी।

इस दृष्टि से क्या रत्नपारखी का काम होगा उससे भी गहरी परख और समझ का काम साहित्य-रचना का है। वह तर्कहीन नही है,

सगतिहीन नही है, उसमे तो प्रभाव और प्रेरणा के घनिष्ठ ऐक्य की आवश्यकता है। एक सूत्र चाहिए जो रचना के तमाम वैचित्र्य को, समूची परिस्थिति और विकास को, कहिए भाषा के तमाम मौखर्य को ही, मौनभाव से अपने मे धारण कर रहा हो। एक मात्रा भी उस सूत्र से अनपिरोयी न बचे। वह सूत्र तो बेशक दीखेगा नही, क्योकि आत्मा अलक्ष्य है। पर दीखने की लाचारी नही है, इसी से अन्तर्व्याप्ति मे उसके होने की लाचारी और भी अनिवार्य हो जाती है।

अर्थात् पुस्तकगत प्रत्येक घटना पूर्व परिस्थितियो मे से अनिवार्य रूप से प्रस्फुटित होती मालूम होनी चाहिए। भाग्य आकस्मिक-सा लगे, और यही तो उसकी विशेषता है, पर वह निश्चित रूप से मनुष्य की अपनी करनी का फलभी होता है। इसी भाति प्रतिक्षण नवनवोन्मेष की भाति पाठक के समक्ष आविर्भाव मे आने वाली पुस्तक की घटनावलि एक गहन तदपि सुस्पष्ट कार्य-कारण की शृंखला मे सुग्रथित होनी चाहिए। बीज मे से ही फूल या फल होता है। बीज नही दिखाई देगा, किन्तु फल-फूल उसकी ही अभिव्यक्ति है। इसी तरह प्रत्येक पूर्ववर्त्ती स्थिति में परवर्त्ती घटना का बीज समाहित रहना चाहिए। दूसरे शब्दो मे साहित्यिक कृति एक वह सृष्टि है जिसका प्रत्येक अग अपनी सम्पूर्णता की प्रकृति से चचल और सजीव है, जिसको एक जगह से छूना मानो समस्त के प्राण का स्पर्श करना है; जो समुच्चय नही है, समवाय नही है, प्रत्युत परिस्फुटन है, जिसका पृथक्करण जिसकी हत्या है। किसी जीवधारी के अङ्गोपाग उससे अलग नही किये जा सकते। अलग होकर वे निष्प्राण रह जाते हैं, उनकी सचाई वे नही उनमें प्रवहमान प्राण है।

भाग्य के पक्ष मे कहते हुए जिस अबोधता की आवश्यकता बतलाई, वह इष्ट है तो तभी जब साथ कार्यकारण की अटूट परम्परा में चलने वाले इस जगत् की कर्म-गति के प्रति सजगता भी हो। बुद्धि को फेंक देना नही है, उसे अनुगत रखना है। विवेक से पल्ला छुडाकर उडने वाला

कल्पनाविलास (Romanticism) और नित्य-नैमित्तिक से बचने वाला आदर्शवाद (Idealism) तो कच्ची भावुकता को ही जन्म दे सकता है। इस प्रकार की रगीनी अक्सर अभावजनित होती है, कोई पुष्ट सद्भाव उसमे व्याप्त नही होता। वह रगीनी जिन्दगी को खाती है, उसे समृद्ध नही बनाती। हमे स्पर्श-सुख-सा देती है, अन्तभू त हमारी वेदना की शक्ति को वह नही चेताती।

सक्षेप मे साहित्यिक रचना वह है जो अपने साथ अपने ही अन्त की ओर पाठक को बरवस, विस्मित, सभ्रमित, प्रत्याशित भाव से खीचती ले जाय। लेकिन साथ ही पाठक पाता जाय कि पुस्तक मे जो कुछ हुआ और होता गया, वही तो हो सकता था, सचमुच उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नही हो सकता था। जब पाठक के मानस के समक्ष जीव की यह रहस्यमय गूढ भवितव्यता एक-एक कली खिला कर अपने हृदय को ऐसे खोल देती है कि उसके स्पर्श से पाठक के भीतर का अवसन्नप्राय अवचेतन भी चैतन्य की धूप मे अवगु ठित अपनी ग्रन्थियाँ खोलकर मुस्करा उठता है, तभी वह साहित्यानन्द प्राप्त होता है जो ब्रह्मानन्द का सहोदर है।

: ७ :

स्वप्न और यथार्थ

लिखने का काम कोई बहुत जरूरी काम नही है। उसके बिना भी चलता है। पर जैसे बोलकर हमारा निकट का काम-काज सधता है, उसी तरह लिखकर दूर का और गहरा व्यापार साधना हुआ करता है। कुछ हम से बहुत दूर है और कुछ है भी नही, भविष्य मे होगे। लिखने के जरिये हम उन तक भी अपने को पहुँचा सकते है। लिपि के आविष्कार से मनुष्य ने देश और काल के बधन से अपने को परे कर लिया है। सहस्रो वर्ष पूर्व के ऋषियो के अनुभव का लाभ उनकी अकित वाणी के द्वारा हम आज भी पा सकते है। बोल कर अधिकतर नित्य नैमित्तिक प्रयोजन निबटा करते है। चित्त की गहरी बाते सहज कहने में नही आती, लिख कर जैसे हम अपनी ही थाह लेते है। अनुभव में चले जाते हुए काल को लेखनी में लाकर मानो हम स्थिर बना देते है।

देखा जाय तो लेखक कोई खास व्यक्ति नही है। भावना सब में है और भाव भी सब के पास है। यह सयोग की बात है कि एक लिखता है दूसरा नही लिखता, परिस्थिति भी इसमें कारण है। यानी लेखक का कोई वर्ग नही है। लेखन को धधा यदि बनाया जाय तो बात दूसरी है। तब अलग वर्ग भी हो सकता है और अलग तरह ही का उसका हित और समस्या भी हो सकती है, वह हित दूसरे हितो से रगड में तब आ सकता है। पर गोष्ठी यह शायद उस निमित्त नही है।

अब लेखन कुछ खयाली काम है। आप अकेले है, पास दूसरा कोई नही है और आप लिख रहे है। ऊपर से यह कुछ बे-काम-सी बात लगती है। पर ऐसा नही है। वह लिखा हुआ अगले दिन फैल कर न जाने किन घटनाओ को जन्म दे सकता है। आप से आशय खास आप से नही,

लिखने वाला गाधी हो सकता है, या रूजवेल्ट । बडे से बडे काम लीजिए, सब में का केन्द्र पुरुष एकान्त मे अपने सामने के कागजो पर कुछ न कुछ लिखता दीखेगा । खयाल इस तरह बेकाम नही है, बल्कि काम का हार्द है, स्रोत है, सव काम वही से निकलते है । अर्थात् लेखक यदि कुछ भिन्न भी है तो इसी खयाल में कि वह ज्यादा खयाली है । यह खयाली होना कुछ बुरी बात नही होनी चाहिये । लेकिन इस जगह कुछ कठिनाई उपस्थित होती है ।

अखबार की खबर माने तो आज लेखक वह व्यक्ति नही है जो प्रबल हो, बल्कि उसके असमर्थ होने की बात सुनी जाती है । उसे जीता रखने को सहायता कोष के प्रस्ताव तक होते है ।

मै क्षमा चाहता हू । मुझे समझ नही आता कि क्यो चाहा जाय कि लेखक बचा रहे । लाखो मर रहे है । युद्ध मे या जेल मे कुछ स्वेच्छा से मर रहे है, भूख में और रोग में कुछ रोते झीकते मर रहे है । शहीद को मौत अमरता देती है, असमर्थ जीर्ण को छुटकारा देती है । सहायक-निधि द्वारा मरते हुओ की सख्या मे कुछ कमी करने की पद्धति का मैं विशेष श्रद्धालु नही हू । मेरी निगाह मरने की विधि पर है । खैरात-खाने मानव जाति को दीर्घायु बनाएँगे ऐसा मुझे नही लगता । असमर्थों का मोह जगत्-गति को नही है । अपने उपलक्ष्य से जो दया उपजाता है वह जाने-अनजाने आततायी को भी निमत्रण देता है ।

समस्या यही है कि जो इतना खयाली है कि लिखता तक है वह असमर्थ क्यो है ? या तो यह गलत है कि खयाल ताकत है । या फिर यह देखने की बात है कि जिन को खयाली माना वे असल मे वैसे है कि नही ।

खयाल को ताकत मानने से बचने की जगह नही है । बराबर में दाँये हाथ शाहजहाँ का लाल किला है और बायी तरफ को फैली नई दिल्ली है । लाल किला उस भावुक मुगल ने खडा किया और नई दिल्ली अग्रेजो की प्रभुता दरसाती है । चीजें ये बडी और भारी है, पर बीज उनका कहाँ है ? क्या वह भी उनकी भाँति भारी और बडा है ? क्या

वह उनसा जड है ? वह न भारी है, न जड है; वह खयाल की तरह बल्कि उससे भी बारीक है। उसी ने इन आकार-प्रकारो मे अपने को सिद्ध किया है। उसका मनुष्य हृदय से उद्गम है और आशा-आकांक्षा से सबध।

यहाँ आत्मा की बात मैं नही करूगा। युग विज्ञान का है। वाद अनेक है। अध्यात्मवाद है, तो भौतिक वाद भी है। उन वादो में मेरी गति नही। पर जो दीखता है वह वही समाप्त है यह नही माना जा सकेगा। बृहत् कार्य के पीछे सूक्ष्म कारण है, जो अलक्ष है इसी से मुख्य है। प्रत्येक सृष्टि मे उपादान—उपकरण अनेक लगते हे, पर उन्हे परस्पर सगठित और स्पदनशील रखने में कारणरूप एक भाव आवश्यक है।

समूचे काल प्रवाह का सबक ही यह है। असख्य पर्वतो के परिमाण में आज पदार्थ उत्पन्न किया जा रहा, यहाँ से वहाँ ले जाया जा रहा है और फिर (युद्ध मे) ध्वस किया जा रहा है। सब इसलिए कि विकास का पग आगे बढे, मानव जाति नई करवट ले। महा समरो में जितना धन और शक्ति का व्यय हुआ है, इसलिए कि इतिहास नया पृष्ठ उलटे। वह इतिहास प्रतिपल लक्ष-लक्ष मानवो को कवलित कर रहा है और इतिहासज्ञ शोधते है कि शताब्दियो की विनाशलीला और विकास-साधना में से मानव-भावना ने क्या परिष्कार पाया है। वे इस अनादि काल-गति में एक सास्कृतिक क्रम-विकास का सूत्र पाना और बिठाना चाहते है।

आदमी नाना कर्म करता है। उन सबके भीतर से वह गति किस ओर करता है ? आगे क्या पाकर, क्या देख कर, क्या मान कर उसके पीछे चलता चला जाता है, और जीता चला जाता है ? उस अप्राप्त किन्तु प्राप्तव्य, अदृष्ट किन्तु द्रष्टव्य वस्तु को कोई निश्चित रूप या आकार पहनाना सभव नही है, क्योकि शायद सब आकार स्वय उसी निराकार से है। वह ज्ञात और निर्णीत नही है। उसे विचार से भी पकडना नही होता।

उसी के प्रति श्रद्धा या आकाक्षा लेकर व्यक्ति जिये जाता और अपना भार लिये जाता है। उसमे समस्त पुरुषार्थ की शक्ति मानो अज्ञेय के प्रति श्रद्धा के इस सूक्ष्म ततुके सहारे उदित होती और उसे बढाती रहती है।

यदि ऐसा है तो लेखक की असमर्थता इस कारण नही हो सकती कि वह खयाली है। कारण यही हो सकता है कि वह सचमुच खयाली नही है, यानी अपने पूरेपन में वह किसी खयाल के पीछे नही है। ऐसा न होता तो वह गतिहीन और लक्ष्यहीन नही हो सकता था। असमर्थता लक्ष्य-हीनता के सिवाय भला कुछ और क्या है ?

यहाँ खयाल को समझना होगा। मन-बुद्धि में हर क्षण कुछ न कुछ चला करता है। एक घुमडन सी मची रहती है, जिसमे से धुआ उठा करता है। पल भर को आख मीच कर देखिये कि एक पर एक चित्र भागते हुए जा रहे है, स्वप्न के से द्रुत वेग से वे चलते है। वे आपस मे उभलते, एक दूसरे पर चढाई सी करते, परस्पर को व्यर्थ बनाते रहते हे। इसीसे आँख खुली नही कि वे उड जाते है। हमारा उन पर वश नही होता। हम उनसे तत्सम नही होते। वे हमारे जागृत जीवन के साथ नही चल पाते। इसी से वे प्रभावहीन और क्षणस्थायी होते है। ऐसे स्वप्न सत्य पर बिखर रहते है और हम उन्हे असत्य कहते है। वे हमें थकाते, बिताते और भरमाते ही है।

पर महापुरुष वे हुए जिन्होने अपने स्वप्न को अपना सत्य बनाया और फिर जगत् के तथ्य को उसी रूप में से स्वरूप दिया। ये स्वप्न-निष्ठ जन जगत् की स्मृति मे आज भी सर्वाधिक सत्य के रूप मे अधिष्ठित है।

साराश, वह खयाल यानी वह स्वप्न जो हम मे या बाहर कही टकराता नही, जो हमारी वृत्तियो का सग्राहक है और समन्वय करता है,

जो बुद्धि के विधि-निषेध मे समाकर भी मुक्त है और जो इस लिए एकीकृत सकल्प रूप है, वह स्वप्न सामर्थ्य और सर्जन का मत्र है। वह व्यक्तित्व मे अखडता लाता है और जीवन की गति को अनवरुद्ध करता है। इसी की निष्ठा और भावानुसरण को कहना चाहिए सृजनशील कल्पना।

बाह्य यथार्थ इस सृजनात्मक कल्पना का अनुगामी है। यथार्थ अपने में निश्चित है, स्थान और काल बद्ध है। उसमें गति नही है, इससे दिशा भी नही है। वह निष्क्रिय पदार्थ है। उसे गति और दिशा उनसे प्राप्त होती है जो उसके नही बल्कि स्वप्न के होते है। ऐसे व्यक्ति सभ्रान्त से अधिक विद्रोही और सफल से अधिक भावुक होते है, सम्पत्तिशाली से अधिक कल्पनाशील होते है। यथार्थ के लिए वे प्रेरक और मार्ग-दर्शक होते है, क्योकि यथार्थ की ओर पीठ देकर सीधी गति मे वे उस झाकी के पीछे चल पडते है जो उनके भीतर झलक उठी होती है। उसी के हाथ वे अपने को सौपे रहते है। दुनिया जैसे उन्हे विरानी लगती है और यहा का यथार्थ उन्हे माया हुआ रहता है। कही और ही मानो उनका घर हो और कुछ और ही उनका सच हो। ऐसे लोग अडिग होते है, निर्भय एव निर्लोभ होते है, और उनका जीवन दु ख का जीवन होता है। मानो दुख ही उन्हे भोग हो, और भोग उन्हे काटते हो।

मै किसी तरह नही समझ पाता कि जो सचमुच इस तरह खयाली है, जो स्वप्न को सत्य और यथार्थ को भ्रम माने बिना रह ही नही सकता, वह असमर्थ क्यो कर हो सकता है ? यथार्थ के प्रति पराजय का नाम ही असमर्थता है। यथार्थ को अतिम सत्य के रूप मे ओढकर जो अपने को विवश मान बैठ सकता है, वही तो असमर्थ है। पर जिसने स्वप्न में सत्य के दर्शन किये वह यथार्थ की विकटता से कैसे निरुत्साहित हो सकता है ? उसका तो उसके निकट भ्रम जितना भी मूल्य नहीं। असमर्थता की भाषा ही इस तरह उसे दुष्प्राप्य हो जानी चाहिए। श्रद्धा जिसके

पास है, असमर्थता फिर उसके पास कैसे फटक सकती है ? और खयाल की चरम परिणति श्रद्धा मे है। जो सचमुच खयाली है, वह श्रद्धावान् है और जो श्रद्धावान् है वही समर्थ है।

यहा किंचित् सामथ्य को भी समझ लेना होगा। हम उसे उलटा भी समझ लिया करते है। मेरे यहा कागज का गुलदस्ता है, इससे उसमे सामर्थ्य है कि वह और भी कई वर्ष ज्यो-का-त्यो बना रहे। किन्तु यह सामर्थ्य उसके झूठ मे से ही प्राप्त हुई है। नकली है, इसी लिए मुर्झाना वह नही जानता। स्कूल जाने वाला मेरा बालक सजावट के खयाल से कुछ पैसे डालकर उसे बाजार से उठा लाया है। पैसे नाम की चीज के एवज में आजाने के कारण उसमें यह सामर्थ्य है कि वह असली न हो और परिवर्तनशील ससार मे वह अपरिवर्तनीय बना रहे।

किन्तु किसी भाँति भी क्या कल्पना की जा सकती है कि वह कागजी गुलदस्ता प्रेम का उपहार भी बन सकता है ? प्रेमोपहार में फूल लिये-दिये जाते हैं। उनसे जीवन सुवासित हुआ रहता है और व्यक्ति प्रसन्न अनुभव करता है। लेकिन दो दिन मे ही वे फूल कुम्हला जाते है और बाहर कोई चिह्न नही छोड जाते, जब कि यह बाजारी गुलदस्ता उसी तरह रहता जाता है।

मै यहाँ मानता हूँ कि कागज के फूल मे टिकने की सामर्थ्य ही उसकी असमर्थता है और सच्चे फूल की असमर्थता उसमे जीवन्त शक्ति होने के कारण ही है। यदि सजीव न होता तो वह मुर्झा भी न सकता।

इस तरह पदार्थ की शक्ति महत् है, किन्तु वह स्पन्दनहीन है। सामने की दीवार मे शक्ति है कि आप का मस्तक उससे टकराये तो वह उसे टूक-टूक करदे। सामने के पत्थर मे शक्ति है कि वह सहस्रो वर्षों तक पत्थर का पत्थर ही बना रहे। धन में शक्ति है कि वह बहुत कुछ खरीद ले। मान में शक्ति है कि वह दूसरे को नीचा दिखा दे।

किन्तु इस शक्ति का अवलम्ब लेकर व्यक्ति समर्थ होता है, यह भी बात नहीं है। मुझे तो दीखता है कि ठीक यही शक्ति व्यक्ति को असमर्थ बनाती है। उसकी मुक्ति इसमे दूर होती है। वह जडता के बधन मे घिर कर अशक्त होता जाता है। स्पन्दन की सूक्ष्मता उसकी सूखती जाती है। कल्पना बोझल हो जाती है, उसके पख भारी हो जाते है और स्वय पर और दूसरो पर वह बोझ बनती है, वह किसी के काम आने मे अक्षम होती है।

इस शक्ति और सामर्थ्य नाम से दुनिया मे चलने वाली चीज से खयाल वाले व्यक्ति को सावधान रहना होगा। यह जड शक्ति समाज मे विषम चक्रो को उपस्थित करती है और जैसे-जैसे सभ्यता सस्कृत होगी इस शक्ति का मोह रखने वाले व्यक्तियो का स्थान अस्पताल मे होगा। कही-न-कही भीतर रोग का कीटाणु है जो प्रेम को खाता रहता है और व्यक्ति के चारो तरफ सभ्यता नामक व्यर्थता को जुटाता रहता है। जैसे स्थूलता एक रोग है और वह असुन्दरता है, उसी तरह जड-पदार्थो को अपने साथ चिपटाने की वृत्ति भी रोग ही है। दोनो मे आन्तरिक स्वास्थ्य मे विकार आजाने के कारण परिहार शक्ति क्षीण हो जाती है, और जडता का अवलेप अन्त करण पर छाता जाता है।

चेतन प्राणी की असमर्थता का अर्थ अपने चहु ओर प्रेम दान की अक्षमता है। इसको दूसरे शब्दो मे कहे तो परिस्थिति के साथ सामजस्य की अक्षमता है।

हम चारो तरफ अपने ऊँची-ऊँची लौकिक सफलता खडी कर सकते है। लेकिन उस का मतलब यही तो है कि अपने लिए ऊँचाई घेर कर हम शेष सृष्टि से विशिष्ट और विलग हो गये है। यह विशिष्टता और विलगता अपने में स्व-रत रहकर और विवेक को पदार्थ मे गाड कर ही हम सह सकते है। ऐसा व्यक्ति भोगोन्मुख होकर ही जी सकता है। उसे

फिर दुःख से डर लगेगा और अपने चारो ओर खडे हुए सुख के परकोटे से वह बाहर झाक भी नही सकेगा। एक तरह अपने छिलके के भीतर वह आत्म-तुष्ट जीवन बिताने को बाध्य होगा। इस तरह अपनी अहता के चारो ओर गढ बनाकर और उसी मे अपने को घेर कर सर्वथा सत्य के प्रति अन्धा और उसकी पुकार के प्रति बहरा सा होकर ही उसे जीवन जीना होगा।

उस लौकिक दृष्टि से लेखक यदि असमर्थ है तो इसी मे उसके सच्चे सामर्थ्य-विकास के लक्षण मुझे तो दीखते है। हाँ, यदि उसने स्वय को असमर्थ माना है तो शोक की बात है। तब कहना होगा कि वह लेखक भी नही है। उसकी निगाह पदार्थ मे है, स्वप्न मे नही है। या फिर वह निगाह बट गई है। न वह अब स्वप्न में है, न धन मे गड पाई है, बल्कि सशय और विभ्रम मे है। ऐसा यदि नही है, यदि सचमुच स्वप्न की झलक उसमें है, तो उसे केवल यह पहचानने की देर है कि जड परिग्रह का अभाव ही उसका सच्चा सद्भाग्य है।

बीच मे पदार्थाधिकार आकर व्यक्ति को व्यक्ति से अलग करता है। वह एक को बडा, दूसरे को छोटा बनाता है। वह उलझन और समस्याए पैदा करता है। चैतन्य को ओट में कर के वह स्वय प्रधान बनने का अवसर पाता है। प्रेम के पन्थ मे वह बाधा है, या कहो वही जीवन की परीक्षा है।

लेखक पदार्थ को व्यवधान रूप मे डाल कर शेष से अपने को काट नही सकेगा। अपार-जन-सागर के बीच सर्वाभिन्न ब द के मानिन्द हो रहना उसकी सिद्धि है। जनता से वह अलग नही है। वह उसी का और उसी मे है। उसका प्रयत्न उन सब अन्तरायो को दूर करने की दिशा में ही हो सकता है जो उसे जन-सामान्य से अलग छाटते है। उसे उत्तरोत्तर साम्पत्तिक और बौद्धिक परिग्रह से शून्य होकर अपार जन सामान्य के दुःख मे घुल जाना होगा। उसे सुख भोग की ओर न देखना

होगा जो व्यक्ति को बाधता है और ह्रस्व करता है। उसे दु:ख ही अपना भोग मानना होगा, जो पुरुषार्थ जगाता और जीवन को गति देता है।

हम चल रहे है। अधेरे से हमे प्रकाश मे पहुचना है और जडता से चेतनता की ओर जाना है। प्रयाण हमारा निरन्तर जारी है। उसके अग्रदत वे ह जो अकिंचन है. इसी से जिन की गति तीव्र है। जो श्रद्धा-वान् ह इसी से अडिग है। जो स्नप्ननिष्ठ ह, इसी से दुर्निवार है। जो चढे चले जा रहे है, उस ओर जहाँ कि गतिपथ चिन्हित नही है। उनके लिए दु ख और बाधाए ही हो सकती है, क्योकि शेष की ओर उनकी पीठ है। पीछे उन सब के लिए वे आशीर्वाद से भरे है जो सुख मे लिपटे है इस से धीमे ही धीमे चल सकते है। उनकी दृष्टि सम्मुख है, जहाँ सब को शून्यता है, पर उन्हे वहाँ से स्वप्न का प्रकाश प्राप्त होता है।

: ८ :

प्रतिनिधित्व या उन्नयन

प्रतिनिधित्व या उन्नयन—यह प्रश्न एकाएक मेरे सामने आगया ।

आज की दृष्टि से यह प्रश्न अत्यन्त सगत है । प्रतिनिधित्व करे तो लोक-समस्याओ मे ही वह केन्द्रित होना चाहिये । जनता की शिकायते है, उसकी मागे है । अकाल है और उसे रोटी मिलनी चाहिये, व्याधियो का प्रकोप है और उसे औषध मिलनी चाहिये । शासन का अत्याचार है और उन्हे मुक्ति मिलनी चाहिये । लाखो बेकार है, उन्हे काम मिलना चाहिये । इन सब समस्याओ का प्रतिनिधित्व करने से वह बच नही सकता ।

यह तो मनुष्य का सामूहिक स्वरूप है । मानना होगा कि मनुष्य का यही रूप प्रधान है । क्योकि व्यापक है और लाखो आदमी के भाग्य को एक साथ छूता है । इन समस्याओ को जो साहित्य आगे नही लेता वह अपने कर्तव्य से गिरता है और प्रतिनिधि साहित्य नही हो सकता ।

उसके बाद व्यक्ति है । व्यक्ति का भी समूचा प्रतिनिधित्व साहित्य में चाहियै । उसमे मन नही शरीर भी है । मन में उडान है, और उस मन में सपने है । लेकिन शरीर रोग के कारण से घिरा है । विकारो को छोड कर सपनो में जाने की स्वतन्त्रता साहित्य को नही है, समूचे मनुष्य को लेना होगा । उच्चाभिलाषाओ का स्थान व्यक्ति जीवन में कितना सा है, अधिकाश वह तन और पेट की बातो मे घिरा होता है । नित्य की अनबन और नित्य के संघर्ष उसके जीवन के बहु भाग पर फैले हुए है । उसमें कुत्सा है, लिप्सा है, ईर्ष्या और द्वेष उसमें है, मद और मत्सर उसमें है । इस समूचे मनुष्य को साहित्य में स्वीकार करना होगा । आज का मनुष्य सुन्दर से अधिक बीभत्स के निकट है, इस लिये साहित्य को भी

अधिकार नहीं कि वह सुन्दर के निकट जाय। उसे बीभत्स को उतनी ही पूरी तरह स्थान देना होगा जितना कि उसने वर्तमान जीवन में ले रखा है। जिसको देखकर ग्लानि होती है, जुगुप्सा आती है, उस सबसे भी बचना नहीं होगा। गन्द और मैल और सड़ान को भी साहित्य में उसी प्रकार अपनाना होगा कि जैसे धरती उन सबको अपने शरीर पर धारण करती है। धरती पर सरोवर है, और दलदल भी है,—वह सबका मैल अपने ऊपर स्वीकार करती है। ऐसे ही साहित्य को निकृष्ट को और त्याज्य को घृण्य को और असह्य को भी स्वीकार करना होगा। बल्कि अधिकांश उसी की ओर उसे देखना होगा। स्वप्न में सौंदर्य है, यथार्थ में वह कहां है ? जो यथार्थ में है और जो जिस अनुपात में है उसी रूप में साहित्य में उसे प्रतिबिम्बित करना होगा। अगर यह सच है कि शिश्नोदर समस्या हमारे जीवन पर व्यापी हुई है तो उससे बच कर किसी साहित्य को नैतिकता की ओर नहीं भागना होगा। पलायन-वृत्ति में साहित्य का अशुभ है। साहस के साथ यथार्थ की सब कदर्य जघन्यताओं का सामना करना होगा। और साहित्य वही है जो यथार्थ का सच्चा अक्स उतार कर हमें पेश करता है।

लेकिन साहित्य की गति अगर में योग देना है तो इस प्रतिनिधित्व के कर्तव्य से साहित्य को बांधना कठिन हो जायगा।

क्या मनुष्य को वही रहना है जो है ? क्या जीवन स्थिर है, अथवा कि गतिशील है ? क्या उसको उठना और बढना नहीं है ?

अगर उठना है तो कुछ जरूर है जिसे नीचे छोड़ देना होगा और वह भी कुछ जरूर है कि जिस दिशा में उठना होगा। अगर बढ़ना है तो कुछ पीछे छूटेगा, और किसी की तरफ आगे बढ़ा जायगा। जो है सब लेकर गति न होगी। इसलिये स्थिति से बंधना गति से बचना है। और गति के लिये आज का यथार्थता को साथ लिये चलने का आग्रह कुछ छोड़ना होगा।

प्रतिनिधित्व या उन्नयन

कदम उठेगा, तभी चलना सम्भव है। पैर जहाँ पडे, अगर उसी जगह को पकड लेना चाहे, तो गति कैसे होगी ? जहा पैर पडते है वह तो राह है। मजिल आगे है, वहा कि जहा का पैरो को पता नही है। आखे भी वहा तक नही पहुचती है, मन में ही उसकी झाँकी रहती है। उस श्रद्धा के जोर से ही आख आगे देख रही है और पैर बढते चले जा रहे है। पैर उधर बढेगे कि जिधर आँख देखती है। और आँख उधर देखेगी कि जहा मन की श्रद्धा का ध्यान है। जहा पैर पड रहे है उस जगह पर मन को भी केन्द्रित किया जायगा तो पाव बढ नही पायगे और गति रुक जायगी।

इसलिये साहित्य उसके प्रतिनिधित्व के लिये नही है जो यथार्थ है। वह है इसलिये कि सम्प्रति के यथार्थ से आदमी को बधने न दे, बल्कि आगे बढ़ाये, ऊ चा उठाये। वह आदर्श की झाकी देने के लिये है, भविष्य की अवतारणा के लिये है। वर्तमान की व्यवस्था उसपर नही है, क्योकि वर्तमान के उन्नयन का दायित्व उस पर है।

अत मनुष्य की निकृष्टता में उसे खखोलना नही है, अपनी उत्कृष्टता की श्रद्धा मनुष्य में जगा देना है। अपने विकारो से व्यक्ति पराजित है तो इसी लिये कि अपनी निर्विकारता की निष्ठा उसमे मूर्छित हो गई है। व्यक्ति मे अपनी ही सम्भावनाओ को जाग्रत करना है। नही है वह दुष्ट, नही है निकृष्ट, नही है घृण्य। वह उज्ज्वल आत्मखण्ड है। बिकारो मे अपने को भूल बैठा है। उन्ही की याद दिलाकर उस की दृष्टि को सीमित भर किया जा सकेगा। इस असत् मे से उसे उबारने के लिये उसमें विराटता का स्वप्न जगा उठाना होगा। वह क्षुद्र नही है, हीन नही है। वीभत्स और असुन्दर नही है। वह निर्मल है, समर्थ है, और आकाश की भाति महान है।

साहित्य क्या वही नही है जो व्यक्ति को इस तरह देश की सीमितता और काल के बन्धन से ऊपर उठाकर उसमें अपने बृहत् रूप की चेतना उद्दीप्त करे ? क्या वही साहित्य नही है जो अपनी निजता से उसे मुक्ति

दिलाये और निखिलता से उसका अभेद स्थापित करे ? वह कैसा साहित्य, जो व्यक्ति के आगे दर्पणवत् आकर उसे असमर्थ और हीन दिखाता है, जो वर्तमान की त्रुटियो पर इतना ध्यान देता है कि भविष्य की परिपूर्णताओं को ओझल कर देता है ! इसलिये साहित्य को क्षणिक और कृत्रिम यथार्थ की तरफ पीठ देकर, बल्कि उस पर पाँव देकर, आदर्श के चित्रण की ओर ही उठना होगा।

इस तरह यथार्थ और आदर्श के प्रतिद्वद्वी अपनी अपनी बात कहते है।

पहले भाई कर्मण्य है और सार्वजनिक सभा के कार्यकर्ता है। दूसरे भाई कवि है और सभा-समाजो से अलग रहते है।

कर्मण्य कार्यकर्ता ने कहा हमे जनता की तरफ देखना है। साहित्य आखिर क्या उन्ही के लिये नही है ? सब उन्ही के लिये है। हम जनता का स्वराज्य चाहते है। साहित्य क्या इसमे योग न देगा ? वह कैसा साहित्य जो अपने सुख और सौदर्य में मग्न रहना चाहता है—जबकि बच्चे बिलख रहे है और श्रमिक मुहताज हैं' !

कवि भाई ने कहा ·

"मेरे पास जो है वही लेना हो तो मुझ से ले जाओ। मेरे पास सपने है। और सुन्दर-सुन्दर सपने। मेरे पास श्रेष्ठतम वही है। उससे हल्की मैं चीज दूँ तो मेरा और जनता दोनो का अपमान है। लेकिन तुम्हे निश्चय है कि साहित्य को तुम्हारे पीछे चलना चाहिये ?"

कर्मठ ने कहा . हा, क्योकि मेरा मन जनता की ओर है।

"तो जनता किधर जायगी ? तुम उसके नेता हो, और तुम उसी की तरफ जाते हो ! भला फिर जनता तुम्हारे पीछे कैसे आयेगी ? मेरी सुनो . तुम समर्थ हो, जनता के उपासक न बनो। ऐसे उससे तुम्हे स्वाधीनता रहेगी। आखें सूरज की ओर रखो और पैर वहां जहा जनता के पैर है। फिर सूरज की तरफ आख रखकर उधर ही उधर को बढो। ऐसा करोगे तो जनता तुम

से नाराज नही होगी। और मुझ से सूरज के गीत गाने के लिये तुम नाराज न होगे। *

* पंक्ति यहीं तक लिखी मिलीं। स्पष्ट है कि वार्ता अधूरे में छूटी है।

: ६ :

सत्य, शिव, सुन्दर

'सत्य शिव सुन्दर'—यह पद आजकल बहुत लिखा-पढा जाता है। ठीक मालूम नही कौन इसके जनक है। जिनकी वाणी में यह स्फुरित हुआ वह ऋषि ही होगे। उनकी अखड साधना के फल-स्वरूप ही, भावोत्कर्ष की अवस्था में, यह पद उनकी गिरा से उद्गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालातर मे सस्ता नही पड जाता ? यही हाल ऋषि-वाक्यो का होता है।

किन्तु महत्तत्व को व्यक्त करने वाले पदो को सस्ते ढग से नही लेना चाहिये। ऐसा करने से अहित होगा। आग को जेब मे रखे फिरने में खैर नही है। या तो जो जेब मे रख ली जाती है वह आग ही नही है, या फिर उसमें कुछ भी चिनगारी है तो जेब मे नही ठहरेगी। सबको जला कर वह चिनगारी ही प्रोज्ज्वल बनी दमक उठेगी।

'सत्य शिव सुदर' पद का प्रचलन घिसे पैसे की न्याई किया जा रहा है। कुछ नही है तो इस पद को ले बढो। यह अनुचित है। यह असत्य है, अनीतिमूलक है। शब्द कीमती चीज़ है। आरम्भ मे वे मानव को बडी वेदना की कीमत मे प्राप्त हुए होगे। एक नये शब्द को बनाने मे जाने मानव-हृदय को कितनी तकलीफ झेलनी पडी होगी। उसी बहुमूल्य पदार्थ को एक परिश्रमी पिता के उडाऊ लडके की भाति जहा-तहा असावधानी से फंकते चलना ठीक नही है। कृतघ्न ही ऐसा कर सकता है।

'सत्य शिव सुन्दर' पद से हम क्या पायें, क्या लें, यह समझने का प्रयास करना चाहिये। उस शब्द की मारफत यदि हम कुछ नही लेते है

और हमारे पास देने को भी कुछ नही है, तो उस पद के प्रयोग से बचा जा सकता है। ऐसी अवस्था मे बचना ही लाभकारी है।

महावाक्यो मे गुण होता है कि वे कभी अर्थ से खाली नही होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थ को खीच निकाल कर उन शब्दो को खोखला नही बना सकता। उन वाक्यो मे आत्मानुभव की अटूट पूँजी भरी रहती है। जितना चाहो उतना उनसे लिये जाओ, फिर भी मानो अर्थ उनमे लबालब भरा ही रहता है। असल मे वहा अर्थ उतना नही जितना भाव होता है। वह भाव वहा इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आदि-स्रोत से सम्बन्ध है। इसीलिए ऐसे वाक्यो में जब कि यह खूबी है कि वे पडित के लिए भी दुष्प्राप्य हो, तब उनमें यह भी खूबी होती है कि वे अपडित के लिए भी, अपने वित्त-मुताबिक, सुलभ बने रहे।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदो का सार अपने सामर्थ्य जितना ही हम पा सकते है, या दे सकते है। यहाँ जो 'सत्य शिव सुन्दर' इस पद के विवेचन का प्रयास है, उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धि के परिमाण का द्योतक मानना चाहिये।

सत्य, शिव, सुन्दर—ये तीनो एक वजन के शब्द नही है। उनमें क्रम है, और अन्तर है।

सत्य-तत्व का उस शब्द से कोई स्वरूप सामने नही आता। सत्य सत्य है। कह दो, सत्य ईश्वर है। यह एक ही बात हुई। पर वह कुछ भी और नही है। वह निर्गुण है। वह सर्व-रूप है। सज्ञा भी है, भाव भी है।

सत् का भाव सत्य है। जो है वह सत्य के कारण है, उसके लिए है। इस दृष्टि से असत्य कुछ की हस्ती ही नही। वह निरी मानव-कल्पना है। असत्, यानी जो नही है। जो नही है उसके लिये यह 'असत्' शब्द भी अधिक है। इसलिये असत्य शब्द मे निरा मनुष्य का आग्रह ही है, उसमें चरितार्थ

कुछ नही है । आदमी ने काम चलाने के लिए वह शब्द खडा कर लिया है । यह कोरी अयथार्थता है ।

इस तरह 'सत्यता' शब्द भी यथार्थ नही है । वह शब्द चल पडा तो है, पर केवल इस बात को सिद्ध करना है कि मानव-भाषा अपूर्ण है ।

जो है वह सत् । जो उसको धारण कर रहा है, वह सत्य ।

अब 'शिव' और 'सुन्दर' शब्दो की स्थिति ऐसी नही है । शिव गुण है, सुन्दर रूप है । ये दोनो सम्पूर्णतया मानवानुमान अथवा सवेदन द्वारा ग्राह्य तत्व है । ये रूप-गुणातीत नही है, रूप गुणात्मक है । ये यदि सज्ञा है तो उनके भाव जुदा है,—शिव का शिव ता और सुन्दर का सुन्दर-ता । और जब वे स्वय में भाव है तब उन्हे किसी अन्य तत्व की अपेक्षा है—जैसे 'यह शिव है' 'वह सुन्दर' है । 'यह' या 'वह' उनके होने के लिए जरूरी है । उनकी स्वतत्र सत्ता नही है ।

ऊपर की बात शायद कुछ कठिन हो गई । मतलब यह कि सत्य निर्गुण है । शिव और सुन्दर उसी के ध्येय रूप है । सत्य ध्येय से भी परे है । वह अमूर्तीक है । शिव और सुन्दर उसका मूर्तीक स्वरूप है ।

निर्गुण निराकार अन्तिम सचाई का नाम है सत्य । वही तत्व मानव की उपासना में सगुण, साकार, स्वरूपवान बनकर शिव और सुन्दर हो जाता है ।

सत्य की अपेक्षा शिव और सुन्दर साधना-पथ है, साध्य नही । वे प्रतीक है, प्रतिमा है । स्वय आराध्य नही है, आराध्य को मूर्तिमान करते है ।

शिव और सुन्दर की पूजा यदि अज्ञेय सत्य के प्रति आस्था उदित नही करती, तो वह अपने आप में अह-पूजा है । वह पत्थर-पूजा है । वह मूर्ति-पूजा सच्ची भी नही है ।

सच्ची मूर्ति-पूजा वह है, जहाँ पूजक के निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस मूर्ति की सचाई मूर्ति से अतीत भी हो।

इस निगाह से शिव और सुन्दर पडाव है, तीर्थ नही है, इष्ट-साधन है, इष्ट नही है। इष्ट भी कह लो, क्योकि इष्टदेव की राह मे है। पर यदि राह में नही है, तो वे अनिष्ट है।

लेकिन यहा हम कही गडबड मे पड गये मालूम होते है। जो सुन्दर है, वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है? और शिव तो शिव है ही। वह अनिष्ट हो जाय तो शिव ही क्या रहा?

बात ठीक है। लेकिन शिव का शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धि पर स्थगित है। सुन्दर का सौदर्य-निरूपण भी मानव-भावना के अधीन है। मानव-बुद्धि अनेकरूप है। वह देश-काल में बँधी है। इसलिए ये दोनो (शिव, सुन्दर) अनिष्ट भी होते देखे जाते है। इतिहास में ऐसा हुआ है, अब भी ऐसा हो रहा है।

सत्य स्वय-भव है, एक है, उसे आलबन की आवश्यकता नही है। सब विरोध उसमे लय हो जाता है। उसके भीतर द्वित्व के लिए स्थान नही है। वहाँ सब 'न'-कार स्वीकार है।

शिव और सुन्दर को आलबन की अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव सभव है। अशिव को पराजित करने वाला शिव। यही बात सुन्दर के साथ है। असुन्दर यदि हो ही नही तो सुन्दर निरर्थक हो जाता है। दोनो बिना द्वित्व के सभव नही है।

सक्षेप में हम यो कहे कि सत्य अनिर्वचनीय है। उस पर कोई चर्चा-आख्यान नही चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्र का अन्तरात्मा है।

और जिन पर बात-चीत चलती और चल सकती है, वे है शिव

और सुन्दर। हमारी प्रवृत्तियो के व्यक्तिगन लक्ष्य ये ही दो है—शिव और सुन्दर।

सत्य अनन्त है, अकल्पनीय है। अत हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते है, वह एकागी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नही।

इस स्वीकृति मे से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो प्रेम। उसी को फिर अहिसा भी कहो, विनम्रता भी कहो। यानी कि इस प्रसन्न स्वीकृति का अवकाश कि मेरा विरुद्ध भी सच है, उसका नाश नही चाहा जा सकता।

यदि मूल मे प्रेम की प्रेरणा नही है तो शिव और सुन्दर की समस्त आराधना भ्रात है। सुन्दर और शिव की प्राप्ति के अर्थ यात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्म की दीक्षा पाए, उसका अभिषेक ले।

प्रेम कसौटी है। सुन्दर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उस पर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा वह खरा है। खोटा निकल जायगा, वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्ति को इस शर्त को पूरा करना होगा। जो करती है वह विधेय है, जो नही करती वह निषिद्ध है। सुन्दर के नाम पर अथवा शिव के नाम पर जो प्रवृत्ति प्रेम-विमुख वर्तन करेगी वह मिथ्या होगी। दूसरे शब्दो मे वह अशिव होगी, असुन्दर होगी, चाहे तात्कालिक 'शिव'-वादी और 'सुन्दर'-वादी कितना भी इससे इनकार करे।

असल मे मानव की मूल वृत्तियाँ मुख्यत दो दिशाओ में चलती है—एक वर्तमानता के रस की ओर, दूसरी गुह्य एव इहातीत की ओर। एक में आनन्द की चाह है, दूसरे मे मगल की खोज है। एक का काम्यदेव सुन्दर है, दूसरी का आराध्यदेव शिव है।

यम-नियम, नीति-धर्म, योग-शोध, तपस्या-साधना, इनके मूल मे

शिव की खोज हैं। इनकी आख भविष्य पर है। साहित्य-सगीत, अराधना-अर्चना, कला-क्रीडा, इनमे सुन्दर के दर्शन की प्यास है। इनमे वर्तमान को थाह तक अपना लेने की स्पर्द्धा है।

आरम्भ से दोनो प्रवृत्तियो मे किंचित् विरोध-भाव दीखता आया है। शिव के ध्यान में तात्कालिक सौन्दर्य को हेय समझा गया है। यही क्यो, उसे बाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीय को हाथ से छोडकर मगल-साधना की बहक मे बहना निरी मूर्खता और विडम्बना मान लिया गया है। तपस्या ने क्रीडा को गर्हित बताया है और उसी दृढ निश्चय के साथ लीला ने तपस्या को मनहूस करार दिया है। दोनो एक दूसरी को चुनौती देती और जीतती-हारती रही है।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुन्दर में सत्य की अपेक्षा कोई विरोध नही है। दोनो सत्य के दो पहलू हैं। दोनो एक दूसरे के पूरक है। पर अपने आप मे सिमटते ही दोनो में अनबन हो रहती है। और इस तरह भी वे दोनो एक प्रकार से परस्पर सहायक होते है, क्योकि दोनो एक दूसरे के लिये अकुश, एक-दूसरे की सीमा, मर्यादा बनते हैं।

मनुष्य और मनुष्य-समाज के मगल-पक्ष को प्रधानता देने वाले नीति-नियम जब-तब इतने निर्मम हो गये है कि जीवन उनसे व्यवस्था पाने और सॅवरने बजाय कुचला जाने लगा है। तब इतिहास के नाना कालो मे, प्रत्युत प्रत्येक काल मे, जीवन के आनन्द-पक्ष ने विद्रोह किया है और वह फूट उभरा है। इधर जब इस भोगानन्द के पक्ष मे अतिशयता हो आई है तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-कानून पुन बनें और जीवन के उच्छृङ्खल अपव्यय को रोक कर सयत कर दे।

इस कथन को पुष्ट करने के लिए यहाँ इतिहास मे से प्रमाण देने की आवश्यकता नही है। सब देशो और सब कालो का इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है। स्वय व्यक्ति के जीवन मे इस तथ्य को प्रमाणित

करने वाले अनेकानेक घटना-सयोग मिल जायगे। निश्चय ही वैसे प्रमाण प्रचुर परिमाण मे किसी भी शोधक को स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, साहित्य-सगीत, मठ-मंदिर, दर्शन-सस्कृति और इधर समाज-नीति और राज-नीति के क्रमिक विकास के अध्ययन मे से जगह-जगह प्राप्त होगे ।

व्यक्तित्व के निर्माण मे प्रवृत्ति का और निवृत्ति का समान भाग है। जहाँ शिव प्रधान है—वहाँ निवृत्ति प्रमुख हो जाती है। वहाँ वर्तमान को थोडा-बहुत कीमत में स्वाहा करके भविष्य बनाया जाता है। जहाँ सुन्दर लक्ष्य है, वहा प्रवृत्ति मुख्य और निवृत्ति गौण हो जाती है। वहाँ भविष्य पर बेफिक्री की चादर डाल कर वर्तमान के रस को छक कर लिया जाता है। वहा ज्ञान लक्ष्य नही है, प्राप्ति भी लक्ष्य नही है, मग्नता और विस्मृति लक्ष्य है। वहा सुख की सँभाल नही है, काम्य मे सब कामनाओ समेत अपने को खो देने की चाह है। पहली साधना है, दूसरा समर्पण है।

आरंभ मे जो सकेत में कहा वही यहा स्पष्ट कहे, कि आनन्द-हीन साधना उतनी ही निरर्थक है जितना साधना-हीन आनन्द निष्फल है। वह सुन्दर कैसा जो शिव भी नही है, और शिव तो अनिवार्य सुन्दर है ही। इस दृष्टि से मुझे प्रतीत होता है कि सुन्दर को फिर शिव-ता का ध्यान रखना होगा। और शिव को सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है, तो वह सुन्दर तो है ही।

अर्थात्, जीवन में सौदर्योन्मुख भावनाओ को नैतिक (शिवरूप) वृत्तियो के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नही है। शुद्ध नैतिक भावनाओ को खिझाती हुई, उन्हे कुचलती हुई जो वृत्तिया सुन्दर की लालसा मे लहकना चाहती है वे छल कर विकृति को जन्म दिय बिना रह नही सकती। वे कही न कही विकृत है। सुन्दर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ

लपकना चाहती है, वह सुन्दर नही है। केवल छद्म है, विभास है, सुन्दर की मृग-तृष्णिका है।

सामान्य बुद्धि का अपेक्षा से यह समझा जा सकता है कि शिव को तो हक है कि वह मनोरम न दीखे, पर सुन्दर को तो मगलसाधक होना ही चाहिये। जीवन का सयम-पक्ष किसी तरह भी जीवनानन्द के मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनन्द विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाज की अपेक्षा मे देखे तो क्या दीखता है ? स्वभावता लोग जिनका जीवन रगीन है और रगीनी का लोलुप है, जिनके जीवन का प्रधान तत्त्व आनन्द और उपभोग है, जो स्वय सुन्दर (!) रहते और सुन्दर की लालसा लिये रहते हैं, जो बेफिक्री के निरे वर्तमान मे रहते है और जिनमे शिव-तत्त्व पर्याप्त नही है—ऐसे लोग समाज मे किस स्थान पर है ? क्या माननीय स्थान पर ?

दूसरी ओर वे, जिनमें जीवन का प्राण-पक्ष मूर्छित है, विधि-निषेधो से जिनका जीवन ऐसा जकडा है कि हिल नही सकता और तरह-तरह के आतरिक रोगो को जन्म दे रहा है, जो इतने सावधान है कि उनमे स्वाभाविकता और सजीवता ही नही रह जाती, जो पाबद है कि मानो जीते-जागते है ही नही—ऐसे लोग भला किस अश तक कृतकार्य समझे जा सकते है ?

दोनो तरह के व्यक्ति सपूर्णता से दूर है। फिर भी यह देखा जा सकता है कि आत्म-नियमन की प्रवृत्ति आनन्दोपभोग की प्रवृत्ति से किसी कदर ऊची ही है। जहाँ वह जीवन को दबाती है और उसे बढाने में किसी प्रकार से सहायता नही देती, वहाँ वह अवश्य अयथार्थ है और प्राण-शक्ति को अधिकार है कि उसको चुनौती दे दे। फिर भी प्रत्येक सौन्दर्याभिमुख, आनदोत्सुक प्रवृत्ति का धर्म है कि वह नैतिक उद्देश्यो का अनुगमन करे।

अर्थात् वे कलात्मक प्रवृत्तियाँ जिनका लक्ष्य सुन्दर है, उन वृत्तियो के

साथ समन्वय साधें जिनका लक्ष्य कल्याण-साधन है। दूसरे शब्दों में कला नीति-समन्वित हो। और इसके बाद कला और नीति दोनों ही धर्म-समन्वित हों। धर्म का आशय यहाँ मतवाद नहीं;—'धर्म' अर्थात् प्रेम-धर्म।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' यह व्याख्यात्मक पद ही नहीं हैं, सजीव पद है। जीवन का लक्षण है, गति। इस पद में गति है, उद्बोधन है। सुन्दर की ओर, फिर सुन्दर से क्रमशः शिव और सत्य की ओर प्रयाण करना होगा, —यह ज्वलंत भाव उसमें भरा है। यों भी कह सकते हैं कि सत्य को शिव-रूप में उतारकर ध्यान में लाओ, क्योंकि यह सरल है। और शिव को भी सुन्दर रूप से निहारो, क्योंकि यह और भी सहज स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर की मर्यादा है, शिव की भी मर्यादा है। और दोनों ही की मर्यादा है सत्य। सत्य में सब-कुछ अपनी मर्यादाओं समेत मुक्त हो जाता है।

: १० :

दूध या शराब

साहित्य व्यक्ति से पैदा होता है। एक पुस्तक को प्रस्तुत करने में यो छापेखाने के लोग और प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता आदि भी सहयोगी होते है, किन्तु जहाँ तक पुस्तक के हार्द का सम्बन्ध है, वह एक व्यक्ति को ही प्रकट करती है। वह पुस्तक लेखक की है। उसकी अपनी निजी भावनाओ और आदर्शों को व्यक्त करने के लिए वह पुस्तक बनी है।

सिनेमा इस प्रकार एक व्यक्ति की कृति नही है। भिन्न-भिन्न दिशा के कई कलाकार उसको बनाने में लगते है। उसे प्रस्तुत करने में साहित्यिक भी चाहिए, अभिनेता भी, सङ्गीतज्ञ भी, फोटोग्राफर भी— इसी प्रकार अन्य विज्ञान के कलाकार भी।

व्यक्ति समूह से ऊचा उठ सकता है। वह एक है, अपनी निजता में स्वाधीन है, इसलिए जो कुछ भी वह लिखता है, उसमे हार्दिकता और अधिक आदर्शवादिता आ सकती है। अपनी कृति में उसे दूसरे को निभाना नही है। वह स्वप्न लेनेमे स्वच्छन्द है, कल्पना मे स्वच्छन्द है। वह वास्तविकता के धरातल से और व्यवहारी तथ्य से जी चाहे जितना ऊचा उठ सकता है।

समूह को ऐसी आज़ादी नही। समूह इतना ऊचा नही उठ सकता। समूह पार्थिव वास्तविकता से ऐसी आसानी से नाता नही तोड़ सकता। व्यक्ति स्वप्न में रह ले, किन्तु सौ व्यक्ति इकट्ठे होकर एक ही स्वप्न में आसानी से नही रह सकते। उन सबका अपना-अपना निज का व्यक्तित्व ही उसमे बाधक बनता है। समूह में गर्भित प्रत्येक व्यक्ति को जब कि

सामूहिक व्यक्तित्व मे अपना योग-दान करना है, तब उसे अपने पृथक् और निजी अस्तित्व को भी तो सुरक्षित रखना ही है। इसलिए समूह की उडान उतनी ऊची नही हो सकती ।

जहाँ हमारी आख जा सकती है, पैर नही जा सकते । और जहा हमारी बुद्धि जा सकती है, वहा आख नही जा सकती। पैर जमीन पर चलते है, आख आस्मान को भी देखती है। किन्तु क्या आख की स्पर्धा करके पैर अपने को दुर्भागी मान ले और इसलिए जमीन पर चलने से इन्कार कर दे ? पैर यदि ऐसा करेंगे तो वह अधर्म करेगे। वे ऐसा नही कर सकते। उन्हे ऐसा नही करना चाहिए।

अब हम जो एक साथ बुद्धि, आँख और पैर के स्वामी है, क्या पैर का तिरस्कार करे ? हमारे व्यक्तित्व की शर्त ही यह है कि हम इन तीनो अवयवो में विरोध-भाव न पैदा होने दे और उन्हे परस्पर के प्रति निबाहते रहे।

आज यदि हम मस्तिष्क ही मस्तिष्क हो, अन्य स्थूल इन्द्रियो से हम छुट्टी पाले, तो क्या यह बहुत अच्छा होगा ? लेकिन अच्छा चाहे जितना हो, वैसी अवस्था मे हम मनुष्य न रहेगे।

सिनेमा वह वस्तु है जिसमें एक ही साथ भाँति-भाँति के लोगों को निबाहना होता है। जिसके प्रस्तुत करने में ही दसियो प्रकार के कलाकारो का जीवित सहयोग स्थापित करना पडता है। एक सिनेमा के चित्र को प्रस्तुत करने मे सैकडो व्यक्तियो के हृदयो को एक भावना पर आकर केन्द्रित होना पडता है। साहित्य मे ऐसा नही है । साहित्य के प्रस्तोता (प्रस्तुतकर्त्ता) का व्यक्तित्व पहिले ही से गठित है, वह एक है।

इस के साथ ही दोनो के उपकरणो और साधनो मे अन्तर है । जो दृश्य है, अथवा हो सकता है, सिनेमा के लिए वही प्राप्य है। जो

साधारणतया आँखो से नही दीखता, नही दीख सकता, साहित्य की पहुच कल्पना द्वारा वहा भी हो जाती है। साहित्य को जो शब्दो द्वारा करना होता है, सिनेमा उसी को पात्रो चरित्रो और दृश्यो द्वारा करता है। शब्द धारणा (Concept) के द्योतक है। वे ज्यादा लचकदार है। वे आसानी से घटाये-बढाय और गढे जा सकते है। उनके साथ मनमानापन चलने की ज्यादा गुन्जायश है। जीवित प्राणियो और पदार्थो के साथ वैसी अबाध स्वतन्त्रता नही ली जा सकती। लकडी का कुछ बनाना हो, तो आरी-बसूले से उसके साथ परिश्रम दरकार है। जीवित प्राणियो को किसी विशेष रूप मे ढालने के लिए तो और भी सिर-पच्ची करनी होती है। आदमी मे ठोस-पदार्थो से भी ज्यादा अहम्ता' है।

स्पष्ट है कि लचकदार शब्दो को अपने अधीन करके हम जिस सूक्ष्मता का निर्देश कर सकते है, पदार्थो और प्राणियो को लेकर उतनी सूक्ष्मता तक हम शायद नही पहुँच सकते। इसलिये काव्य मे और सिनेमा मे अन्तर रहे, यह अनिवार्य ही है।

लेकिन जैसा मैने पहले कहा, काव्य में और सिनेमा में विरोध मै नही देखता।

माना कि पदार्थ-विज्ञान का सिद्धान्त 'एलेक्ट्रोन्स' पर पहुच गया है और उसी विज्ञान का प्रयोग-सिद्ध रूप बेचारा अभी उससे कोसो दूर है। लेकिन क्या इससे यह मान लिया जाए कि पदार्थ-विज्ञान की 'थियरी मे और 'प्रेक्टिस' में विरोध है ? ऐसा नही है। हाँ अन्तर है, लेकिन वह अन्तर तो मात्र इस लिए है कि प्रयोग 'सिद्धान्त' को सामने रख-कर आगे बढता चले। वह अन्तर न रहे तो प्रगति कैसे हो ?

यही बात यहाँ भी समझनी चाहिये।

यहा यह बहस न छेडी जाये कि प्रैक्टिस का महत्त्व अधिक है, 'थियरी' तो हवाई चीज़ है। यह तो जो जहाँ रहता है उसके अपने मान पर निर्भर है। कोई पैसे को बडा समझता है, दूसरा ईमानदारी को

बडा समझता है। पैसे को बडा समझने वाले के लिए पैसा ही बडा है। लेकिन जिसने ईमानदारी को पैसे से बडा बनाकर देख लिया है उसके निकट फिर पैसे को कौनसा तर्क ऊँचा बनाकर दिखा सकता है ?

इसलिये यह तो मुझे यहा कहना नही कि सूक्ष्म ज्यादह उपयोगी है कि स्थूल। मात्र इतना ही समझाना है कि स्थूल से सूक्ष्म को अपना नाता नही तोडना चाहिये।

हमारे भारतीय फिल्मो की गति देखते यह कहना पडता है कि उस के अधिकारी इस बात को ठीक तरह नही समझते। तब साहित्य उनसे असन्तुष्ट हो तो क्या आश्चर्य ! सिनेमा शराब हो, जब कि साहित्य दूध, ऐसी बात नही है। लेकिन वह यदि दूध न होना चाहे तो अवश्य बुरी बात है। मुझे यही मालूम होता है कि सिनेमा को दूध होना चाहिए, वैसे होने की कोशिश करते रहता चाहिए। सिनेमावालो को शायद अपने इस दायित्व का पता नही है।

सिनेमा के मूल में की प्रेरणा भी अभी शायद पैसे के तल से ऊची नही है। फिलासफी की बात नही कहता हू। फिलासफी तो समस्त जीवन को सत्यान्वेषण की परिभाषा मे देख लेती ही है। पर मै कहना चाहता हूँ कि आज-कल हमारा सार्वजनिक जीवन भी ठोस पैसे से नीति की भावना की ओर उठने लगा है। हम सिनेमा जैसे व्यवसाय से जिसका कि प्रभाव तुरन्त और जबर्दस्त होता है यह माग करेंगे कि वे पैसे के धरातल से भावना में ऊँचे उठें।

सिनेमा के वातावरण मे शरीर प्रधान है। उस मे ऐंद्रियिकता बहुत है। मुझे कहना है कि वहाँ बौद्धिक और आत्मिक सम्भावना को स्थान मिलना चाहिये। शारीरिक-तल पर रहकर जो चीज़ बनायी जाती है उसका सार्वजनिक महत्व उतना ही कम है। यो तो शराब भी बनती है, लेकिन उस पर विवेचन करने लोग नही बैठा करते। लेकिन सिनेमा तो सार्वजनिक प्रभाव की वस्तु है। वह अपने महत्व से गिरे, यह कैसे सहन

किया जाये ? उसमें ताकत है। उस अपनी ताकत को सिनेमा न पहचाने और उसका अपव्यय होने दे, तो यह क्यो न चिन्ता का विषय बन जाये? इसीलिये इस बात को अखबार के कॉलमो में और दूसरी जगह चिन्ता और विवेचना का विषय बनाया गया है। दूसरे राष्ट्र इस सिनेमा के साधन से कितना अपना सस्कृति का भला कर रहे है। हम फिर सामर्थ्य रहते हुये उस महत्वपूर्ण साधन को अपने भारतवर्ष में निकम्मा क्यो रहने दे ?

इस दिशा मे कुछ साहित्यिको ने प्रवेश किया। उन का क्यो कोई खास असर आती हुई फिल्मो पर दिखायी नही देता ? यदि कुछ परि-स्थिति की लाचारी है और फिल्म अच्छे बन ही नही सकते, तो फिर वे उस लाइन मे ठहरे हुए क्यो है ?

अगर साहित्य और सिनेमा मे लेन-देन स्थापित नही किया जा सकता, तो में विरोध स्थापित करने के भी विरोध में हू। यदि साहित्यिक सिनेमा से असन्तुष्ट है तो उसे चाहिये कि वह आत्म-विश्वासी बने। सिनेमा मे जाये तो वहा अपने दायित्व को भूले नही। दायित्व का पालन नही सम्भव है, तो वहाँ न जाये।

मै अनुभव करता हू कि साहित्यिक रुष्ट तो अवश्य है, पर वह आत्म-विश्वासी नही है। वह सिनेमा मे जाना चाहता भी है, और उसे गाली भी सुनाना चाहता है। दोनो बाते गलत है। यदि वह अपनी साहित्यिकता सिनेमा के क्षेत्र मे नही निभा सकता, तो स्पष्ट है कि वह सिनेमा से किनारा लेकर और सच्चाई के साथ साहित्य के क्षेत्र में अपने दायित्व-पालन में लग जाये। मुझे इसमें सन्देह है कि हमारे साहित्यिक ने अपनी लगन का विशेष प्रभाव फिल्म-निर्माता पर छोडा हो। उसे चाहिये कि वह अपनी लगन के प्रति सच्चा रहे। तब मेरा अनुमान है कि उसे तीव्र आलोचना की फुरसत कम रहेगी और सिनेमा-निर्माता को भी आज नही तो कल उसकी ओर ध्यान देना होगा।

: ११ ·

साहित्य और साधना

भाइयो,

साहित्य के सम्बन्ध मे मैंने कुछ पढा नही है, किन्तु सुना यह जरूर है और कई बार है कि जो प्रेम के ढाई अक्षर पढ लेता है वह पडित होता है। पडित चाहे नही, साहित्यिक होता है, इसे आज मै प्रत्यक्ष अनुभव करता हू। साहित्य के क्षेत्र मे पुस्तको का ज्ञान उतना आवश्यक नही है जितनी आवश्यकता है साधना और उपासना की। विश्व के हित के साथ एकाकार हो जाय, यही जीवन का लक्ष्य है। बाह्य जीवन से अन्तर जीवन का सामजस्य हो, इस सत्य को सिद्ध करने मे ही जीवन की सार्थकता है। ग्रन्थो के पढने से हम मे बडा विभेद उत्पन्न हो जाता है। साधना का विषय है साहित्य। आप वर्णमाला भी चाहे न जाने, आपको एक अक्षर का भी ज्ञान न हो, किन्तु, आपके मुख से कोई वाणी उद्भूत हो और सम्भव है आप में का कवि बोल उठे, वह वाणी सबके हृदयो को प्लावित कर दे। वह वस्तु पढने या पढाने से [illegible] नही हो सकती, उससे तो इसका कोई सम्बन्ध ही नही। साहित्य का सीधा सम्बन्ध साधना से है। साहित्य यदि लिखने की चीज होती तो बहुत बढिया चीज चाहे होती, पर यदि वह लिखने की ही होती तो आपके या मेरे हृदय की चीज नही हो सकती थी। हमारी भावनाएँ आत्मा से निकलती है, जहाँ उनका व्यक्तिकरण हुआ वही साहित्य हुआ। अक्षराभ्यास तो उसके बाद की बात है।

जब तक सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति हम में है तब तक हम सुन्दर

ाहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। यदि नही, तो वह व्यर्थ है,—उसमे केवल दो-चार बुद्धिवादी मनुष्य ही आनन्द पा सकते हैं। जीवन से अनपेक्षित होकर साहित्य न जिन्दा रहा है, न रह सकता है। जीवन की जितनी समस्याएं हैं वे हमारे सामने जीवित समस्याओ के रूप मे उपस्थित हों। वाल्मीकि और तुलसी आदि कोई बड़े विद्वान न थे,—जो साहित्य के धुरन्धर चूडामणि कहलाते हैं, उन जैसे विद्वान न थे,—वे तो सन्त थे। वे ही हमारे लिए सुन्दर से सुन्दर साहित्य छोड गये हैं और उनका जीवन विश्व के हित के लिए बलिदान हो गया है। हमारा और साहित्य का जो सम्बन्ध रहा है वह किताब का विषय बना हुआ है, जीवन का नही। उसी को कुछ जीवित चीज़ बनाना होगा।

जो विद्वान् के लिए भी गूढ है वह जन साधारण को भी साधारण हो जाता है। जो साहित्य सबसे ऊँचे दर्जे का है वह विद्वान के लिए उतना ही सुन्दर है जितना जन साधारण के लिए। फिर भी उसमे इतनी गूढता है कि उसकी सचाई का अन्त नही है। भाषा चाहे जैसी हो, भावना और शैली चाहे जैसी हो, व्याकरण का परिष्कार भी न हो, किन्तु वह जीवन की, हृदय की, चीज़ ज़रूर हो। वह हमारी कमजोरियो की दीवार मे झरोखे पैदा कर दे जिसमें शुद्ध हवा आने-जाने लग जाय। बीमार के लिए स्वच्छ हवा कैसे हानिकारक है ? मनुष्य-मनुष्य के बीच मे जो दीवारे खडी कर दी गई है साहित्य उनमें खिडकियाँ खोल देगा। उनके बीच से बहेगा और वह राजसियो के निकट हरिजनो और किसानो का चित्रण करेगा। राजा का चित्रण उसी स्वाभाविक रीति से होगा कि जिससे किसान का भी चित्र प्रतिबिम्बित हो। सब मनुष्य है, सब एक हैं। यही साहित्य का काम है। उसमे चोर को फाँसी देने वाला न्यायाधीश और चोर स्वय एक हो, सब में ईश्वर,—इसका नाम साहित्य है। समन्वय करते-करते वस्तुओ के प्रति द्वद्व का भाव नष्ट हो जाय। महात्माजी ने अपने एक रिकार्ड मे कहा है कि जो है सो परमात्मा है। फिर यह

पाप और पुण्य क्या है ? परमात्मा से पाप कैसे आया ? बात यह है कि पाप भी है और पुण्य भी है, फिर भी पाप के खिलाफ लडते रहो। समाधान श्रद्धा से ही मिलता है। इसी स्वर्गीय समाधान मे साहित्य की सिद्धि है।

: १२ :

साहित्य की सचाई

भाइयो,

मेरी उमर ज्यादा नही है। पढा भी ज्यादा नही हूँ। साहित्य-शास्त्र तो बिल्कुल नही पढा हूँ। फिर भी, लिखने तो लगा। इसका श्रेय परि-स्थितियो को समझिए। यो अधिकार मेरा क्या है? लिखने लगा तो लेखक भी माना जाने लगा। और, आज वह दिन है कि आप विद्वान लोग भी आज्ञा देते है कि मै आपके सामने खडा होकर बोल पडूँ।

आप लोगो द्वारा जब मै लेखक मान लिया गया और मेरा लिखा हुआ कुछ छपने में भी आया, तब मै अपने साहित्यिक होने से इन्कार करने का हक छिना बैठा। लेकिन अपनी अबोधता तो फिर भी जतला ही सकता हूँ। वह मेरी अबोधता निविड़ है। साहित्य के कोई भी नियम मुझे हाथ नही लगे है। साहित्य को शास्त्र के रूप मे मैं देख ही नही पाता हूँ। पर शास्त्र बिना जाने भी मै साहित्यिक होगया हू ऐसा आप लोग कहते है। तब मुझे कहना है कि साहित्य-शास्त्र को बिना जाने भी साहित्यिक बना जा सकता है, और शायद अच्छा साहित्यिक भी हुआ जा सकता है। इसमें साहित्यशास्त्र की अवज्ञा नही है, साहित्य के तत्त्व की प्रतिष्ठा ही है।

साहित्यिक यदि मै हूँ तो इसका मतलब मैने अपने हक मे कभी भी यह नही पाया है कि मै आदमी कुछ विशिष्ट हूँ। इन्सानियत मेरा सदा की भाँति तब भी धर्म है। सच्चा खरा आदमी बनने की जिम्मेदारी से मै बच नही सकता। अगर साहित्य की राह मैने ली है, तब तो भाव की सच्चाई और बात की मिठास और खरेपन का ध्यान रखना और इसी

प्रकार का अन्य सर्व-सामान्य धर्म मेरा और भी धर्म हो जाता है । इस दृष्टि से, मै आज अनुभव करता हूँ कि, साहित्य के लिये वही नियम है जो जीवन के लिये है । मेरी समझ मे नही आता कि जैसा मुझे दुनिया मे रहना चाहिए वैसा साहित्य मे भी क्यो न रहना चाहिए ? जितनी मेरे शब्दो मे मेरे मन की लगन है उतना ही तो उन मे जोर होगा । ज़िन्दगी ही में नही तो शब्दो मे ज़ोर आएगा कहा से ?

अपने जीवन की एक कठिनाई मै आपके सामने रख दू ँ । आख खोल कर जब दुनिया देखता हूँ तो बडी विषमता दिखाई देती है । राजा है और रक है, पहाड है और शिशु है, दु ख है और सुख है ।—यह विषमता देखकर बुद्धि चकरा जाती है । इस विषमता मे क्या सगति है ? क्या अर्थ है ? पर, वैषम्य अपने आप में तो सत्य हो नही हो सकता । विषमता तो ऊपरी ही हो सकती है । दुनिया मे जो कुछ हो रहा है उसके भीतर यदि मै उद्देश्य की,—अर्थ की झाँकी न ले सकू, तो क्या वह सबकुछ पागलपन न मालूम हो ? सब अपना-अपना अहकार लिये दुनिया से अटकते फिर रहे है । इसमे क्या मतलब है ? मैं सच कहता हूँ, कि इसे देखकर मेरा सिर चकरा जाता है । यह चाद क्या है ? आसमान मे ये तारे क्या है ? आदमी क्यो यहा से वहा भागता फिर रहा है ? वह क्या खोज रहा है ? क्या ये सब निरे जजाल ही है, भ्रमजाल ही है ? क्या यह समस्त चक्र निरर्थक है ? इसे जजाल मानें, तो जियेंगे किस विश्वास के बल पर ? अविश्वास पर निर्भर रह कर तो जीना दूभर हो जायगा । जब-जब बहुत आँखे खोलकर और बहुतेरा उन्हे फाडकर जगत् को समझने का प्रयास करता हूँ, तभी तब बुद्धि त्रस्त हो रहती है और मै विफलता में डूब जाता हूँ । और श्रद्धाहीन बुद्धि तो वन्ध्या है, उससे कुछ फल नही मिलता । वह तो लगडी है, हमे कुछ भी दूर नही ले जाती ।

बुद्धि से विज्ञान खडे होते है । हम वस्तु का विश्लेषण करके उसकी व्याख्या करके अणु तक पहुचते है । फिर, बुद्धि वहा अणु के साथ टकराती

रहती है। अन्त मे समझ मे क्या आता है ? अणु बस अणु बना रहता है, थियरी बस थियरी बनी रहती है और जान पडता है कि न अणु की थियरी सत्य है और न कोई और थियरी अन्तिम सत्य हो सकेगी। और सदा की भाति विराट् अज्ञेय हमे अपनी शून्यता मे समाये रहता है और हम भौचक रहते है।

विज्ञान की दूरबीन में से सत्य को देखते-देखते जब आखे हार जाती है सिर दुःख जाता है, बुद्धि पछाड खाकर स्तब्ध हो रहती है, तब हम शान्ति की पुकार करते है। तब हम श्रद्धा की आवश्यकता अनुभव करते है, तब हम चैन के लिए,—रस के लिए बिकल होते है। निरुपाय हो हम आख मीचते है और अपने भीतर से ही कही से रस का स्रोत फूटा देखना चाहते है। और जो आख खोल कर नही मिला, आख मीचकर मिल जाता है। बुद्धिमान् जो नही पाते, बच्चे बच्चे बनकर क्या उसे ही नही पा लेते है ? मै एक बार जगल मे भटक गया। जगल तो जगल था, भटक गया तो राह फिर कैसे मिले ? वहा तो चारो ओर पेड ही पेड थे जिनकी गिनती नही, जिन्हे एक को दूसरे से चीन्हने का उपाय नही। घण्टे के घण्टे भटकते हो गये और मै अधिकाधिक मूढ होता चला गया। तब मै हार कर एक जगह जा बैठा, आख मीच कर अपने भीतर ही म राह खोजने लगा। और मैं आप से कहता हू कि बाहर खोई हुई राह मुझे भीतर ही मिल गई।

आजकल नये विचारो की लहर दौड रही है। में आप को अपनी असमर्थता बतला दू कि मै उन लहरो पर बहना नही जानता। लहरो पर लहराने में सुख होगा, पर वह सुख मेरे नसीब में नही है। हमारे सामने मानव-समाज की बात कही जाती है। मानव-समाज टुकडो मे बॅटा है,—उन टुकडो को राष्ट्र कहते है, वर्ग कहते है, सम्प्रदाय कहते है। उन या वैसे अन्य खण्डो मे खण्डित बनाकर हम उस मानव-समुदाय को समझते है। पर असल मे ऐसी कोई फॉकें है नही। ये फॉके तो हम

अपनी बुद्धि के सहारे के लिए बना के बिठाते है। मानवसमाज का यह विभाजन हमारी बुद्धि हमे प्रकार-प्रकार मे सुझाती है। एक प्रकार का विभाजन अति स्वीकृत हो चला है। वह है—एक मासेज, दूसरी क्लासेज, सर्वसाधारण और अधिकारप्राप्त, कगाल और ऐश-भोग वाले। इन दोनो सिरो के बीच में और भी कई मिश्र श्रेणियो की कल्पना है। इस विभाजन को गलत कौन कहेगा ? लेकिन यह मानना होगा कि विभाजन सम्पूर्ण सत्य नही है। सत्य तो अभेदात्मक है। इस अभेदात्मक सत्य को अपनी बुद्धि से ओझल कर रखने से सकट उपस्थित होगा ।

फिर एक बात और भी है। मानव-समाज ही इति नही है। पशु-समाज, पक्षी-समाज, वनस्पति-समाज भी है। यही क्यो, सूर्य-नभ-ग्रह-तारा-मण्डल भी है। यह सभी कुछ है और सभी कुछ की ओर हमे बढना है। मानव-समाज को स्वीकार करने के लिए क्या शेष प्रकृति को इनकार करना होगा। अथवा कि प्रकृति में तन्मयता पाने के लिए मनुष्य-सम्पर्क से भागना पडेगा ?

दोनो बाते गलत है। धर्म सम्मुखता है। हम उधर मुह रक्खे अवश्य जहाँ वह इन्सान है जो परिश्रम मे चूर-चूर हो रहा है, देह से दुबला है, और दूसरो के समस्त अनादर का बोझ उठाये हुए झुका हुआ चल रहा है।—हम उधर देखें जहाँ पुरुष को इसलिए कुचला जाता है कि दानव मोटा रहे। पीडित मानव समाज की ओर हम उन्मुख रहे, अपने सुख का आत्म-विसर्जन करे—उनकी वेदना मे साझा बटाये। यह सब तो हम करें ही,—करेंगें ही। अन्यथा हमारे लिए मुक्ति कहाँ है ? पर ध्यान रहे, मानव-समाज पर जगत का खात्मा नही है। उस से आगे भी सत्य है, वहाँ भी मनुष्य की गति है, वहाँ भी मनुष्य को पहुचना है।

और इस जगह पर आकर मै कहू कि अरे, जो चॉद-तारो के गीत गाता है, उसे क्या वह गीत गाने न दोगे ? उन गीतो में ससार के गर्भ

से ली गई वेदना को अपने मन के साथ घनिष्ठ करके वह गायक गीत की राह मुक्त कर दे रहा है। उसको क्या प्रस्ताव से और कानून से रोकोगे ? रोको, पर यह शुभ नही है। अरे, उस कवि को क्या कहोगे जो आसमान को शून्य दिगम्बर देखता है, कुछ क्षण उस मे लीन रहता है, और उसी लीनता के परिणाम मे सब वैभव का बोझ अपने सिर से उतार कर स्वयं निरीह बन जाता है और मस्ती के गीत गाता है ? कहें राजनीतिक उसे पागल, पर वह लोक-हितैषी है । उसका प्रयोजन चाहे हिसाब की बही में न आये, पर प्रयोजन उस में है और वह महान् है।

ज्ञान जानने में नही, वैसा बनने में है। Knowledge is being असली जानना पाना है, तद्रूप तन्मय हो जाना है। हम मनुष्य-समाज की सच्ची सेवा स्वय सच्चा मनुष्य बनकर कर सकते है। और अह-शून्य हो जाने से बडी सत्यता क्या है ? कवि स्वयं एकाकी होता है, सम्प्रदाय से विहीन होता है। वह स्वेच्छापूर्वक सबका दास होता है। स्नेह से वह भीगा है और अपने नस-नस में गरीब है। जब वह ऐसा है, तब उसके आगे साम्राज्य की भी बिसात क्या है ? वह सब उसके लिए तमाशा है। उस कवि से तुम क्या चाहते हो ? क्या उससे तुम सुधार चाहते हो ? क्या उससे प्रचार चाहते हो ? अरे, क्यो चाहते हो कि जिस के मन में फकीरी समाई है वह कुनबेदार बना रह कर बस श्रमिक वर्ग की भलाई चाहने वाला साहित्य लिखे ! श्रमिक और मज़दूर वर्ग को साइन्स के द्वारा, 'इज्म' के द्वारा, प्रस्ताव के द्वारा नही जाना जायगा। प्रेम के द्वारा उसे जानना होगा और प्रेम के द्वारा पाना होगा। और जब हम यह करने बढेगे तो देखेगे कि हमे कहा फुरसत रहेगी कि हम बहुत बातें करें। अरे, वैसे फकीर की फकीरी और इकतारा क्यो छीनते हो ? अगर वह नदी के तीर पर साँझ के झुटपटे में अकेला बैठा कोई गीत गा रहा है तो उसे गाने दो, छेडो मत। उसके इस गीत से किसी मजदूर का, किसी

चरवाहे का बुरा न होगा। होगा तो कुछ भला ही हो जायगा। उसको उस निर्जनता से उखाड कर कोलाहलाकुल भीड मे बलात् बिठाने से मत समझो कि तुम किसी का भला कर रहे हो।

व्यक्ति को वेदना की दुनिया पाने दो और पाकर उसे व्यक्त करने दो, जिससे कि लोगो के छोटे-छोटे दिल कैद से मुक्ति पाये और प्रेम से भर कर वे अनन्त शून्य की ओर उठे।

अभी चरचा हुई कि क्या लिखे, क्या न लिखें। कुछ लोग इसको साफ जानते है, पर मेरी समझ तो कु ठित होकर रह जाती है। मै अपने से पूछता रहता हू कि सत्य कहा नही है ? क्या है जो परमात्मा से शून्य है ? क्या परमात्मा अखिलव्यापी नही है ? फिर जहाँ हूँ, वहाँ ही उसे क्यो न पा लू। भागू किस की ओर ? क्या किसी वस्तु विशेष मे वह सत्य इतनी अधिकता से है कि वह दूसरे मे रह ही न जाय ? ऐसा नही है। अत निषिद्ध कुछ भी नही है। निषिद्ध हमारा दभ है, निषिद्ध हमारा अहकार है, निषिद्ध हमारी आसक्ति है। पाप कही बाहर नही है, वह भीतर है। उस पाप को लेकर हम सुन्दर को बीभत्स बना सकते है और भीतर के प्रकाश के सहारे हम घृण्य मे सौन्दर्य का दर्शन कर सकते है।

एक बार दिल्ली की गलियो मे आँख के सामने एक अजब दृश्य आ गया। देखता हू कि एक लडकी है। बेगाना चली जा रही है। पागल है। अठारह-बीस वर्ष की होगी। सिर के बाल कटे है। नाक से द्रव बह रहा है। काली है। अपरूप उसका रूप है। हाथ और बदन मे कीच लगी है। मुह से लार टपक रही है। वह बिलकुल नग्न है। मैने उसे देखा, और मन मतली दे आया। अपने ऊपर से काबू मेरा उठ जाने लगा। मैने लगभग अपनी आँखे मीच ली और झटपट रास्ता काटकर मै निकल गया। मेरा मन ग्लानि से भर आया। कुछ भीतर बेहद खीज थी, त्रास था। जी घिन से खिन्न था। काफी देर तक मेरे मन पर वह खीज छाई रही।

किन्तु, स्वस्थ होने के बाद मैने सोचा, और अब भी सोचता .हू, कि क्या वह मेरी तुच्छना न थी ? इस भांति सामने आपदा और विपदा और निरीह मानवता को पाकर क्या स्वय कन्नी काटकर बच निकलना होगा ? मै कल्पना करता हूँ कि क्राइस्ट होते, गौतम बुद्ध होते, महात्मा गान्धी होते तो वे भी क्या वैसा ही व्यवहार करते ? वे भी क्या आँख बचाकर भाग जाते ? मुझे लगता है कि नहीं, वे कभी ऐसा नही करते । शायद वे उस कन्या के सिर पर हाथ रख कर कहते—आओ बेटा, चलो, मु ह-हाथ धो डालो, और देखो यह कपडा है, इसे पहिनलो । मुझे निश्चय है कि वे महात्मा और भी विशेषतापूर्वक उस अभागिनी बाला को अपने अन्तस्थ करुण प्रेम का दान दिए बिना न रह पाते ।

पर नग्नता हमारे लिए अश्लीलता है न ? सत्य हमारे लिए भयकर है, जो गहन है वह निषिद्ध है, और जो उत्कट है वह बीभत्स । अरे, यह क्या इसीलिए नही है कि हम अपूर्ण है, अपनी छोटी-छोटी आसक्तियो में बधे हुए है । हम क्षुद्र हैं, हम अनधिकारी है । मैंने कहा है अन-धिकारी । यह अधिकार का प्रश्न बडा है । हम अपने साथ झूठे न बनें । अपने को बहकाने से भला न होगा । सत्य की ओट थाम कर हम अपना और पर का हित नही साध सकते । हम अपनी जगह और अपने अधि-कार को अवश्य पहिचानें । अपनी मर्यादा लाघे नही । हठपूर्वक सूर्य को देखने से हम अन्धे ही बनेंगे । पर बिना सूर्यकी सहायता के हम देख नही सकते यह भी हम सदा याद रखें । हम जान ले कि जहाँ देखने से हमारी आँखे चकाचौंध में पड जाती है वहाँ देखने से बचना यद्यपि हितकर तो है, फिर भी वहा ज्योति वही सत्य की है और हम शनै शनै अधिका-धिक सत्य के सम्मुख होने का अभ्यास करते चले ।

: १३

जीवन और साहित्य

भाइयो,

आपके सामने मै साहित्य के कानूनो को नही गिनाना चाहता। बहुत-सी किताबे यह काम करती है, लेकिन कानूनो के आसरे चलकर आप साहित्य की असली चीज़ को नही पा सकते। इसलिए सबसे पहले मै कहना चाहता हूँ कि आप मेरे विचारो को एक के विचार ही समझे,—किसी तरह की प्रामाणिकता उन्हे न दें। वैसे किताब की बाते भी तभी सच होती है जबकि उनके पीछे आपकी अनुभूति का बल हो, आपका दिल गवाही दे।

अदाजे बदलते रहते है। आज जो बडा है वह पचास वर्ष की दूरी पर क्षुद्र हो जाता है। आज ईसा बडी शक्ति है, लेकिन अपने ज़माने में उसकी मान्यता नही थी। यहाँ तक कि दुनिया को लाचार होना पडा था कि उन्हे सूली दे दे। उस समय के दृष्टि-मान ने हमें यह ही बताया कि वह नाचीज़ है, लेकिन आज के पैमान से हम देखते है कि हम उसे पूजा ही दे सकते है। सत्य अन्तिम नही है। हम उस पर जिज्ञासा और तर्क करते है। जब हमें दीखता है कि हम इतने बडे ससार में छोटे-से है तब सोचते हैं कि हम निरे व्यर्थ ही न है? लेकिन हमारा छोटापन ही हमें जीता रखता है। हमारी इच्छाए और हमारा ज्ञान भी बन्धन है, पर वह हमें एकत्रित रखता है। हमें ज्ञान में हमें हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अज्ञानी है।

बाहिरी ऊंच नीच को देखकर हम दभ करने लगे या अपने को व्यर्थ अनुभव करें, तो यह गलत चीज़ है। हमें सीमाओ से ऊपर उठना

है। विभाजन एक तरह से जरूरी है, वह हमारी लाचारी है। लेकिन अगर हम उसमें एकता को भूल जाते है तो वह एक कैद हो जाती है।

हमारी असमर्थताए और सीमाए हमें बाध्य करती है कि हम समाज में दर्जों को, श्रेणियो को देखें, उनका अनुभव और स्वीकार करे। इतना तो हम सीख गये है कि धन का होना किसीको बडा छोटा नही बनाता। पर जो अंग्रेजी पढ-लिख सकता है वह बडा माना जाता है और स्वयं भी अपने को बडा मानता है। क्योकि वह कहता है कि मै पैसे के जोर से नही, अक्ल के जोर से ही बडा बना हू। यह भी दम्भ ही है। हमे एक दूसरे को विशिष्टता देकर भी बराबर ही रहना है और हम रह सकते है।

आप कह सकते है कि यह तो कल्पना है, हमारी वास्तविक दुनिया भेद पर चलती है। जबर्दस्ती अभेद माने जाना भी दम्भ हो सकता है। मै आप से नही कहता कि आप वास्तविक जीवन मे ऐसा समझिए। यही पर साहित्य का काम आता है। हमारे जीवन के नाप-तोल साहित्य में काम नही करते। एक गरीब हमारे पास से निकल जाता है, उसे देखकर हम अनदेखा करते है, लेकिन साहित्य उस पर हमे रुला सकता है। इससे भी आगे वह हम मे इस बदहाली की जड खोदने की इच्छा भी पैदा कर सकता है। इस प्रकार हमारे मौलिक असाम्य और असामजस्य को वह दूर करने की प्रेरणा देता है। साहित्य मे हमारे विद्वेष और दम्भ दूर होते है। साहित्य वह चीज है जो हमें इस फर्क के नीचे जाकर देखने को बाध्य करती है और हमे उलझन मे से राह और राहत देती है।

उस गहरी भीतरी गहराई को दिखाती है जो बाहरी वस्तुता के नीचे है। दूसरी बात जिस पर कि साहित्य का असर है—वह है हमारा घर। घर क्या है ? पहले घर होते थे तो उस का मतलब होता था कि लोग अपने को घेर लेते थे। आजकल बगले है जो खुले रहते है। कहा जा सकता है कि उस दिन के लोग आज से अधिक मजबूत थे, लेकिन

वह बद रहने की वजह से नही था। वह इस लिए था कि उन्हे अधिक से अधिक खुले मैदान मे और सघर्ष के जीवन में रहना पडता था। कम से कम घर मे दरवाज़ा ज़रूर चाहिए। नही तो उसमे रहने वाला दम घोट कर मर जायगा। एक आदर्श यह भी हो सकता है, एक जीवन ऐसा भी हो सकता है कि हम घर ही क्यो बनाएँ, क्यो न हर एक छत के नीचे अपना ही घर मानें? इस आदर्श जीवन की बात आप से नही कहूगा। घर हमे चाहिए, लेकिन द्वार उसके खुले रहे। वैसे घर हम चाहे कही बना सकते है—हिंद मे, हिन्दुत्व मे इस्लाम मे, हिन्दी मे उर्दू में। घर हो पर द्वार खुला रहे। यही है साहित्य का दूसरा काम, यानी खुली हवा के यहा से वहाँ तक आने-जाने के लिए राह खोलते रहना।

कहानी लिखी गई, पढी गई, मनोरजन हो गया। पर अनाज तो नही मिला! आप पूछें कि तब साहित्य की बात क्यो की जाती है! पेट भरने का, रोजगार का कोई नुस्खा बताइए! बाद में आर्ट को भी देखेंगे। लेकिन आप को एक बात महसूस होनी चाहिए। आप को खाना जरूरी हो गया है, तभी तो आप मे उसकी माँग है? जिस चीज की चाह नही वह आप नही मागते। हवा आप नही मागते। इसी तरह कहा जा सकता है कि हम साहित्य की माग नही करते, क्योकि हम उसकी कमी को अनुभव नही कर पाये। यदि आप मे साहित्य की माग नही हो तो होसकता है कि आप असली गहरी चीज़ो से आँख फेरे हुए है। यदि कोई आपको रोटी बनाने के लिए अनाज नही देता, कविता करता है, तो यह न समझिए कि वह व्यर्थ ही है। वह जानता है कि वह आप को पेट की चीज नही दे रहा है और यह भी कि आप कृतज्ञ नही होगे। लेकिन यह मत समझिए कि वह ऐसा काम कर रहा है जिसकी आपको जरूरत नही है। आप की हवा को जो स्वच्छ रखता है आप उसकी ओर ध्यान नही देते। साहित्यिक आप के खयाल की दुनिया को साफ रखता है। दूरदर्शी पहले यह देखता है कि खयाल की दुनिया मे क्या होता है। जो वस्तु और घटना

की दुनिया मे घटता है वह पहले तो हमेशा खयाल की, आइडिया की, दुनिया मे हो चुका होता है। क्रांति जहाँ भी हुई है पहले मन में हुई है। गान्धी हमारे समार मे रहता है, फिर भी वह पहचानता है कि हमारे मन मे क्या दूषित है। इसलिए वह महात्मा है, न कि इसलिए कि वह हमसे अनोखा है या ज्यादा उघडा या दुबला है।

साहित्य हमारी सुख और तृप्ति की भावनाओ से ऊपर है। जिसमे तृप्ति की माग है, वह चीज़ साहित्य हमे नही दिया करता। वह चीज एक चटनी हो सकती है जो भोजन का जायका बढा दे, लेकिन साहित्य अधिक सीधी, पोषक और मौलिक या आधार भूत चीज़ है।

सत्य बडी भयकर चीज़ है। हम जब समझते है कि सत्य तो यह है, वह है, तब हम दम्भ में पडते है। सत्य मे विनय है और वह दभ को काटता है। यह बारीकी होगी। आपको तो यही देखना चाहिए कि लेखक आप में कोई प्रतिध्वनि उठाता है? आपको निकट खीचता है?—यदि हा, तो वह साहित्य है। वह अपना सुख दूसरे को देना है, दूसरे का दुख मागता है। जायदाद नही माँगता, दूसरे के दु ख ही को बटाता है और निरनर अपना दान देता रहता है। इसी मे उसकी सफलता है।

आज फिर ईसा पैदा हो सकते है और हम फिर उन्हे सूली दे सकते है। लेकिन यह नही हो सकता कि उनका प्रेम का सन्देश कभी फलित न हो।

किसी जमाने मे मुझे डिक्शनरी से प्रेम था। मै चाहता था कि उसके द्वारा अपना शब्द-ज्ञान बढा लूँ और दूसरो पर रौब डालू। लेकिन ऐसे मैने एक शब्द भी नही सीखा। क्योकि मैने डिक्शनरी का दुरुपयोग किया। उसका ठीक उपयोग यह है कि जब मुश्किल हुई तब हमने उस में खोजा और उत्तर पाया। पुस्तको के बारे मे भी ऐसा ही समझिए। हमे रहना है दुनिया में, किताबो में नही। किताबो में और पुस्तकालयो मे कोई ज्ञान

नही है। उनसे तभी लाभ है जब कि हम में माग हो, एक तडप हो कि हम पाए। पुस्तक से आप का सबन्ध हो सकता है तो जीवन के द्वारा ही। जिल्दसाज़ किताब को जानता है उसके जुज़ से, विक्रेता जानता है उसकी कीमत से, लेकिन आपको गहरी अभिलाषा के ही जरिये उसे जानना चाहिए। क्योंकि इसी जिज्ञासा के उत्तर मे साहित्य उत्पन्न होता है।

१४

साहित्य का उद्देश्य

भाइयो,

सच कहू तो मुझे इतनी आशा न थी। मै कुछ धर्म-सकट के नाते यहाँ आगया। यहा आकर देखता हू कि मेरे लिए काम मौजूद है। यहा सब लोग मनोविनोद के नाते नही आये, परन्तु एक गम्भीरतर लक्ष्यमूलक वृत्ति लेकर आए है।

आदर्श जो अतिम है, उस के बारे मे कितनी भी बाते हो, सब एक ही है। सहस्र-नाम-स्तोत्र भी उस नामहीन के लिये थोडा है। इससे हम वैसे स्तोत्र पाठ मे न पडेंगे। मार्क्स या कि गाधी के स्वप्नो में ख़ास अन्तर नही है। दोनो चाहते है कि विषमता न हो, वर्गहीनता हो। उनके मार्गों मे अन्तर देखा जाता है। यह अन्तर जरूरी और शुभ भी है। मार्ग जहा पहुचना है वहाँ से नही, बल्कि जहा से चलना है वहा से बनता है। मार्ग विभिन्नता इसी से है। यदि आदमी चले तो मार्ग भेद की चिन्ता नही होगी। चलने से स्वय मार्ग बनता है। हम लोग अगर चलने वाले है तो आपस में बहस नही करेंगे कि तेरा रास्ता ठीक है या मेरा। वैसे मार्ग की अनेकता की समस्या को दिमाग द्वारा सुलझ चुकी हम मान लें यह सम्भव है, पर कदम उठाने से पहले मार्ग-निर्णय नही होगा, सब मार्ग सही या गलत मालूम होगे। देखिए न कि हम सब अलग-अलग मार्ग चले है, पर इसी कारण यहाँ एक जगह इकट्ठा हो सके है। कोई इन्दौर से आया है, कोई भूपाल से, मै दिल्ली से आगया हू। इस लिये राहे तो अलग हम सबको लेनी ही हुईं, तभी तो आज यहा हम एकत्र है।

यदि सचमुच ही हम में व्यग्रता होगी तो हम एक सघ स्थापित कर लेगे। यदि हम दिमाग मे ही सत्य को पा लेना चाहते है तो निश्चय मानिये कि सत्य दिमाग द्वारा कभी नही पाया जा सकता। सब मे बुद्धि है, इस ही का तकाजा है कि सब में मतभेद हो। वे लोग जिनको कि सत्ता, स्वर्ण या स्त्री चाहिये, वे तो जीवन मे प्रतिस्पर्धा, युद्ध या हिंसा अनिवार्य मानेंगे और कहेगे कि मेल तो स्वर्ग मे ही होगा। जिनकी इस प्रकार की विचारणा है उनको मेरी यह बात मानने की लाचारी नही है।

साहित्यिक सत्ता के, स्वर्ण के या स्त्री के रास्ते का राही नही है। वह उन सब मे और उन सबसे परे स्वयम् अपने और इस राह सबके आपेको पा लेना चाहता है। सत्य या मुक्ति या परमात्मा शब्द इसी बात को व्यक्त करते हैं। अहबुद्धि के द्वारा, या सत्ता के, काचन के या कामिनी के रास्ते से हमारे जीवन में जो फाँके या द्वद्व पैदा हो जाते है, साहित्य का काम उनका सयोजन है, द्वित्व मिटाना है। धर्म कहता है कि पैसा बन्धन पैदा करता है, उसे मत छूओ, कर्मारभ कल्मश में डाल देंगे। इसी तरह धर्म सस्था-बद्ध हो चलता है। पर धर्म ने जिसको वर्ज्य माना दुनिया उसी को अपनाती है। इसी से यथार्थ और आदर्श के दो पक्ष और रास्ते बनते है। यह विभेद हर इतिहास और जाति में पाया जाता है। कुछ लोग है जो देह सुखा देंगे, कुछ लोग हैं जो कहेगे हमें अच्छा से अच्छा खाना-पहनना है। और फिर दोनो एक दूसरे को भला-बुरा कहेगे। मै यह मानता हू कि साहित्य वह चीज है जिसका ध्येय यह दोनो अतिया नही है। साहित्य वह जो यथार्थ से आख नही मीचना चाहता, पर स्वप्न तो आदर्श के ही लेता है। इसी प्रकार के त्याग द्वारा भोग का उपनिषद् ने भी विधान किया है। साहित्य इस प्रकार आदर्श को यथार्थ से और यथार्थ को आदर्श से तोलता और जोडता रहता है।

यहां विरोध दीखेगा। पर विरोध साहित्य का भोजन है। वही साहित्य की जान और जीवन की परिभाषा है। जीवन के बाहर किसी

चीज से अपने आप को अटका लो तो विरोध चुभने वाला नुकीला हो जाता है। अन्यथा विरोध वैभिन्य-वैचित्र्य उपजाता और इस तरह नाना रगो की छटा हमे देता है। यदि हम शुद्धबुद्ध चिन्मय बन जाय तो जीवन हम मे समाप्त है। इससे पूर्व जो जितना प्राणवान् व्यक्तित्व है उतने ही गम्भीर और तीव्र विरोध उसमे लय प्राप्त करते है। वह लयता पाना ही नीति है, उसी का नाम सत्य है, वही साधना है। कट्टर नास्तिक 'नास्ति' की भाषा से ही अद्वैत को खोजता और पाता है। अत्यन्त श्रद्धालु जैसे प्रणति से प्राप्त करना चाहता है, वैसे ही कुछ नेति-नेति द्वारा उसकी ओर बढते है। शुद्ध, अखड, निपट-निर्द्वैत चिन्मय स्थिति तो आदर्श लोक मे है।

बाह्य विरोधो को लेकर अन्तर में विरोध-मथन पैदा करें तो कलह मिटती सी लगेगी। विरोधो को सहर्ष स्वीकार कर लें तो विरोध शक्ति देते है। इस परिषद द्वारा ऐसा लगता है कि विरोधो का स्वीकार ही नही स्वागत भी किया जा रहा है। विरोध नही हो तो जीवन नही है। सब बात में एक-सा सोचने का आग्रह हिटलर अपने सिपाहियो से भले रखवा पाए। साहित्य मे यह कदापि नही हो सकआ। साहित्य सेना-बद्ध पक्ति व्यापार नही है।

आखिर हमे क्या काम करना होगा ? हम अन्तर टटोलें। वादो को आईडिओलोजिओ को कष्ट न दे। वह तकलीफ क्या है जिसने हमे एक सभा-रूप मे मिलने के लिए उभारा और जुटाया है ? एक छोटी-मोटी कठिनाई यह है कि अजी, हमारी रचना तो छपती ही नही है, प्रकाशन जल्दी-जल्दी हो जाना चाहिए। मै अपनी बात कहू। एक बडी उम्र तक तो आवारा बिनकमाये रहा। अब लेखन द्वारा कमाई की बात सोची तो लगा कि वह भी ठीक नही है। इसलिए प्रतिभा को सरक्षण मिले यह चिन्ता मुझे नही छू पाती। प्रतिभा का भोजन प्रतिरोध है। पुष्ट वृक्ष के लिए क्यो यह मजबूरी है कि वह बगीचो मे नही जगल में ही पैदा हो ? क्योकि वहाँ कोई किसी की परवाह नही करता। प्रतिभा के बारे में

सचिन्त और कातर होने की आवश्यकता नही है। विरोध की आवश्यकता कम हो जायगी तो प्रतिभा की आवश्यकता कम हो जायगी। इसीलिए मैं सोचता हू कि प्रतिभा कोई अच्छी चीज नही है। समाज के लोगो के द्वारा उत्पन्न प्रतिरोधो और अवरोधो के प्रत्याख्यान स्वरूप प्रतिभा उपजती है। जिसने अपने को प्रतिभावान समझ लिया उसकी गति रुक गई। प्रतिभा बुद्धि का एक रोग है।

प्रतिभावान् के रास्ते के प्रतिरोध को हटाने की भी कोशिश न करें। चारो तरफ जडता का दवाव न हो तो आत्मा की परीक्षा ही क्या ? उसके लिए फिर काम भी क्या ? जिन के पास पूँजी है वे यदि उसे लेकर आप के सामने बिछाने सहज आ जाए तो अकिञ्चनता के आदर्श साधना का महत्व ही क्या ? लेखक का स्वधर्म लेखन है। वह अप्रमादी बने। यदि पू जीपति आज नही सुनता है तो एक न एक दिन तो सुनेगा ही। अगर जनता आपकी बात मानेगी, तो न तो कोई सत्ताधीश न कोई स्वर्णाधिप जनशक्ति के आगे टिक सकेगा। श्रम जहा पसीना डालता है, वहा शक्ति का और सपत्ति का स्रोत है। आपकी निगाह स्रोत की ओर ही क्यो न हो ? बीच के बिचभइयो की ओर देखकर आप निरुद्यम, मद, प्रार्थी बन कर कैसे रह सकते है ? पू जीपति या सत्ताधीश को पति या अधीश क्यो मानते है ? जहा से पू जी निकलती है, वहा आप जाये तो पता लगेगा कि ऐसे आप पू जी के प्रवाह को ही सही तरफ मोड सकते है।

साकृत्यायन की बात बहुत पते की बात है। सब शक्ति का स्रोत जनता है। उसके बाद आपकी समस्याओ का हल आपसे आप आ जाता है। यदि आप इस पर्स्पेक्टिव या दृष्टिकोण से यहा आये है तो सचमुच आपकी तात्कालिक समस्याओ की पूर्ति ही न होगी, बल्कि स्थूल से आगे सूक्ष्म समस्याओ के समाधान की ओर भी आप बढेगे। आप के सामने बहुत बडा कर्तव्य है। पूरी निष्ठा, पूरे अप्रमाद के साथ चल पड़े तो छोटी-छोटी- समस्याएँ तो आप से आप हल हो जावेंगी। दुनिया की चतु-

राई (Worldly Sense) समस्याओ के हल मे सहाई नही होगी। इसीसे जिसे (Unworldly nonsense) कहा जाता है, अर्थात् अव्यवहारी सनक, उससे च्युत होने की आप को आवश्यकता नही है। सन् २८-२९ मे लेखकी के रास्ते पर मै पाव फिसलने से आ गया। समझदारी यह कहती थी कि मा है, उसके लिए कमाई करो। मेरी चालू बाजार-दर तब तीस-चालीस की भी न थी। आठ-दस बरसो में आकर साठ-पेसठ मिलजाते। तब भी शायद अब के समान मै पति बनता, पिता भी बनता, पर मन बुझ गया होता। अब पति बनने या पिता बनने में कोई दिक्कत नही हुई है। कुछ लोग कहते है कि जैनेन्द्र क्या बेवकूफ आदमी है, तो कुछ लोग प्रशसा मे कहते है कि जैनेन्द्र अच्छा बुद्धिशाली आदमी है। यानी दोनो राये आपस मे कट-पिट गई। यही होता है। तब यहा-वहा जाने की तबीयत होती थी, पर बात मन की मन में रह जाती थी। अब यह है कि दिल्ली इतनी दूर है, और मै यहा उज्जैन आ गया हूँ। और ऐसे ही कलकत्ता और लाहौर और बबई और न जाने कितने शहर देखने को मिल जाते है। आप कहेंगे यह बात तो बडी 'पर्सनल' है। आप मे कोई प्रतिभा है, देन है और अपवाद से तो नियम सिद्ध ही होता है। पर मै आपसे निश्चय मे कहता हूँ कि प्रतिभा-प्रतिभा ढकोसले के शब्द है। जो बुद्धियुक्त है, विवेकी है, वह यह बात बडी आसानी से मान-जान जायगा कि एक आदमी कैसे भला विशिष्ट या अनिवार्य हो सकता है। आस्तिक भी यह बात कभी नही मानेगा कि परमात्मा ने किसी को अधिक प्रतिभा दी, किसी को कम। मै सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि साधारण समस्याओ को अतिम मानकर चलने की जो यह प्रवृति है वह उपकारक नही है। जो शुद्ध साहित्यिक, सास्कृतिक, वैचारिक या आदर्शात्मक समस्याएँ है— उन्हे यदि कोई निरुपयोगी बताये, तो सिर झुका लेना चाहिये और घब-राना नही चाहिये। सच बात यह है कि यथार्थ से चिपट रहना आदर्श तो है ही नही, व्यवहार भी नही है। सेठ कितनी गलत चीज कर रहा

है कि वह करोडपति बन रहा है। जो आदमी मोटर से नीचे पैर नही रखता वह ज़मीन से दूर बनता है। आसमान को यदि अपने दिल में लेकर आप चल रहे है तो वही शुद्ध व्यवहार है। मनुष्य के नाते एक एम. एल ए, एक मज़दूर-सभा-मत्री, एक राजा, एक भिखारी, ये सभी एक ही समाज के अग है। अपने स्व-भाव में पूरी निष्ठा रखकर यदि आप साधारण व्यवहार मे अपने आपको खोल दे, तो कोई बाधा आप को रोक नही सकती। उसी ध्येय की निष्ठा अपने आप मे भर लीजिये और समस्याएँ सुलझाते चलिए। यानी समस्याओ के स्तर को उठाते चलिए।

तात्कालिक ज़रूरतें भी होती है। सुनिए, अपनी स्थिति की मर्यादो पर बहुत सकुचित और लज्जित होने की आवश्यकता नही है। उन्हें हम खुले स्वीकार कर सकते है। अपनी रोटी-दाल की समस्या को हम बिना छद्म-व्यवहारके अपने समक्ष ले। इसके लिए हमे सूक्ष्म चिन्तन की नही स्थूल कर्म में लगने की तय्यारी करनी चाहिए। लेखक के लिए स्वतन्त्र अभिव्यक्ति एक दृष्टि से असभव है, जब तक कि कर्म चेष्टा से वह स्वावलम्बन की स्थिति न प्राप्त कर ले। समता का धरातल अथक कर्म में से प्रसूत हो सकता है । नही [तो श्रेणी-चैतना पैदा होगी और वह भीतर से काटती रहेगी। अत क्या तो व्यक्तित्व के लिए और क्या फिर सघ के लिए स्थूल कर्म की आवश्यकता अनिवार्य है। चिन्तन और कर्म, स्व और पर, मै और तुम, इनमें सख्य-सम्बन्ध हो। ऐसा आदर्श जमाना होने में आजाय जब एक और दूसरे के बीच में स्नेह और सहयोग हो, स्पर्द्धा और द्वेष न हो, यह साहित्य का आदर्श है। फाँसी और युद्ध खतम नही हो सकते, न होगे, परन्तु अपराधी को जज प्यार कर सके यह तो हो सकता है। क्रोध और दुश्मनी के नीचे प्रेम की धार तो बहती और व्यथा में सहती रह सकती है। इसी को हमें सभव बनाना है। यह भावना के प्रचार से न हो जायगा। स्थूल सेवा कर्म को भी हाथ मे लेना होगा।

उस स्थूल कर्म की योजना सोच समझ कर बनायेंगे और तत्पर होंगे तो पैसे का आना भी अपने-आप ही हो जायगा । आप आज तो वहा से पैसा नही ला रहे है जहाँ वह पैदा होता है, उस वर्ग वालो से लाते और लाना चाहते है जहा उस पर चौकीदारी होती है। पर आप बिलकुल नि स्वार्थ भाव से रचनात्मक परिश्रम के लिए तय्यार हो जायें। साथक, प्रयोजन-युक्त और सावधान चेष्टा से पैसे की भाषा में आय करने की बात भी आप को सोचनी पडेगी। आपका भावनात्मक, आदर्शात्मक चिन्तन चला चले, इस सभवता के लिए आपसे शुष्क परिश्रम की आशा भी की जाती है। कोई भी सघ बन नही सकता जब तक स्वेच्छित उत्साह उसके पीछे न हो । अशोत्सर्ग अह का भी करना होगा। आज लेखक मानव जाति को तो प्रेम करता है पर पडौसी की कीमत पर। दिमाग दूर जाता है, आसपास तक हाथ ही रहते और पहुचते है। दिमाग की उस उडाऊ वृत्ति पर अ कुश आपका यह सेवा-कर्म ही डाल पाएगा। इस मर्यादा के भीतर बौद्धिकता विधायक होती है, अमर्याद होकर नाश करने लग जाती है। दूर जाने के लिए पास की मर्यादायें और यथार्थताए आपको बाधा जान पडेगी, वे आपकी दौड को सरपट नही होने देगी। मगर श्रद्धा है तो आपको वही बल और उत्साह देंगी। वाङ्मय का तो सम-राज्य है। साम्राज्य में बडे छोटे होते है, साहित्य के सम-राज्य मे सब समान है। यहा कोट पतलून या आकार प्रकार नही देखा जाता, हृदय देखा जाता है। इन्सानियत और आत्मा मागी जाती है, बिल्लो और नागे से जाच नही होती । अच्छे वाचालो से साहित्य को पुष्टि नही मिला करती । भाषा साहित्य में मौन के बल से बोलती है। प्रेम भला कभी मुखर हुआ है। और मौखर्य मूर्खता को भी कहते है। सृष्टि चुपचाप होती है। आपका काम भी सहज और चुपचाप होना चाहिए। शोर के दौरे होते है, जो अनवरत हुआ करता है उसमे कोलाहल नही होता। आपका अनवरत क्रम चलना चाहिए, जैसे प्रकृति का । और वह प्रकृत प्रेरणाओ से होना चाहिए, कृत्रिम आकाक्षाओ से नही ।

: १५ :

राष्ट्र भाषा और प्रान्तीय भाषाएं

भाइयो,

यह एक बिल्कुल अघट घटना है कि मैं आज कहानी-लेखक हूं। मैंने कभी कल्पना भी नही की थी कि मै कहानी-लेखक हूगा। मन में विचार उठे, इसलिए लिख बैठा। अपने को विद्वान् मान नही लिखा। विद्वान मान कर लिखना असम्भव हो जाता है—उस अहता से आपस का नाता खराब हो जाता है और हममे दुराव आ जाता है। मै यह भी महसूस करता हू कि ज्ञान आदमी को आदमी से मिलाता नही है, दूर करता है। यही हाल धर्म-ज्ञान का भी है। धर्म का पण्डित ईश्वर से दूर हुआ देखा जाता है। आचरण बिना ज्ञान निकम्मा है। साहित्य अगर कोई सचाई है तो उसका पण्डित नही होना चाहिये। पण्डित बन कर तो वह उसका रस निकाल देता है। सचाई को घेरने की कोशिश व्यर्थ है, उसका प्रेम इष्ट है।

मुझको मालूम होता है कि अगर मै साहित्य के बारे में कुछ जानकार मान लिया जाता हू तो इसलिये नही कि मै जानकार हू, बल्कि इसलिए कि मै अपनी अज्ञता को दूसरो से छिपाने के मोह में नही पडा। अपनी अज्ञता की स्वीकृति पर व्यक्ति के लिए विनय ही शेष रह जायगा। भाषा नही जानता था, इसलिए अपनी बात ही सीधे-सादे मै कह सकता था। वही मैंने किया। कोरा ज्ञान और कोरी भाषा आगे नही रखी।

कोई सामाजिक प्रतिष्ठा मेरे पास नही। जो मेरा अभाव था, वही मेरा सौभाग्य बना। ज्ञान और भाषा के अभाव में मै वही कह सकता था जिसका मुझे अनुभव था। व्यक्तिगत अनुभव मैंने कहे इसलिए लोगो के मन को उसने छुआ होगा।

कहा गया है कि राष्ट्र भाषा के बारे मे म कुछ कहूगा । राष्ट्रभाषा पर कुछ कहने का मुझे अधिकार नही है । राष्ट्रभाषा के लिए मैने कोई कष्ट नही उठाया । काका कालेलकर अधिकारी व्यक्ति है । वह जो कुछ बात कहते है उन भाषाओ के अध्ययन के आधार पर कहते है । भाषा के लिये उन्होने कष्ट उठाया है—सारे हिन्दुस्तान का भ्रमण किया है ।

राष्ट्रभाषा के बारे मे कुछ कहने का मै अधिकारी नहीं हू उसका एक और भी कारण है । हिन्दी राष्ट्रभाषा है, इससे हिंदी-भाषियो का गौरव बढा है तो साथ ही दायित्व भी बढा है । उत्तर प्रान्तो के हम लोगो ने प्रयत्न नही किया है कि हम अन्य प्रान्तो की भाषाए सीखे। सूरत मे आज हिन्दी में भाषण कर रहा हू । अधिकाश यहा पर गुजराती है, लेकिन मै गुजराती नही जानता । फिर भी हिन्दी में भाषण करना शर्म की बात नही है तो इसलिये कि सूरत हिन्दुस्तान राष्ट्र का एक हिस्सा है । पर आपके और मेरे दोनो के लिये प्रसन्नता की बात होती अगर मै गुजराती भी बोल सकता। आप अगर हिन्दी सीखने लग जाते है तो क्या मुझ पर ऋण नही चढना कि मै आपकी भाषा सीखू ?

थोडी देर को समझ लीजिये कि हिन्दी मेरी भाषा नही है। यह सोच कर जरा विचार करे । आज दशा यह है कि एक प्रान्त का साक्षर दूसरे व्यक्ति के साथ परिचय अग्रेजी के माध्यम से ही कर सकता है । यह गौरव की बात नही है, कलक की बात है । डिमोक्रेसी की भावना चारो ओर फैल रही है। लेकिन असलियत जीवन में अग्रेजी से नही आयगी। आज हमें यह बात अच्छी तरह से महसूस कर लेनो चाहिये कि अंग्रेजी के आधार पर राष्ट्रीयता आगे नही बढ सकती । माना अग्रेजी से राष्ट्रैक्य की भावना बढी है, लेकिन सास्कृतिक तल पर नही राज-नीतिक तल पर बढी है । व्यापारी धरातल का मेल काफी नही है, सास्कृतिक धरातल पर मेल जरूरी है ।

अंग्रेजी से विभेद आ गया है। गाँव शहर फट गये है और दूर हट गये है। पास आये है तो शोषण के नाते। अंग्रेजी से हमारा घर नही मिला। घर आफिस अलग-अलग बन रहे। अगर राष्ट्र एक होने वाला है—जैसाकि निश्चित है कि भारत अखड है, अविभाज्य है—तो वह अंग्रेजी भाषा से नही होगा।

प्रान्तीय भाषाओ के बारे मे एक बात है। अगर मराठी, गुजराती, बगाली अपनी-अपनी भाषाओ को लेकर माता भारती के भण्डार में पहुचे और कहे कि हमारी भाषा भी सेवा मे हाजिर है, राष्ट्र भाषा के तौर पर वह भी सेवकाई बजाने को तैयार है, तो कोई बुराई नही है। लेकिन यह कहना ठीक नही है कि हमारी ही भाषा राष्ट्रभाषा बने। इस विषय में प्रान्तीयता के मोह से ऊपर उठना होगा, ममत्व को छोडना होगा।

भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये उसकी उत्तमता, मधुरता, वैज्ञानिकता आदि की दलीलें दी जाती है। वे दलीलें ठीक हो, लेकिन हमें देखना यह है कि राष्ट्रभाषा बनने में सुगमता सुलभता किस से रहेगी। हिन्दी के नाम पर जो भाषा चल रही है उसे फकीर-दरवेश, मजूर और मुसाफिर आदि जनता के आदमियो ने ऐसा फैला दिया है कि वह कम अधिक अब भी समूचे हिन्दुस्तान मे समझ ली जाती है। बस हुआ, वह अनघड भी हो उससे काम चल जायगा।

गाधी ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा माना और मनवाया। गाधी वह व्यक्ति है जिन्होने अपना आत्म-जीवन अंग्रेजी में नही लिखा। जवाहरलाल ने लिखा है, वह दूसरी बात है। गाधी ने गुजराती मे लिखा, फिर चाहे वह अंग्रेजी मे हुआ, हिन्दी हुआ, या अन्यान्य भाषाओ मे हुआ। गुजराती भाषा को साहित्य और सस्कार देने की दृष्टि से देखा जाय तो गाधी किसी से पीछे नही है। लेकिन गाधी ने फिर भी राष्ट्र भाषा हिन्दी को कहा। वह इसलिए नही कि गुजराती के प्रति उनके प्रेम मे कुछ कमी हो गई,

वरन् समस्त राष्ट्र की भावना ने उनसे कहलवाया कि हिन्दी राष्ट्र भाषा है।

अगर गुजराती के पक्ष मे यह बात हो सकती है तो बगला, मराठी के पक्ष मे भी यही बात हो सकती है। बगाली और मराठी को इस आशका की जरूरत नही है कि हिन्दी सीखने मे उनकी भाषाए खतरे मे पड जावेगी। लेकिन असलियत यह है कि हिन्दी मे उनकी भाषा की शक्ति कम नही होगी, बढेगी। यदि कोई स्वय स्वस्थ है, कोई ग्रथि-विग्रह उसमे नही है, तो दूसरो के सम्पर्क मे अलाभ नही होगा। अपने कॉम्प्लेक्स के कारण ही दूसरो के सपर्क से हानि पहुचती है। अन्यथा तो समृद्धि का रास्ता सम्पर्क को व्यापक बनाते जाना है।

अगर बगला और मराठी को समृद्ध होना है तो उन्हे खुल कर राष्ट्र भाषा के प्रचार मे आ जाना चाहिये। हिन्दी गाधी की छाप को लेकर आगे आ रही है। यह चेष्टा से नही, अनिवार्यता से हुआ है। यह किस का वश है कि उस छाप को पडने से रोके? ऐसे ही राष्ट्र भाषा सब प्रभावो को लेगी। बंगला शैली की छाप आ सकती है या मराठी की या तमिल की। आखिर राष्ट्र भाषा किसी एक का स्वत्व तो है नही। राष्ट्र का हार्द जिस वाणी मे मुखरित होगा राष्ट्रभाषा उसी को अगीकार करेगी। प्रश्न यह भाषा के बनाव का उतना नही है जितना राष्ट्र की आत्मता और एकता का है। राष्ट्रव्यापी विशालता उसके लिए चाहिए चाहे व्याकरण के परिचय मे कुछ त्रुटि भी रह जाय।

राष्ट्रभाषा के सवाल को भाषा की ओर से लिया जाता है। तब विभेद होगा और अनेक आग्रहो का विग्रह मचेगा। लेकिन उसे राष्ट्र की ओर से लिया जाना चाहिए। तब झमेला कट जायगा और मालूम होगा कि हम राष्ट्रभाषा के कर्त्ता, नेता या नियन्ता उतने नही है जितने सेवक है। तब मानो राष्ट्र की भाषा राष्ट्र के वासियो के हाथ पहुंच जायगी। और

उसकी अपार जनता के दु ख सुख और आशा आकाक्षाओ का वहन करके अपना सतोष मानेगी ।

राष्ट्र के अनेक तत्वो को हृदय के सूत्र से मिलाने वाली भाषा अग्रेजी नही हो सकती । वह तो वह हिन्दी ही है जो धरती से लगी है और आम तौर पर यहाँ से वहाँ तक देश मे सब कही समझी जाती है ।

: १६ :

प्रेमचन्द जी की कला

श्री प्रेमचन्द जी का ताजा उपन्यास 'गबन' हाल मे ही निकला है। निकला तभी मैने उसे पढ लिया। लेकिन जो मुझे वक्तव्य हो सकता है वह लिखता अब हू। चीज को समझने और पुस्तक के असर को ठडा होने देने के लिए मैने कुछ समय ले लिया है। तटस्थ होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तक से अपने को अलहदा खडा करके मानो उस पर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्द जी हिन्दी के सब से बडे लेखक है। हम हिन्दी भाषा भाषी उनके मूल्य को ठीक आँक नही सकते। हम चित्र के इतने निकट है कि उसकी विविधिता, उसका रग-वैषम्य हमे आच्छन्न कर देता है, उसमें निवास करती हुई और उस चित्र को सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड मे नही आती। जो एक-दो दशाब्दी अथवा एकाध भाषा का अन्तर बीच मे डाल कर प्रेमचन्द को देखेंगे वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्द को अधिक समझेंगे, अधिक सराहेगे। वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में और हिन्दी को छोडकर जहाँ अनुवादो द्वारा अन्य भाषाओ में पहुचेगे वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन यत्न द्वारा हम अपनी दृष्टि मे कुछ वैसी क्षमता ला सकते है कि बहुत पास की चीज को मानो इतनी दूर से देख सके कि वह हमें अपनी सम्पूर्णता में, अपनी एकता में, दीखे। अगर रचनाओ के भीतर पैठकर, मानो उन्हें नसैनी बनाकर, हम रचनाकार के हृदय मे पहुँच जाय जहाँ से कि उसकी रचनाओ का उद्‌गम है और जहाँ उसे एकता प्राप्त होती है तो हम रस में डूब जायँ।

अपने भीतर के स्नेह, और सहानुभूति को विविध भाँति कौशल से कलम की राह उतार कर कलाकार ने तुम्हारे सामने ला रखा है। तुम उन शब्दो का, भाषा, प्लाट और प्लाट के पात्रो का मानो सहारा भर लेकर यदि हृदय मे मे फूटते हुए झरनो तक पहुच जा सकते हो तो वहाँ स्नान करके आनन्दित और धन्य हो जाओगे। नही तो परीक्षोपयुक्त विद्वान् की तरह उस की भाषा की खूबी और त्रुटि और उसके व्याकरण की निर्दोषता-सदोषता मे फँसे रहकर उसकी छान-बीन का मजा ले सकते हो।

मुझे व्याकरण की चिन्ता पढते समय बहुत नही रहती। भाषा की चुस्ती का या शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की गरज से मै नही रख पाता। भाषा की खूबी या कमी को सम्पूर्ण वस्तु के मम के साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामजस्य या वैषम्य बिठा कर मैं देख लेना चाहता हूँ। अत यह नही कि मै उस ओर नितात उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नही बैठ रहता।

प्रमचन्द जी की कलम की धूम है। बेशक वह धूम के लायक हैं। उनकी चुस्त भाषा पर, उनके सुजडित वाक्यो पर, मैं किसी से कम मुग्ध नही हूँ। बात को ऐसा सुलझा कर कहने की आदत, मै नही जानता, मैंने और कही देखी है। बडी से बडी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझा कर, थोडे से शब्दो मे भर कर, कुछ इस तरह से कह जाते है, जैसे यह गूढ, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्यप्रति घरेलू व्यवहार की जानी पहचानी चीज हो। इस तरह जगह जगह उनकी रचनाओं मे ऐसे वाक्याश बिखरे पडे है जिन्हे जी चाहता है कि आदमी कण्ठस्थ कर ले। उनमे ऐसा कुछ अनुभव का मर्म भरा रहता है।

प्रेमचन्द जी तत्व की उलझन खोलने का काम भी करते है, और वह खुली सफाई और सहजपन के साथ। उन की भाषा का क्षेत्र व्यापक है। उनकी कलम सब जगह पहुंचती है, लेकिन अधेरे मे भी वह धोखा नही

देती। वह वहा भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है।
सुदर्शन जी और कौशिक जी की भी कलम बडे मजे-मजे मे चलती है,
लेकिन जैसे वह सडकों पर चलती है, उलझनो से भरे विश्लेषण के जगल
मे भी उसी तरह सफाई से अपना रास्ता काटती हुइ चली चलेगी,
इसका मुझे परिचय नही है।

स्पष्टता के मैदान मे प्रेमचन्द सहज अविजेय ह। उनकी बात निर्णीत,
खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रो को भी सुस्पष्ट, चारो ओर से
सम्पूर्ण बना कर वह सामने लाते है। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती
है। अपने पात्रो की भावनाओ के उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात का पूरा-
पूरा नकशा वह पाठक के सामने रख देते है। तद्गत कारण, परिणाम,
उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदि के सम्बन्ध मे पाठक के हृदय
मे सशय की गु जाइश नही रह जाती। इसलिए कोई वस्तु उनकी
रचना मे ऐसी नही आती जिसे अलौकिक कहने को जी चाहे, जिसपर
विस्मय हो, झु झलाहट हो, बलात् श्रद्धा हो। सब का परिपाक इस तरह
क्रमिक होता है, ऐसा लगता है, कि मानो बिल्कुल अवश्यभावी है। अपने
पाठक के साथ मानों वे अपने भेद को बाँटते चलते है। अग्रेजी में यो
कहेगे कि वह पाठक को Confidence मे विश्वास में ले लेते है।
अमुक पात्र क्यो अब ऐसी अवस्था मे है,—पाठक को इस बारे
मे असमजस में नही रहने दिया जाता, सब कुछ उसे खोल-खोल
कर बतला दिया जाता है। इस तरह पाठक सुलभ रूप में पुस्तक की
कहानी के साथ आगे बढता जाता है, इसमे उसे अपनी ओर से
बुद्धि-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती,—पात्रो के साथ मानो उसकी
सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए पुस्तक मे ऐसा स्थल नही आता
जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्र के साथ नहीं चल रहा है,—और
जरा रुक कर उसके साथ होने का प्रयास करे। वह पुस्तक पढने को जरा
थाम कर अपने को सम्भालने की जरूरत मे नही पडता। ऐसा स्थल नही

आता जहाँ आह खींच कर वह पुस्तक को बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने और पोछने मे उसे लगाना पडे और फिर तुरन्त ही फिर पढना शुरू करना पडे। पाठक बडी दिलचस्पी के साथ पुस्तक पढता है और उस के इतने साथ-साथ होकर चलता है कि कभी उसके जी को जोर का आघात नही लगता जो बरबस उसे रुला दे।

'गबन' में मार्मिक स्थल कम नही है, पर प्रेमचन्द जी ऐसे विश्वास, ऐसी मैत्री और परिचय के साथ सब कुछ बतलाते हुए पाठक को वहाँ तक ले जाते है कि उसे धक्का-सा कुछ भी नही लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है और अपने साथी ग्रन्थकार की जानकारी पर, कुशलता पर और उसके अपने प्रति विश्वास पर, जगह-जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पग पर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानी के स्वर्ग में से उस का हाथ पकड कर ले जाता हुआ उसका पथदर्शक बडा सहृदय और विलक्षण पुरुष है। पाठक बिलकुल उस का होकर रहने को तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्‌बुद्ध होकर नही चलता, क्योंकि उसे भरोसा रहता है कि ग्रन्थकार उसे छोड कर इधर-उधर भाग नही जायगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए ग्रन्थकार को भागकर छूने का अभ्यास करके उसके साथ रहने और इस प्रकार अपरिचित रास्ते पर झटको-अचभो को खाते कभी उन पर हँसते और कभी रोते हुए चलने का मजा पाठक को नही मिलता। पर पाठक इस स्वाद को भी चाहता है।

मै 'गबन' पढते हुए कही भी रो नही पडा। रवीन्द्र की एकाध किताब पढते हुए, बकिम पढते हुए कई बार बरबस आखो में आँसू फूट आये है। फिर भी, प्रेमचन्द की कृतियो से जान पडता है कि मै उनके निकट आ जाता हूँ, उन पर विश्वास करने लगता हूँ। शरद पढते हुए कई बार गुस्से में मैंने उस की कृतियो को पटक दिया है, और रोते-रोते उसे कोसने को जी किया है। 'कम्बख्त न जाने हमे कितना और तग करेगा!' इस भाव से फिर उस की पुस्तक उठा कर पढनी शुरू कर दी

है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल प्रेमचन्द की कृतियो से उन के प्रति अनजाने सम्मान और परिचय का भाव उत्पन्न होता है।

शरद और कई अन्य की रचनाएँ पढते वक्त जान पडता है जैसे इन के लेखक हम से परिचय बनाना नहीं चाहते, हम-तुम की मान्य-मान्यताओ की इन्हे बिलकुल पर्वाह नही है, हमारे भावो की रक्षा करने की इन्हे बिलकुल चिन्ता नही है। जैसे हमारा जो दुखता है या नही दुखता, हम नाराज़ होते है या खुश, हमे अच्छा लगता है या बुरा—इस का खयाल रखने का ज़रा भी दायित्व उन पर नही है। हमारे लिए उनके पास ज़रा दया नही है। वे लेखक निरपेक्ष और निश्चित होकर हमे जी चाहे जितना रुला सकते है। परन्तु प्रेमचन्द हमारे प्रति निरपेक्ष नही हो सकते।

शायद इसी निरपेक्षता की आवश्यकता को विचार कर अग्रेजी की उक्ति बन गई थी,–Art for Art's sake (=कला-कला के लिए)। किन्तु यह वचन मेरी समझ मे सत्य को बहुत अधूरे ढग मे प्रकट करता है। या कहे, सत्य खोल कर प्रकट नही करता, उसे मानो बाँध कर बन्द करने की चेष्टा करता है। मुझे कहना हो तो कहूँ,—Art for God's Sake (=कला परमात्मा के लिए)।

रवीन्द्र आदि की कृति में किसी एक स्थल पर उँगली रखकर कहना कठिन है कि, 'कैसा अच्छा है!' शरद की खूबी समझ मे नही आती कि किस खास जगह है। एक-एक वाक्य करके देखो तो कोई विशेष विस्मयकारी बात नही मालूम होगी। पर प्रेमचद मे से कही कोई वाक्य उठा ले, जान पडेगा कि मानो स्वय सम्पूर्ण है, चुस्त कसा हुआ, अर्थ पूर्ण है।

पहले ढग की किताब को जी अकुलायगा तभी हम उठा कर देखने लग जायगे। चाहे कितनी ही बार पढी हो हमे वह नवीन-ही लगेगी। प्रेमचन्द की किताब को एक बार पढ लेने पर फिर पढने की तबियत कम शेष रहती है।

मैंने कहा है : Art for God's sake, अर्थात् परमात्मा के प्रति, सत्य के प्रति कलाकार का दायित्व है। इसको कलाकार जब समझेगा तो पायेगा कि उसका अपने अंतस्थ प्रति दायित्व है। इसलिए वह पाठक-समाज की धारणाओं की ओर से निरपेक्ष और निश्चिन्त होकर अपने प्रति सच्चा रह कर अपने को प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति, समाज या पुस्तक के पात्र की भावनाओं की रक्षा के निमित्त अत्यन्त आतुर हो उठने का कलाकार को अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त निरकुश हो कर चलना पड़ता है। जिस प्रकार परमात्मा अपने विश्व का संचालन हमारी-तुम्हारी परिमित समझ को देखते हुए, अत्यन्त निरंकुश होकर करते हैं; विश्व को जरा-व्याधि, रोग-शोक और जन्म-मृत्यु से भरा बनाये रखते हैं; किसी खास व्यक्ति या समूह की कोई विशेष चिन्ता करते नही मालूम होते;—इतना होने पर भी वे परम दयालु हैं। उनकी दयालुता किसी विशेष वस्तु या प्राणी के अच्छा लगने न-लगने पर निर्भर होकर नही रहती। वह इतनी मर्मगत, इतनी व्याप्त और इतनी बृहद् है कि उस का कार्य-परिणमन हम छोटी बुद्धि वालों को निरंकुश जंचता है। उसी सबके पिता सिरजनहार के अनुरूप सृजन का अधिकार रखने वाले कला-कार को रहना पड़ता है। वह रचना में अत्यन्त निर्मम होगा, किसी के प्रति उस में विशेष ममता-भाव है, ऐसा वह नहीं दिखला सकेगा। विद्वान पर मौत आयेगी तो उसे स्वीकार लेगा, शठ समृद्धिवान् बनता होगा तो उसे बनने देगा। फिर भी, सहानुभूति और प्रेम से उसका हृदय भरा होना ही चाहिए। वह सहानुभूति या स्नेह इतना उथला न हो कि छलकता फिरे।

संसार में प्रकट दीखने वाली निरंकुशता के मार्ग से एक बृहद् सत्य की लीला सम्पन्न होरही है। हम नहीं जानते इसलिए रोते-झींकते हैं। हम जिन छोटी-मोटी बातों को सिद्धान्त बना कर काम चलाते हैं, उनकी ज्यों-की-त्यों रक्षा जब हमें होती नहीं दीखती तब हम दुःखी होते और

अस्थिर होते है। इस तरह अपने अहं-ज्ञान को बीच मे डाल कर हम जिस परमात्मा का विश्वास हमारे लिए सहज होना चाहिए था उसी को अपने लिए दुष्प्राप्य और दुरधिगम्य बना लेते है। सबमे निवास करती हुई उसकी दयालुता हम नही देख पाते, इसलिए कहते है कि वह है नही, है तो दयालु नही है, मनमाना (C'.pric.ous) है। हमारा तर्क यह होता है कि 'हम भलेमानस है फिर भी गरीब है, इसलिए ईश्वर नही है, है तो ठीक नही है।' इसी तरह कलाकार की वृत्ति मे किसी अन्तरतर सत्य को पाने और सम्पन्न करने की निष्ठा रहती है, दुनिया को बनाई धारणाओ की रक्षा करने की चिन्ता उसे नही होती। सदाचार के और अन्य भाति के अपने नियम-कानून बना कर जीती रहने वाली दुनिया अपनी सब धारणाओ का समर्थन वहाँ पाये ही, ऐसा नही होने पाता। ऊपर के तर्क से चलने वाली दुनिया की तुष्टि के लिए और उसके अहं समर्थन के लिए कलाकार नही लिखता। इसी से कहा गया Art for Art's sake,—अर्थात कला का हेतु स्वय कला है। किंतु इसका ही सम्पूर्ण परिष्कृत रूप है Art for God's sake, और इसका अभिप्राय है कि कला अहंवादी, बुद्धिवादी दुनिया को खुश करने या रखने की खातिर नही होती, वह God अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा के लिए होती है।

प्रेमचन्द जी में उक्त प्रकार की निरपेक्षता पूरे तौर पर नही आई है। वे पाठक की अलग से चिता करते हुए चलते है, और अपनी किसी बात से सहसा दुनिया को धक्का दे रहने के विचार से बचते है। उन्होने कोशिश करके जिसे सुन्दर और शिवरूप समझा है, लोगो की वर्तमान स्थिति को किसी विशेष गडबड मे न डालने की चिन्ता रखते हुए, वह उसी को लिखते है। उनके पात्र अशरीरी नही होते, सूक्ष्म-शरीरी भी नही होते, वे अतर्क्य नही हो पाते। वे जो कुछ भी होते है Common sense (=सामान्य

साधारण-बुद्धि) के मार्ग से ही होते है। असाधारणता उनमे यदि प्रेमचन्द कही कुछ रखते भी है तो मानो साधारणता के मार्ग से ही उसे प्राप्त और गम्य बना लेते है। पाठक के मन में प्रेमचन्द जी के पात्रो से एक प्रकार का सतोष होता है, कोई गहरी बेचैनी नही जाग उठती, कोई गहरा खिचाव जो मित्रता से आगे हो, एक गम्भीर तृप्ति जो सतोष से गहरी हो नही होती। प्रेमचन्द जी पाठक का मन रख लेते है, अपना ही मन पाठक के सामने रखदे, यह नही करते।

मै फिर भी प्रेमचन्द जी को हिन्दी का नही ससार का लेखक मानता हूँ। बहुत जल्दी ससार भी यह मान लेगा, चाहे फिर अपने शीर्ष पर न भी ले।

सामयिकता को लाघ कर, मानो सामयिकता का आधार थाम गहरे उतर कर, जो कृति जितनी ही सत्य के अनुरूप होकर चलती है, वह उतने ही अश में सर्वकालीन और सर्वदेशीय होती है। वह उतने ही अश में अनायास काल को चुनौती देती हुई चिरजीवी और देश और भाषा की परिधियो को फाँदती हुई विश्वव्यापी हो जाती है।

सत् है एक, अर्थात् सत्य है ऐक्य। सपूर्ण सत्ता को सचेतन एकमय देखो, वही है परमात्मा। इस सनातन ऐक्य को पाने की चेष्टा का नाम है . प्रेम। पर वह प्रेम सहज सम्पन्न नही होता। यह जो चारो ओर लुभाती हुई, भरमाती हुई, भिन्नता फैली है,—उस सब लोभ और भ्रम और माया के समुद्र मे आँख-कान मूद कर गहरी डुबकी लगा कर पैठने से वह प्रेम कुछ कुछ दिखाई पड सकता है। इसके लिए गहरी साधना की आवश्यकता है। परतु इस ऐक्य को पाने की भूख भी प्राणी में कम गहरी नही है। पर बहुत कुछ उसकी तृप्ति मे आडे आता है और वह भूख बहुत तरफ से परिमित, सकुचित, भूखी रहती है। और तो क्या, यह शरीर ही रुकावट बनकर सामना करता है। यह हमको सबसे

एकाकार तो होने दे सकता ही नही। फिर भी, इसकी सहायता से भी हम आगे बढते है। स्त्री, माँ, भाई, बहिन, पिता आदि नातो द्वारा, जो इस शरीर के कारण बन जाते है, हम अपने प्रेम का विस्तार साधते है। वह प्रेम नाना स्थानों पर नाना रूप मे प्रकट होता है। वह प्रेम तत्काल को पारकर जितना चिरस्थायी और शरीर के प्रतिबन्ध को लाघकर जितना अखिलव्यापी और सूक्ष्मजीवी होता है—और इस कारण तात्क्षणिक स्थूल तृप्ति मे न जीकर वह जितना उत्सर्गजीवी होता है, उतना ही वह सत्य के अनुरूप अर्थात् स्वस्थ, गभीर और आनन्दमय होता है। लेकिन काल और प्रदेश की रेखाओ मे आकार पाकर ही तो जीवकी जीवन यात्रा चलती है, इसलिए उसका प्रेम सर्वथा निर्विकार सत्यानुरूपी नही हो पाता। इस तरह व्यक्ति के जीवन मे सदा ही द्वन्द्व चलता है।

इस दृष्टि मे देखा जाय तो कलुषित कुत्सित प्रेम कुछ नही होता। विस्तृत ऐक्य के जिस तल तक मनुष्य उठ आया है उस तल से नीचे की चेष्टाए जब किसी में देखता है, तो उसे कुत्सित आदि कहने लगता है।

तो, नानारूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसा कर उसे अह-भाव मे रूढ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गुप्त सच्चिदानन्द इस आयोजन को तोड-फोडकर स्वय प्रतिष्ठित होने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वद्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य का क्षेत्र है।

प्रेमचन्द जी इस द्वन्द्वावस्था को सूक्ष्म नही तो सरल दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते है। फिर इस द्वन्द्व मे वह जिस निर्मल प्रेमभाव की प्रतिष्ठा करते है वह देहातीत होता है,—वह बीतते हुए क्षण के साथ मिटता नही। वह सेवामय प्रेम दुनियादारी की, गलतफहमियो की, अज्ञानता की, विफलता की, हीनता की कितनी ही कठिनाइयो के साथ लडता-झगडता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्ग-तत्पर रहता और रह सकता है। इस आत्मयुद्ध, धर्मयुद्ध, का चित्र प्रेमचन्द जी सजीव बना पाते है। वही

सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वय टिकाऊ है उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नही देगा। मै कहता हू कि प्रेमचन्द जी ने अपनी कृति मे जो चिरस्थायी और व्यथाशील प्रेम का बीज रख दिया है वह निरा सामयिक नही है, उसमे स्थायित्व है।

सामयिकता से प्राण खीचकर कइयो ने रचनाए की है जो रगीन होकर सामने आ गई है, पर अगर आज वह हाथो-हाथ बिकती है तो, हमने देखा है, कल वह मर भी जाती है। जो रचना शाश्वत सत्य के श्वास से जितनी अनुप्राणित होगी वह उतनी ही शाश्वत और अमर होगी। माया मे से रस खीचकर, देश और काल के प्रतिक्षण और प्रतिपग बदलते जाते हुए मतो और वासनाओ को आधार बनाकर, सामयिकता की लहर पर नाचती हुई जो कृति हमे लुभाने आती है, वह आज हमे लुभा ले सही, पर कल हमे ही उसकी याद भूल जायगी, इसका हम विश्वास रखे।

प्रेमचन्द जी की कृति सामयिकता की परिधि को लाघकर और हिन्दी भाषा की परिधि को लाघकर किसी-न-किसी हद तक अनागत व्याप्ति की ओर बढेगी, निस्सदेह उसमे ऐसा बीज है।

: १७ :

आलोचक के प्रति

कई बाते जो आलोचक को उलझाती है अपनी खातिर इतनी ध्यान देने योग्य नही है।—उन्हे जल्दी पार कर ले।

पहली बात है भाषा। भाषा पर मै किसी को रोकना नही चाहता हू। भाषा है माध्यम,—मन उलझा है तो भाषा सुलझी कैसे बनेगी ? इसलिए भाषा के निमित्त को लेकर भी ध्यान यदि मन का रखा जाय तो क्या यह उत्तम न हो ? मन के भीतर से भाषा का परिष्कार स्थायी होगा। पर एक कठिनाई भी है। वह यह कि गहन गहराई मे उतर कर चलना ऐसा सरल नही होता जैसा ऊपर मैदान मे चलना। लिखना क्यो है ? अपने भीतर की उलझनो को सुलझा पाने के लिए भी तो वह है। वहाँ भीतर बडी चकरी अंधेरी गलियाँ है, वहाँ प्रकाश हो जाय तो बात ही क्या ! इससे वहाँ पैठ कर राह खोजने वाले की गति कुछ धीमी या कुछ दुर्बोध या कुछ चकरीली सी हो जाय तो क्षम्य मानना चाहिए। यह उसके लिए गर्व की बात नही है, लाचारी की बात है।

आलोचक को एक नई कृति मे भाषा के प्रयोग कही कुछ अनहोने से लगेंगे ही। ऐसा न होना चिन्ता का विषय हो सकता है, होना तो स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। उसकी वह अद्वितीयता खुरचकर मिटाने से भी बाहर मे और भीतर से नही मिट सकती। राह यही है कि प्रसन्न भाव से उस अद्वितीयता के साथ समझौता कर लिया जाय। उससे विरोध नही ठाना जा सकता। परन्तु भाषा के प्रयोग मनमाने हो और चौकाने के लिए हो तो बुरा है। पाठक को चौकाये, इसमें तो लेखक का अहित ही है,—चौका कर वह किसी को अपना मित्र नही बना

सकता। फिर भी यदि चौंका देता है तो उसे क्षमाप्रार्थी भी समझिए,—इसे अकुशलता का परिणाम मान लेना चाहिए। अगर अपनी ओर से कहूं कि वह आग्रह का परिणाम नहीं है, तो पाठक को इसे असत्य मानने का आग्रह नहीं करना चाहिए।

भाषा पर मैं क्वचित् ही ठहरता हूं। राह दीर्घ है, यहाँ ठहरना कहाँ? जब ठहरने का अवकाश नहीं है तब सोच-विचार कहाँ से हो कि भाषा को ऐसा बनाओ अथवा ऐसा न बनाओ। बनाने से भाषा के बिगडने का अंदेशा है। सोचकर चलने से व्यक्ति का उस पर अहंकार लद जाता है। यों भाषा बढिया भी लगे, पर कृत्रिम हो जाती है। बढिया-घटिया तो फैशन की बातें हैं। फैशन बदलता रहता है। बढियापन का लालच पाकर मैं कृत्रिम भाषा पाठक को कैसे दूं? यदि मैं पूरे रूप में परिष्कृत नहीं हूं तो यह मेरा अपराध है, पर जो हूं वही रहकर मैं पाठक के समक्ष क्यों न आऊं? बन-ठनकर कैसे आऊं? पाठक का तिरस्कार मुझे सह्य होगा, पर पाठक को धोके में मैं नहीं रक्खूंगा। यह विश्वास रक्खा जाय कि मैं सुगम होना चाहता हूं, क्योंकि पाठक से घनिष्ठ और अभिन्न होना चाहता हूं। साधारण और सरल रहना चाहता हूं, क्योंकि अपने और सबके प्रति सभ्रमशील रहना चाहता हूं। दर्प दयनीय है। तब मैं भला किसकी रुचि अथवा मत को चुनौती देने की धृष्टता करूं?

एक बात और भी है। किताबों में प्रेस की भूलें भी होती हैं। वे ऐसी दक्षता से किताब में अपनी जगह बना रहती हैं कि अति सावधान पाठक भी उन्हें नहीं पकड सकता। वे वहाँ वाक्यों के बीच में जम बैठती हैं और मनमानी करती हैं। दूसरे यह कि हिन्दी में पक्चुएशन किसी निश्चित और अनुकूल पद्धति पर अभी नहीं जम पाया है। उसे स्थिर होना चाहिए। भाषा को वश में लाने के लिए वह आयुध हिन्दी में अभी पूरा काम नहीं देता।

फिर यह कि प्रत्येक परिचय मे कुछ नवीनता होती है। परिचय की प्रथमता धीरे-धीरे जब दूर होगी तब भाषा के पहनावे पर ध्यान गौण होता जायगा—उसकी आत्मा के साथ घनिष्ठता बढेगी। यहाँ घबराहट उचित नही है। क्योंकि पहनावा ही आदमी नही है, अत, वह वृत्ति भली नही है जो नवीनता को शनै शनै पककर अपने साथ घनिष्ठ नहीं होने देना चाहती।

अपने लेखन-काल मे पाठक की हैसियत से मैने एक बात सीखी है। वह यह कि जगत् के प्रति विद्वान् बनकर रहने से कुछ हाथ नही लगता। जो पाना चाहता हू वह, इस भाँति, कुछ दूर हो जाता है। जगत् के साथ विद्वत्ता का नाता मीठा नाता नही है। विद्वान् के निकट जगत् पहेली हो जाता है,—जगत् अज्ञेय बनता है, और विद्वान्, उसी कारण, उसे स्पर्द्धा-पूर्वक-ज्ञेय रूप मे देखता है। फलत विद्वान् मे एक रसहीन कुण्ठा और धारदार आग्रह पैदा होता है। जगत् उसके लिए प्रेम की और आनन्द की चीज़ नही हो पाता। विद्वान् प्रत्याशा बाँधता है कि जगत् उसकी थियरी मे, उसके 'वाद' मे, चौखूटा बैठ जायगा, पर ऐसा होता नही और विद्वान् अपनी प्रत्याशाओ मे विफल अत जगत् के प्रति रूक्ष और रुष्ट रहता है। विद्या-गर्व के ऊपर जीवन जीने की यह पद्धति सम्पूर्ण नही है। नही, यह सच्चिदानन्द की ओर नही ले जाती। उपलब्धि की यह राह नही। अपना एक 'कोड' बना लिया जाय और दुनिया के प्रति अधीर और असतुष्ट रहा जाय कि वह क्यो सीधे तौर पर उस कोड मे बधकर नही बैठती है,—ऐसे क्या मिलेगा ? इस मनोवृत्ति मे सुधार का नशा मिल सकता है, पर किसी हित अथवा किसी विद्या की अभिवृद्धि इस भाति कठिनता से ही हो सकती है।

इस वृत्ति से पाठक बचे तो ठीक। उसे रसग्राही वृत्ति चाहिए। वह अपने को खुला रक्खे,—जमकर निर्जीव बन गई हुई धारणाए अपने

पास न रक्खें। विद्वत्ता का बोझ बोझ ही है। उससे जीवनानन्द के प्रति खुले रहने की शक्ति ह्रस्व होती है।

मैने अपने सम्बन्ध में पाया है कि जब-जब चीज को स्पर्द्धापूर्वक मैंने अधिकृत कर लेना चाहा है, तभी तब मेरी दरिद्रता ही मुझे हाथ लगी है और जितना मैंने अपने को किसी के प्रति खोलकर रिता दिया है उतना ही परस्पर के बीच का अन्तर दूर हुआ है और एकता प्राप्त हुई है। ऐक्य-बोध ही सबसे बडा ज्ञान-लाभ है और तब से मैंने जाना है कि आत्मार्पण मे ही आत्मोपलब्धि है, आग्रह-पूर्ण सग्रह मे कल्याण नही है।

एक और तत्व ज्ञातव्य है। कुछ भी, कोई भी, निरे अपने आपे मे महत्वपूर्ण नही है। कोई कथन सीधे अपने शब्दार्थ मे और कोई घटना अपने सीमित अर्थ मे सार्थक नही होती। सबका अर्थ विस्तृत है,—वह अर्थ निस्सीम में पहुचने के लिए है। उसी ओर उसकी यात्रा है। इससे सब कुछ मात्र सकेत रूप में, सूचक-इगित रूप मे, ही अर्थकारी है। समग्र से टूटकर अपने खडित गर्व मे वह निरर्थक रह जाता है। निरर्थक ही क्यो,—इस भाति वह अनर्थक भी है। इसलिए प्रत्येक विवरण को जहाँ तक हो वहाँ तक मूल जीवन-तत्त्व के साथ योग-युक्त देखना होगा।

पुस्तक मे भी यही बात है। हर बात वहाँ पात्र की मनोदशा की अपेक्षा मे आशय-युक्त बनती है। पात्र की मनोदशा को व्यक्त, अर्थात् पुस्तकगत जीवन-मर्म को उद्‌घटित, करने के लिए जो आवश्यक नही है वह वर्णन परिहार्य है। ऐसा मोह न लेखक को भला न पाठक को उचित। 'यह और भी लिख दूँ',—कैसा अच्छा आइडिया है!,' 'अरे आगे क्या हुआ ? फिर क्या हुआ ? हमें यह लेखक ने बीच में कहाँ छोड दिया !'—इस तरह की बाते मोहजन्य है। अपने आप में कुछ उल्लेखनीय नही है। जो सर्वांशत' पुस्तक के प्राण के प्रति समर्पित और समुपलक्ष्य नही है वह वर्णन बहुमूल्य होने पर भी त्याज्य बनता है। ऐसे बाह्य वर्णन पर लेखक

अपनी लुब्ध दृष्टि कैसे डाल सकता है ? इस भाति स्पष्ट है कि बडी-से-बडी वस्तु भी अनुपयोगी और छोटी-से-छोटी घटना भी व्यक्ति और ग्रन्थ के जीवन मे विराट्-आशय बन सकती है। तुच्छ इस सृष्टि मे कुछ भी नही, किन्तु यह सृष्टि इतनी अछोर, अपार, अनन्त है कि यहाँ बडी-से-बडी चीज भी अपने आपके मान में उपहासास्पद हो जाती है।

यहाँ साहित्य की मर्यादा को हम समझे। पुस्तक के और हमारी आखो के सामने के ठोस जगत् मे अन्तर है। पुस्तक दर्पण नही है। साहित्य ज्यो का त्यो बाजारी दुनिया के प्रतिबिम्ब को अकित करने के लिए नही है। इस दृष्टि से साहित्य विशिष्टतर है,—यह विशिष्टता उसकी मर्यादा भी है। साहित्य के नायक और पात्र दुनिया के आदमी की तुलना नही कर सकते। यहाँ दीन-हीन आदमी भी मन-भर मे ऊँचा तो तुल जाता है, पर पुस्तको के महापुरुष मिलकर भी तराजू में फूक जितने नही तुल सकते। फिर भी वे सत्यतर हो, कम सत्य किसी तरह नही हैं। इस अन्तर को खूब समझ लेना चाहिए। पुस्तक के पात्र अशरीरी होते है। हमारे भाव है उनका प्राण और विचार शरीर। यो एक ही दम सामाजिक मनुज से वे अतुलनीय हो जाते है। वे नही दीख सकते, क्योकि जड शरीर उनके पास नही है। फिर भी वे सतत रूप से हमारे सामने है, हमारे भीतर है और अमर है, ठीक इसी लिए कि वे पच-भूत जडित नही है। उनका अस्तित्व मानसिक है, उनका जीवन-तर्क हमारी जीवन नीति से भिन्न है, वह और ही तल पर है और हमारे विज्ञान अथवा शास्त्र का बधन उनपर नही है। हमारी सभव-असम्भव की मर्यादा भी उन पर लागू नही है। वे हमारी ही कृति हो और है, पर हम से कही चिर-जीवी सूक्ष्म-जीवी है। वे हमारी सूक्ष्मीभूत वृत्तिया है जो हमारे भीतर घिरी नही है पर बाहर भी नही है। देखा जाय तो भीतर और बाहर से हम ही उनमें घिरे है। साहित्य मे भूत हो सकते है और परियाँ भी हो सकती है। वहाँ चर-अचर, मानव-अमानव, समाज और प्रकृति, देवता

और दैत्य,—सब हो ही नही सकते प्रत्युत सब आपस में एकम-एक भी हो जा मकते हैं। गूगी पृथ्वी अपनी सूनी, फटी, तप्त आँखो से ताकती रहकर कालेरो ष से घुमडते हुए बिजली से भरे आसमान मे से झरझर आँसू खीच ला सकती है और उस आदमी को अपनी अथाह करुणा मे क्षमा कर सकती है जो इन आँसुओ में झरती पीर को बस बारिश कह कर विद्वान् बना बैठा है। वहाँ समन्दर की मछली उड कर सातवे आसमान में बैठे परमात्मा के पाम भी फरियाद ले जा सकती है और न सुनने पर घोषणा कर मकती है कि परमात्मा परम निर्दय है। यह सब कुछ हो सकता है। और जो अपनी विज्ञान की खोज मे सच्चा है वह जानता है कि मानवीय जो है सापेक्ष है, निरपेक्ष सत् की अपेक्षा असत् है, मिथ्या है, और मिथ्या का सहारा लेकर ही बेचारा मानव सत्य की ओर बढ सकता है। समस्त ज्ञान छद्म-ज्ञान है। यहाँ सत्याभिमुखता ही सत्य है।

आशय मेरा झूठ की बडाई से पाठक को आतंकित करना नही है। सीमित धारणाओ मे से उठाकर पाठक को असीम में पटक देने जैसी भी इच्छा नही है। हमारा वहाँ वश भी नही। उद्दिष्ट मात्र यह दिखाना है कि हम अपनी ससीमता जब सत्य पर ओढाते है तब मानो अपनी ही तुच्छता स्वीकार करते हैं। यदि हम असीम को और अरूप को स्वरूपवान् बनाकर ही हृदयगम कर सकते है, तो अवश्य ऐसा करे। ऐसा करे बिना गति भी कहाँ? पर हमारा सब-कुछ मात्र इस प्रतीति के पारस-स्पर्श से स्वर्ण बन जाता है कि हम में अव्यक्त ही व्यक्त हो रहा है, हमारे ज्ञान-विज्ञान की यात्रा अनत-अखडकी ओर है। यह प्रतीति नही तो हमारा सब-कुछ मिट्टी ही है।

इसी से जिज्ञासा एक वस्तु है, स्वप्न और। साहित्य मर्यादा-हीनता नही है, जिज्ञासा सशय नही है। पुस्तक के पात्रो मे उनकी अपनी ही एक मर्यादा होती है। उनका तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है।

मनोविज्ञान की किसी प्रवेशिका मे से उनका नियामक नियम नही निकाला जा सकता। यदि पुस्तक के चरित्र हमारी इस दुनिया के अनुरूप चलते दीखते है तो इस हेतु नही कि वैसी अनुरूपता उनका लक्ष्य है प्रत्युत केवल इसलिए कि उस अनुरूपता के सहारे लेखक अपने को दुनिया के उन सहृदयो के निकट और उनके हृदयो का अपने निकट पहुँचाना चाहता है। किन्तु साहित्य की उत्पत्ति अनुभूत म से हो, प्रेरणा अननूभूत आदर्श मे से है। जब तक वह है, और वह तो सर्वथा सनातन है, तब तक चरित्र आदर्शानुगामी होगे, जगदनुगामी नहीं भी हो सकते है। उनका हक है कि वे सामान्य पथ पर न चले, सामान्यतया साधारण न हो, किसी भी परिचित पद्धति का समर्थन न करे, और दुस्साहसिक हो कर भी ऊर्ध्वगामी बनें।

इस स्थल पर वे शब्द दोहराये जा सकते है जो 'सुनीता' पुस्तक की प्रस्तावना में आ गये है। वे यहाँ प्रसगोपयुक्त हो सकते है। " पुस्तक मे रमे हुए लेखक को जैसे चाहे समझो। किसी पात्र म वह अनुपस्थित नही है और हर पात्र दूसरे से भिन्न है। पात्रो की सब बाते लेखक की बाते है फिर भी कोई बात उसकी नही है, क्योकि उसकी कहा—वह तो पात्रो की है। कहानी सुनाना लेखक का उद्देश्य नही। (उन सबका नही जो अपने साहित्य मे जीवन-लक्ष्यी है।) इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर चित्र बनाया जा सकता है। उस खण्ड मे सत्य का दर्शन पाया जा सकता है और उस चित्र मे उसका दर्शन कराया जा सकता है। जो ब्रह्माण्ड मे है वह पिण्ड मे भी है। थोडे मे समग्र ही को दिखाना है • ।"

असल बात उस झाँकी को देना और लेना है जिसको लेकर अक्षर शब्द मे लीन हो गये है, शब्द वाक्यो में और वाक्य पुस्तक के प्राणो मे। अपने आप में वाक्य भी निरर्थक है, शब्द भी निरर्थक है, अक्षर भी

निरर्थक है । वे अपने में गलत भी नही हो सकते, सही भी नही हो सकते। वे वही हो सकते है जो है, और वे मात्र सूचक है । उनकी सार्थकता उस जीवन-तत्त्व के वाहन होने मे है जिसकी सेवा मे वे नियोजित है ।

वह जीवन-तत्त्व मनोवैज्ञानिक नही है । वह व्यवहार सिद्ध नही, लोकस्वभाव से घिरा नही है । वहॉ हमारा ज्ञान-विज्ञान लय होता है, जैसे नदियाँ समुद्र मे लय हो जाती है । वही इन सब को फिर पोषण भी देता है । पर वह इन सब से अतीत है, इनकी रक्षा के दायित्व से वह परिबद्ध नही है, क्योकि वह तो उन की आत्मा है ।

पुस्तक के भौतिक विवरण भी इसी भाति स्वाधीन समझ लिए जाए जैसे सजीव पात्र । पुस्तक का हरिद्वार (प्रेमचन्द की 'कर्मभूमि' का) भूगोल वाला हरिद्वार नही है । ह्यूगो का पैरिस फ्रास से अधिक ह्यूगो का है । वह नकशे का नही हो सकेगा क्योकि, वह ह्यूगो के मन मे ही होने लायक था । किन्तु नामो मे क्या धरा है, पैरिस का वर्णन देने वाली हर कोई पुस्तिका तो अपने लेखक को ह्यूगो नही बना सकती । इस से उचित है कि पाठक इन पर अटके नही । इस प्रकार की नाम-धाम की प्रमाणिकता कोई बहुत अतिम वस्तु नही है ।

ये ऊपरी बाते है । वैसी त्रुटियाँ तो होती ही है । कहाँ वे नही होती ? खण्डित करके देखा गया चित्र धब्बो के अतिरिक्त क्या दीखेगा? प्रत्येक लेखक अपने लेख मे शिल्पकौशल के ऐसे अनेक दोषो को आलोचक के हाथो स्वय गिरफ्तार करा दे सकता है । सच पूछा जाय तो इस दृष्टि से सब-कुछ दोष ही है । ठीक निगाह (Perspective) न हो तो कौन चित्र असुन्दर नही है ? पर इस प्रकार की त्रुटिया लेखक की चिन्ता का विषय नही है । आलोचक के लालच का विषय भी उन्हे नही होना चाहिए । जिसके लिए आलोच्य विषय कलेवर है, लेखक का हृदय उसकी ओर भूखी निगाहो से देखता रह जाता है । कलेवर

के भीतर से जो झाँक हृदय रहा है। वह हृदय अपनी स्वीकृति चाहता है, वह अपने को पहिचनवाना चाहता है। जो कलेवर लेकर उसी के साथ शल्य-क्रिया करते और हृदय को छूछा समझ छोड देते है, उनको कृतज्ञ दृष्टि से देख सकने के लिए वह हृदय तरसता ही रह जाता है।

एक आलोचक ने रविबाबू के 'घर और बाहर' का जिक्र किया। मुझे इससे खुशी हुई। दिन हुए मैने वह पुस्तक पढी थी। तब मेरा लिखना आरम्भ न हुआ था। मुझे अब भी उसकी याद है। निस्सदेह जो 'घर और बाहर' मे है वही 'सुनीता' मे भी है।—वही समस्या है। अन-जाने ऐसा नही हो गया है, जानबूझ कर ऐसा हुआ है। किन्तु 'घर और बाहर' की समस्या रविबाबू की समस्या तभी तो बनी जब कि वह जगत् की समस्या है। उसे उस रूप मे रविबाबू से पहले भी लिया गया, उन्होंने भी लिया, और पीछे भी लोग लेगे। जग की केन्द्रीय समस्या को व्यक्ति-हृदय की परिभाषा मे रखकर जब भी देखा और सुलझाया जायगा, तब उसका वही रूप हो रहेगा।

समस्या सदा तिखूँट है। जगत् मे मूल पक्ष दो है—'स्व' और 'पर'। 'स्व' यानी 'मै'। 'मै' अर्थात् भोक्ता। भोक्ता मानकर अपनी भोग्य बुद्धि के परिमाण के अनुसार मै 'पर' को फिर दो भागो मे बाँट डालता हू—पहला जो मेरा है, दूसरा जो मेरा नही है। इसी स्थान पर समस्या बन खडी होती है। जिसे 'मेरा' माना उस पर मै कब्जा चाहता हू, जो 'मेरा' नही है उससे विरोध ठानता हूँ। इस भाँति, 'मै' जीता और बढता हू।—यही जीवन की प्रक्रिया है।

असल मे 'स्व और 'पर' का विभेद माया है। जीवन की सिद्धि उन के भीतर अभेद-अनुभूति में है। पर अभेद कहने ही से तो सम्पन्न नही हो जाता,—उसी के लिए है साधना, तपस्या, याग-यज्ञ। जाने-अनजाने

प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धि की ओर बढ रहा है। कुछ लोग वस्तु-जगत् को अपने भीतर से पाना चाहते है, दूसरे उसे बाहर से भी ले रहे है। ससार मे इस प्रकार की द्विमुखी प्रवृत्तियाँ देखने मे आया ही करती है। उन सबके भीतर से 'स्व' विशद ही होता चलता है, 'मेरा' का परिमाण सकीर्ण न रहकर विस्तृत ही होता जाता है। जितना वह 'मै' विशद और विस्तीर्ण होता है, अहकार के भूत का जोर उस पर से उतना ही उतर कर हल्का होता है।

'मै' और 'मेरा' इन दोनो को मिलाकर व्यक्ति अपना घर बसाता है। उस घर मे व्यक्ति अपना विसर्जन देता और शेष विश्व से आहरण लेता है। बाकी दुनिया में से कमाता है, घर मे खर्च करता है। जगत् से लडता है, घर में प्रेम का दान करता है। घर उस के लिए हाट नही है। इस 'घर' का ही नाम विकास क्रम से परिवार, नगर, समाज, जाति, राष्ट्र आदि होता है।

इसलिए, अगर समस्या को आब्जेक्टिव विज्ञान की राह से नहीं सब्जेक्टिव कला और हृदय की राह से अवगत और आयत्त करना है, तो उसका यही तिखूट रूप होगा—मै, मेरा, पराया और बाहरी।

अब यहाँ एक और तत्त्व ज्ञातव्य है। जिसे मै अपना मानता हूँ, अर्थात् मेरी सपत्ति, मेरी चीज आदि—वह भी अपनेआप मे निजत्वशून्य नही है। उसमे भी स्व-भाव है, अपनापन है। फिर भी जो जितना मेरा बन चुका है उसकी निजता कुछ मेरे निकट अनुगत हो रहती है। इसी से, समस्या के चित्रण में मानव-सम्बन्धो की अपेक्षा मेरे अधिकृत स्वत्व का प्रतीक बन जाती है पत्नी। पत्नी घर का केन्द्र है। वह 'मेरी' है, पर स्वय भी है। अनुगत है पर जड पदार्थ नही है,—सात.करण है और उस मे भी व्यक्तित्व है।

इन स्वामी और पत्नी के साथ ही, किसी कदर उनके बीच मे, आता

है तीसरा व्यक्ति जो 'पर' का प्रतीक है। वह भी एक दम अपरिचित नहीं है (अपरिचित कैसे हो सकता है भला ?) प्रत्युत संगत है, और वह उनकी सम्मिलित इकाई, दाम्पत्य, से स्वतन्त्र है यद्यपि सापेक्ष है।

कवि रवीन्द्र ने 'घर' में 'बाहर' का प्रवेश दिखाया। 'घर' इस से विक्षुब्ध है, चंचल है। वहाँ 'बाहर' संदीप के रूप में अनिमंत्रित है, पर प्रबल है। 'घर' की विक्षुब्धता गहन होती जाती है, मानो बाहर के धक्के से घर टूट जायगा। बाहर का धक्का दुर्निवार है, सर्वग्रासी है। समस्या घोरतर से घोरतम होती जाती है। तब क्या होता है ?—तब कुछ होता है जिससे समस्या बन्द हो जाती है ! संदीप पलायन कर जाता है। पत्नी मुड़कर पति के प्रति क्षमा प्रार्थिनी बनती है और फिर पत्नीत्व में अधिष्ठित होती है। ऐसे मानों निर्णीत होता है कि 'घर' को 'बाहर' के प्रति निरभिलाषी एवं विमुख होकर ही अपने को निष्पन्न करना होगा।

कवि की लेखनी की समता ही क्या ! वह अतुलनीय ही है। पर मेरे मन को समाधान नहीं मिला। 'घर' सयत्न-साग्रह अपनेको 'बाहर' के प्रति दुष्प्राप्य और प्रतिकूल बनाकर बैठे और उस 'बाहर' को सर्वथा बहिष्कृत और निषिद्ध बनाये रक्खे,—क्या यह समाधान है ? क्या यह सिद्धि है ? यहां अभेद कहां है, यहां तो भय है। प्रेम कहां है, यहां तो अप्रेम भी है। यही होना हो तब तो सुलझन ही क्या हुई? ऐसा कुछ समाधान क्या चिर-प्राप्त अर्हंसिद्ध स्थिति-रूढ़ समाज-नीति में से भी नहीं प्राप्त हो सकता ?

सो मन के इस तरह के असंतोष का भी 'सुनीता' के जन्म में प्रभाव है। मैंने 'सुनीता' में अपनी बुद्धि के अनुसार दुस्साहस पूर्वक भी समस्या को ठेलकर आगे बढ़ाया है। मैंने इस में अपने को बचाया नहीं है और वहां तक मैं उसके साथ चला हूँ जहां तक समस्या ने चलना चाहा है।

क्या 'सुनीता' का 'घर' टूटा है ? नहीं, वह नहीं टूटा। क्या उस

'घर' को 'बाहर' के प्रति बन्द किया गया है ? नही, ऐसा भी नही। दोनो मे से कौन किस के प्रति सहानुभूति मे हीन है ? शायद कोई भी नही।

दोनो सचमुच शाश्वत रूप मे क्या परस्परापेक्षाशील ही नही है ? मैने समस्या के निरूपण मे भी तदनुरूप भिन्नता देखी और रखी है। 'बाहर' को निरे आक्रमण के रूप मे 'घर' के भीतर नही प्रविष्ट किया है। हरिप्रसन्न (पुस्तक मे वही 'बाहर' का प्रतीक पुरुष है) किंचित् प्रार्थी भी है। वह निरी अपनी अहता में वहा नही पहुँचा, प्रत्युत वहा मानो उसकी अभीष्टता है। उसके अभाव में 'घर' एक प्रकार से प्रतीक्षमान है। वहा अपूर्णता है, वहा अवसाद है, मानो उस 'घर' मे 'बाहर' के प्रति पुकार है। इधर हरिप्रसन्न स्वय अपने आप में अधूरेपन के बोध से मुक्त नही है और वह जैसे एक पुकार के उत्तर में और एक नियति के निर्देश पर ही एक रोज अनायास 'घर' के बीच में आ पहुचा है। पहुँच कर वह वहाँ स्वत्वारोपी लगभग है ही नही, अपने से विवश होकर ही जो है सो है।

कवीन्द्र का 'घर' भिन्न है और 'बाहर' भी भिन्न है। वह 'घर' आत्म-तुष्ट है, मानो 'बाहर' उसके निकट अभी अनाविष्कृत है। 'बाहर' का आगमन वहाँ एक रोज अप्रत्याशित-अयाचित घटना के रूप मे होता है। वह सदीप मित्र है, पर, यह मित्रत्व उसके व्यक्तित्व का अप्रधान पहलू है। मानो सहानुभूतिशील वह है ही नही। घर की रानी का सदीप की ओर खिचना स्पष्ट गिरना है। जैसे सदीप अहेरिया है, जाल फैलाता है, और मधु-रानी फसने को ही उस ओर खिच रही है। सदीप इस तरह कुछ अतिमानव, अप-मानव हो उठता है।

तदनुकूल भिन्नता सुनीता और कवि की मधुरानी में भी है। मधुरानी बीच मे मानो स्खलन मार्ग पर चलकर अन्त में प्रायश्चित्त-पूर्वक पति-निष्ठा में पुनः प्रतिष्ठित होती है। संदीप का गर्व खर्व होता है और

मधुरानी की मोह-निद्रा भग होती है। प्रदीप के लिए पलायन ही मार्ग है, क्योकि मधुरानी अब पति-परायणा है।

सुनीता को पति-परायणता इतनी दुष्प्राप्य किसी स्थल पर नहीं हुई है कि प्रायश्चित्त का सहारा उसे दरकार हो। पति मे उसकी निष्ठा उसे हरिप्रसन्न के प्रति और भी स्नेहशील और उद्यत होने का बल देती है। आरम्भ से ही उसकी आँख खुली है और अन्त तक जो उसने किया और उससे हुआ है, उसमें वह निपट मोहांध नही है। शुरू से वह जागरूक है और गृहिणी-धर्म से च्युत नही है। उस 'घर' में अन्त तक इतना स्वास्थ्य है कि हरिप्रसन्न को हठात् स्मृति से दूर रखना उसके लिए जरूरी नहीं है। प्रत्युत, हरिप्रसन्न के प्रति सदा वह 'घर' अपना ऋण मानेगा और उसकी याद रक्खेगा।

असल मे 'घर' और 'बाहर' में परस्पर सम्मुखता ही मै देखता हूँ। उनमे कोई सिद्धान्तगत पारस्परिक विरोध देखकर नही चल पाता।

रवीन्द्र कवि है। अपनी भाव-प्रवणता से मानव को उसके मानवीय संदर्भ से उठाकर उसे अतिमानुषिक बना देने की उनमे क्षमता है। यह उनकी शैली की विशेषता है। यही उनकी कला-दक्षता उपन्यास-पाठक के बते से बडी चीज़ भी हो सकती है। नित्य-नैमित्तिक जीवन के दैनिक व्यापार की सकीर्णता से कवि के उपन्यास का पात्र सहज उत्तीर्ण है। दुनिया के धरातल से उठकर कवि के हाथो वह दार्शनिक भावनाओ के धरातल पर जा पहुचता है। वहाँ उसके लिए विचरण अधिक बाधाहीन और उसकी सभावनाए अधिक मनोरम बनती है।

पर हर किसी को वह सामर्थ्य कब प्राप्त है? उपन्यासकार को तो कदाचित् वह अभीप्सित भी नही। 'सुनीता' के पात्रों के पैरो को मै इस धरती के तल से ऊचा नही उठा सकता। न वहाँ मेरी क्षमता है, न कांक्षा है। अतएव उनके चित्रण में सामान्यता के सम्मिश्रण की कमी

नही है । इससे 'सुनीता' पुस्तक अतिशय भावनात्मक नही हो सकी,—उसके अवयवो मे पर्याप्त मात्रा मे स्थूल साधारणता है ।

खैर, वह जो हो । याद रखने की बात यह है कि हमारा ज्ञान आपेक्षिक है । वह अपूर्ण है । जगत् की विचित्रता उसमे कहाँ समा पाती है ? अपने को मानव कब पूरा जान सकता है, जानने को शेष तो रह ही जायगा । इसलिए सदा वह घटित होता रहता है जो हमारे ज्ञान को चौका देता है । Truth is stranger than fiction के नही तो और माने क्या है ? Truth को क्या यह कहकर बहिष्कृत करे कि वह ज्ञात नही है ? तब फिर बढने के लिए आस क्या रक्खे ? जीवन की टक किसे बनावे ?

आलोचक के समक्ष मै नत-मस्तक हू । सविनय कहता हू कि जी, अवश्य मै त्रुटिपूर्ण हू । आपको सतोष नही दे सका इसके लिए क्षमाप्रार्थी हू । शायद मै आपकी चिन्ता के योग्य नही हू । पर जब आप जज है तब अभियुक्त बने ही तो मुझे गुजारा है । किंतु क्या हम दोनो बराबर आकर मिल नही सकते ? मान लीजिए कि आप जज नही है और भूल जाते है कि मै अभियुक्त हू, तब उस भाँति क्या आदमी आदमी की हैसियत से हम एक-दूसरे को ज्यादा नही पायेंगे ? मै जानता हू कि जज की कुर्सी पर बैठकर अभियुक्त को कठघरे में खडा करके उसके अभियोग की छान-बीन का काम करने मे आपके चित्त को भी पूरा सुख नही है । तब क्या चित्त का चैन ऐसी चीज नही है कि उसके लिए आप अपनी ऊची कुरसी छोड दे ? आप उस कुर्सी पर मुझ से इतने दूर, इतने ऊचे, हो जाते है कि मै सकुचित होता हू । आप जरा नीचे आकर हाथ पकडकर मुझे ऊपर तो उठावें, और फिर चाहे भले ही कसकर दो-चार झिडकियाँ ही मुझे दे । क्योकि तभी मेरे मन का सकोच दूर होकर मुझे हर्ष होगा । और तब आप पायेगे कि और कुछ भी हो, मै आपका अनन्य ऋणी बना हू ।

साहित्य की कसौटी

(१)

एक सराफ की दुकान की बात है। पहलेपहल मैंने तभी कसौटी देखी। उससे पहले शब्द जानता था, वस्तु नही जानता था।

एक सज्जन सोने का कण्ठहार लेकर आये। वह उसकी ठीक कीमत मालूम करना चाहते थे। सराफ ने पहला काम यह किया कि एक पत्थर की बटिया निकाल कर उस पर माल को घिसा। उसके बाद तोल आक कर ठीक कीमत बता दी।

फिर एक स्त्री पत्ती, आरसी और कानो की बालिया आदि लाई। सर्राफ ने उन्हे भी पत्थर पर घिसा और दाम हिसाब करके कह दिये।

इसी तरह अपनी विवाहयोग्य कन्या के साथ एक माता वहा पहुची। उनके पास कडे थे। कडे देकर वह कगन लेना चाहती थी। सर्राफ ने उन्हे भी बटिया पर कसा और वहा बनी लकीर को जाच से देखा, और तब उसके मूल्य का हिसाब लगाना शुरू किया

इस पत्थर की बटिया को कसौटी कहते है।

(२)

यहा कुछ बातें सहसा ध्यान में उठनी है—

कसौटी :

१ आभूषणो की जाच के लिये कसौटी वह हो सकी जिसे उनके आभूषण होने का पता नही था।

२ कसौटी मे आभूषण अथवा उसके स्वर्ण के प्रति आसक्ति नही

है ।सोना मन भर है कि तोला भर है, समाकार है कि तिर्छा है, राजा का है कि चोर का है, सुन्दर अलकार के रूप मे है कि अनघड डले के रूप में है, इससे कसौटी को सरोकार नही है । सोना खरा है कि उसमें किंचित् खोट है, कसौटी यही दरसाती है ।

३. कसौटी सोने की परीक्षा नही लेती । फैसला नही देती । अन्वय और विश्लेषण नही करती। स्वर्ण के स्पर्श से जो लकीर उस पर बन आती है, उसमें अनायास ही उस सोन के असल रग की झलक खिल उतरती है। वह उस सोने के अन्तरंग को अपने बहिरग पर ज्यो-का-त्यो स्वीकार करती और उलकी झलक जगत् के प्रति व्यक्त भर कर देती है ।

४ कसौटी स्वर्ण में अपने स्वत्व का कुछ अश मिलने नही देती, इसका लोभ उसे नही है । न किसी प्रकार के निषेध या निरोध की कोई चेष्टा उसमे है । इसी से स्वर्ण के वास्तव गुण-निर्णय मे वह काम आती है ।

सर्राफ:

५ सर्राफ कण्ठहार, आरसी और कडे के भेद को जानता है । वह आभूषण होने की विशेषता को पहचान और सराह सकता है । असल में उस भेद की जानकारी के आधार पर ही उसका व्यापार चलता है ।

६ लेकिन आभूषणो का असल मूल्य उस सोने का मूल्य है जो -नमे लगा है, यह भी वह जानता है ।

७. वह जानता है कि सोने की असलियत से अतिरिक्त आभूषणो में जो आकार-प्रकार और कला-कारीगरी की विशेषता है, वह कृत्रिम है, अस्थायी है, रुचि-निर्भर है, यद्यपि उससे भी लाभ उठाया जा सकता है ।

८ चीज़ को खरीदते वक्त उसकी कला-कारीगरी और आकार-प्रकार का वह शून्य भी मूल्य नही ठहराता । उस वक्त वह उसमे लगे माल यानी सोने की लागत ही देखता है ।

९ बेचते वक्त वह उसी की कला-कारीगरी और रूप-सौन्दर्य पर गाहक की निगाह अटका कर अपनी दुकान चलाता है।

आनुषङ्गिक :

१० हार के हारपन का मूल्य उसी के लिए है जिसे हार की जरूरत है, अर्थात् आसक्ति है।

११ आसक्त पुरुष जो जिस वस्तु का मूल्य लगाता है उसका वास्तव मूल्य उससे भिन्न है।

१२ आसक्ति एक वस्तु को औरो से खास बनाकर देखती है। किन्तु वास्तव मूल्य वस्तु का उस धरातल पर प्राप्त होता है जहाँ औरो के साथ उसे सम-सामान्य बनाकर देखा जाता है।

१३ तीनो आभूषण जहाँ तीन, अर्थात् हार, आरसी कडा अलग थे उस धरातल पर उनके उचित मूल्य का पता नही लगाया जा सकता। जब सब एक धरातल पर लाकर देखे गये, यानी सोने के रूप मे, तभी उनका सही मूल्य आकना सम्भव हुआ।

१४ क्रय-विक्रय से अलग होकर आभूषण का मूल्य उतना ही है जितना उसमे लगे सोने का मूल्य है।

१५. सोने मे जो कला-कारीगरी द्वारा सौन्दर्य पैदा किया जाता है उसके मूल्यवान् होने के लिये ग्राहक की अपेक्षा है, अर्थात् वह निगाह और समय के साथ बदल सकता है।

(३)

अब जौहरी की दुकान की बात करता हूँ।

इतवार का दिन है। कुछ तरुणी नवीनाए मोटर में से उतर कर उस दुकान पर आती है। वे मग्न है, और कुलीन और शिक्षित। वयोचित उल्लास और शोभा उनके मुख पर है। उज्ज्वल परिधान है। उनमें

शायद एक का हाल मे ही विवाह होने वाला है। सब सहेलियाँ जौहरी की दुकान पर छोटी-मोटी चीजे देखने आई है। जैसे रिग, हेअर-पिन, इयर-टाप्म आदि।

भाति-भाति के नमूने उन्होने निकलवाये और देखे। दुकान पर आधुनिक से आधुनिक बनाव की चीजे थी। हरएक पसन्द आती थी, पर एक-एक को नापसन्द भी करना होता था। यह समझ न आता था कि उन आधुनिको मे अत्याधुनिक डिजाइन कौन-सा है। समय तो तेजी से निकला जा रहा है। उसकी अगली से अगली लहर पर जो लहरा रहा है, वही चाहिए। उनकी खुलती वय है, इससे पुराना कुछ नही चाहिए।

"देख री देख, यह कैसा सुन्दर है! मैग्निफिसैंट!!"

कहते-कहते एक सखी ने उस इयर-टाप को काटे से खोल लिया और सहेली के कान मे लटका कर देखा।

उसकी शोभा देख कर सब बहुत खुश हुई। कोई हसने और ताली बजाने लगी और कोई तो इयर-टाप पहनी हुई सहेली को छेडने और गुदगुदाने लगी।

एक तरुणी ने पूछा—इसकी कीमत क्या है?

दुकानदार ने कहा—पाच रुपये।

लडकी बोली—वह पहले वाला दस रुपये का था और किसी काम का नही दीखता था।

दुकानदार—जी हाँ, उसका डिज़ाइन पुराना है, पर उसमे माल भारी लगा है।

दूसरी सहेली बोली—अह, वह कैसा पुरानी चाल का था! मै तो मुफ्त न लू। और यह कैसा एलीगेंट लगता है!

जिसके कान मे इयरटॉप पडा था वह सखी कुछ लज्जा और अप-मान के भाव से बोली—इसकी कीमत पांच रुपये है, सिर्फ?

प्रतीत होता था कि वह इस बात पर खिन्न है कि जो इयर-टाप उसके कान मे पड़ा है, और सुन्दर भी लगता है, उसकी कीमत सिर्फ पांच रुपये क्यों है ? काफी ज्यादे क्यो नही है ?

उसने दुकानदार से कहा—इस डिजाइन का कोई दूसरा नहीं है जिसकी कीमत ज्यादे हो ? डिजाइन यही होना चाहिए।

सहेलियो की सराहनाभरी आँखो से उसे मालूम था कि यह डिजाइन उसे बहुत फबता है। उससे चेहरे की शोभा जाने कितनी न बढ जाती होगी उससे ।

पूछा—है ? दूसरा है ?

दुकानदार—होना तो चाहिए, दखता हूँ।

थोडी कोशिश के बाद दुकानदार ऊँचे मोल का पर ठीक उसी डिजाइन का दूसरा इयर-टाप पाने मे कामयाब हो गये। अन्दर से निकाल कर उसे लाये, वह अलग मखमल की डिबिया में था।

"इसकी कीमत ?"

'जी, पेंतीस रुपये।"

तरुणी ने पहले के इयर-टाप्स उतार कर इस नये जोडे को पहना और आयने के सामने जाकर देखा। ओह, क्या खूबसूरत मालूम होता था। सखिया ठोडी से पकड कर उसके चेहरे को इधर-उधर घुमा कर देखने लगी। सचमुच, कानो से लटक कर वहाँ कपोल-भाग पर झूमता हुआ वह झुमका बडा मनोहर दीखता था। सखियाँ कोई उस अपनी सहेली को छेडती, कोई गुदगुदाती, और कोई खिल-खिल हँसकर अपनी सराहना प्रकट कर रही थी।

ऐसे वह पेंतीस रुपये का इयर-टाप लेलिया गया और बालाए चली गई।

(४)

सर्राफ और जौहरी मे फर्क है। जौहरी ऊचे किस्म का व्यापारी माना जाता है।

लेकिन यह लिखने-लिखते मित्र टोकते है कि जी नही, साख बाजार मे सराफ की ही अधिक समझी जाती है।

वह जो हो, सर्राफ उपयोगिता से चिपटता है, जौहरी कला तक उठती है। उपयोगिता और कला विरोधी नही है, पर उनके अतर से सर्राफ और जौहरी मे अतर है।

सराफ सोने की कीमत से चीज की कीमत लगाता है। लेकिन जौहरी का काम बारीक है। वह ग्राहक की पसदगी के उतार-चढाव भाँपता है। वह चीज की सूरत की खूबी पर लाभ उठा सकता है। चीज की असलियत का वह मोहताज नही। असलियत कम भी हो, उसमे लुभाव खूब है तो जौहरी खुश है। सोने की ईंट का वह क्या बनाए, जिसकी कीमत अपनी चतुराई से वह कुछ नही बढा सकता। अचतुर के पास सोने की डली का जो मोल है, जौहरी भी उससे अधिक दाम उसके नही उठा सकता। तब जौहरी की जौहराई को भला उसमे क्या रस हो सकता है!

नवीना वे तरुणियाँ असलियत से अधिक आधुनिकता को मूल्य दें, इसमे मुझे कुछ अन्यथा नही मालूम होता है। सच्चे तर्क से चला जाय तो यह कहना कठिन होगा कि रूप की कीमत स्वर्ण की कीमत से घट कर है, या कम तथ्य है। सोने की कीमत को सच्चा हम-तुमने मिल कर बना रक्खा है। सिवाय इसके कि ज्यादे लोग सोने को कीमती मान बैठे है, उसके फिर गिनाने के लिये कुछ कारण भी हो सकते है, दूसरा उसकी कीमत का समर्थन क्या है?

हो सकता है कि अफ्रीका के जगल का आदमी रगीन कांच के टुकडे के बदले खुशी से सोने के कितने ही टुकड़े फैंक दे। यह कहने से कि

जगली जगली है और हम सभ्य है, सोने की कीमत की कृत्रिमता का खडन नही हो सकता।

पर जगलियों को छोड। उन बेचारो के जगलीपन के कारण ही स्वर्ण का पक्ष कही अपने सभ्य महत्व के गर्व मे खडित न हो रहे। इसलिए उन अपनी इयर-टाप वाली सुन्दर तरुणियो पर ही ध्यान दे।

वे तरुणिया सोने की कीमत को तुच्छ करके आकृति और रूप के सौदर्य की कीमत को कही ऊ चा चढा कर देख सकी। उनकी दुनिया मे सोने का महत्व काल्पनिक और आकृति-सौदर्य की शोभा वास्तविक है।

उम्र के बडे लोग ठोस सोने की तोल मे कीमत तोलते है। जवान लोग जिनमें प्रेम की दृप्तता है और तबियत की रगीनी है, रूप-सौदर्य के मान मे वस्तुओ को मूल्य दे सकते हैं।

बडो को हक है कि जवानो को नादान समझें। और जवान लोग बुजुर्ग की दानिशमन्दी को जिदगी की मुर्झाहट समझ सकते है। मै दोनो से दूर नही हू। मुझे शका है कि जवानी मुझ से पूरी तरह खिसक नही रही है तो बुजुर्गी भी मुझे आ नही रही है।

हो सकता है कि साहित्य की कसौटी पाने का सवाल कृत्रिम और अनावश्यक हो। सर्राफ की कसौटी के फैसले को तरुणी और तरुण अनायास पददलित करके समाज को हरियाला बनाये रखते है। उनके बिना दुनिया विधि-निषेध के अकुश के जोर से नही तो वीरान रेगिस्तान ही कही बन जाय। इसलिए हो सकता है कि साहित्य की कसोटी इसी तरह जीवन की उमग मे पददलित की जाया करे, और उसके इन्कार पर ही साहित्यिक प्रतिभा अपनी सृष्टि खडी किया करे।

आखिर तो जिन्दगी एक प्रवाह है। हर प्रकार के वैचित्र्य को इसमें अवकाश है। नीति-नियम और आईन-कानून क्या उस जीवन को कसते

और जकडते ही नही है, कि उन्मुक्ति ही जिसकी सार्थकता है और बन्धनो का निपेध ही जिसका लक्षण है ।

फिर भी दुनिया का काम यदि चलना है, एक को दूसरे से यदि मिलना है और वोलना है, यदि यह आवश्यक है कि हम आपस में प्रेम करें, और प्रेम द्वारा सृष्टि करे; यदि आवश्यक है कि मनुष्य जाति प्रयोग और परीक्षण करती चले, लडती चले, झगडती चले, और उसमें से भी आगे बढती चले, अगर जिन्दगी को व्यक्तिगत से सामूहिक और सामूहिक से समष्टिगत होने की ओर उठत चलना है, अगर सघर्ष मे से समन्वय, सकट मे से विकास, युद्ध में से व्यवस्था और क्रान्ति के कोलाहल में से शाति का सगीत निर्माण करना है—अगर ये सब करना है तो कुछ वह भी करना होगा जो सौ फी सदी शुद्ध साहित्यिक कर्म नही है ।

हम लोग जो यहाँ करने आये है वह सौ फी सदी शुद्ध साहित्यिक कर्म नही है । साहित्य परिषदो और सभाओ में नही तैयार होता है । वह अकेली प्रेम की व्यथा में से उपजता है ।

लेकिन अकेलापन ही सब नही है और सच नही है । इसी तरह साहित्य भी सब नही है और सच होने के लिए उसमे कर्मतत्परता के सयोग की आवश्यकता है ।

सभाए, कान्फ्रेन्से, उसी कर्मतत्परता को सफल बनाने के रास्ते में आ जाती है ।

(५)

इसलिए कसौटी चाहिए । सोने के लिए नही, सोना परखने के लिए । सोने को चिन्ता नही है कसौटी की । यह तो दुनिया के लोगो ने

कसौटी का आविष्कार किया है, जिन पर सोने का मोह सवार है। उन्हे जरूरत हुई है कि स्वर्ण को अस्वर्ण से जाच कर अलग करे। और मूल्य के निश्चित मान कायम कर बाज़ार की दरें बिठाए।

हम सोना बन चलें तो हमे कसौटी की जरूरत नही है। जिन्होंने मृत्यु के बीच अमरता और बंधन के मध्य मुक्ति की साधना की है, ऐसे पुरुष स्वय ही जीवन की कसौटी बन रहे है। उनकी उपमा से ही हम जीवन सत्य को समझा करते है।

पुराने ग्रथो की सस्कृत मे जहा व्याकरण का व्यतिरेक मिले वहा पाठक को याद रखने को कहा जाता है, 'आर्षं वाक्यं प्रमाणम्।' यानी मत देखो व्याकरण, देखो कि ऋषि के वाक्य की आत्मा क्या है। तुम तो उस आत्मस्फूर्ति को ले लो, बाकी को उसकी ही चिता पर छोड दो।

लेकिन हम स्वीकार करें कि हम लोग स्वय कसौटी नही बन सके है। हम स्वय मे जीवन की उतनी शुद्ध अभिव्यजना नही है। हम उसकी पूर्णता मे जीवन नही जीते है।

हम वह नही है जिनमें से नीति स्वय विकीर्ण हो, जिनका चरित ही उदाहरण हो, जो आदर्श में इतने तन्निष्ठ हो कि स्वय आदर्श बन गये हो।

हम साहित्य द्वारा अपने से अलग, फिर भी मुख्यता से अपने लिए, आदर्श की मूर्ति गढने का प्रयत्न करने वालो में से है। यह हमारी मर्यादा है। साथ ही यह हमारी विशेषता है।

तब यह उचित और योग्य है कि हम बुद्धिपूर्वक, अपने लिए और सबके लिए, स्थिर करने चले कि साहित्य की कसौटी क्या है ?

साहित्य मे रचनाओ के विविध प्रकार है। काव्य है, नाटक है, उपन्यास है, कथा है, चम्पू है, निबन्ध-प्रबन्ध है। और अभिव्यक्तियाँ है

जिनका निश्चित वर्गीकरण कठिन है। विविध वर्ग की रचनाओं के लिए विभिन्न रीति-शास्त्र भी बन गये है। छद अलकार पर अनेक ग्रथ है, उसी प्रकार इतरवर्गीय रचनाओं के लिए भी काफी कुछ विधान-विधेय और तक्नीक प्रस्तुत मिलता है। इस पर मनुष्य की पर्याप्त मेधा-बुद्धि व्यय हुई है। उस सबकी भी उपयोगिता है।

लेकिन क्या कसौटी के लिए उस वर्गीकरण और भेद-विभेद को भूल जाना भी जरूरी नही है? भूलने का मतलब साकर्य उपस्थित करना न समझा जाय। सब में अपनी-अपनी विशिष्टता है। काव्य की शक्ति यदि कल्पना है, तो गद्य यथार्थ होकर प्रबल है। सबको गडमड करने की इच्छा हमारी नही है। पर कसौटी पाने के लिए यह तो अनिवार्य ही प्रतीत होता है कि उनके परस्पर के अतर से किंचित गहरे जाकर वहाँ से हम उनकी सत्यता को प्राप्त करें कि जहाँ सब की विविधता एकता मे बीज-भूत और रसलीन है।

वैसी ही कसौटी हमें पानी है। आकार कुछ हो, प्रकार कुछ हो, खरे-खोटे की परख के लिए साहित्य सब उस पर कसा जाय।

(६)

तो मै यह मानता हूं कि—

१—जीवन एक है। जीवमात्र एक है।

२—वह एकता हमे अगोचर है, बीच में अहकार का पर्दा है।

३—जाने-अनजाने हमारे 'अह' की परिधि बढती जा रही है। परिधि बढती उतना ही अहकार हलका होता है।

४—अहकार विग्रह, विद्वेष, मद और मत्सर आदि विकारो को जन्म देता है।

५—अहकार की क्षीणता में स्नेह, बधुता, नम्रता, सरलता आदि गुण प्रगट होते है।

६—स्व-राग और परालोचन की वृत्ति अह-जन्य है।

७—साहित्य इस वृत्ति को मद करता और मन को उदार बनाता है।

३—वह लोक-हितैक्य की भावना मे से आता है और उसी भावना को जगाता है।

४—इसलिए साहित्य की कसौटी वह सस्कारशीलता है जो हृदय से हृदय का मेल चाहती और एकता में निष्ठा रखती है। सहृदय का चित्त मुदित करता है वह साहित्य खरा। संकुचित करता है, वह खोटा।

सहृदय का लक्षण करने की आवश्यकता नही है। जो परदुखकातर है उसका जीवन अनायास सेवापरायण होता है।

: १६ :

समालोचन के मान बदलें

आलोचना का मान क्या हो, यह जानने के लिए आलोचना की आलोचना करनी होगी। उसकी मर्यादाएँ बनानी होगी। उसको किसी ऐसे तत्त्व से जोडना होगा जो अपेक्षाकृत नित्य हो, स्वय सिद्ध और स्वयसाध्य हो, और आलोचना से परे हो। ऐसा नही, तो आलोचना वाग्जाल है। वह क्षोभ है, आरोपण है, वह माया है। ऐसी आलोचना अपने को खा जायेगी। वह वन्ध्या है, वाचालता है।

इसी से आलोचना को विशेषण लगाकर समालोचना कहने की जरूरत होती है।

विवेक के बिना आदमी का काम नही चलता। विवेक मे आलोचना गर्भित है। किसको छोडें, किसको लें ? छोडने का प्रश्न ग्रहण के निमित्त से है। यदि कुछ अगीकार करना नही है, तो छोड़ने का प्रश्न नही उठता। अर्थात् विवेक किसी उपलब्धि को सामने रखकर ही त्याग और निवृत्ति की साधना बतलाता है। उपलब्धि फल नही, तो त्याग व्यर्थ है। अर्थात् विवेक में गर्भित ही जितनी आलोचना है, उससे अतिरिक्त निषेध की आकाक्षा उसमे नही है। विवेकशील प्राणी गतिशील है। वह प्राप्तव्य की ओर बढ रहा है। उस बढने मे जो आलोचना दरकार होती है, उतनी ही आलोचना वह स्वीकार करता है। शेष आलोचना उसके लिए वासना है।

ऊपर के शब्दो से पहली तो आलोचना की मर्यादा यह बनती है कि वह सोद्देश्य हो। अङ्गीकरण की आवश्यकता उसके मूल मे हो और उसी आधार पर अस्वीकरण का आदेश हो। उपादेय को प्रकट और उपा-

जित करने के अर्थ ही हेय की छान-बीन है। उपादेय को अपनाने की लगन नही है, तो हेय को निर्धारित करने चलना एक झूठा अहकार है।

यथावश्यक विवेक और प्राणियो मे तो उनके स्वभाव मे ही समाया रहता है। उनके सवेदन इस्टिक्ट ही उन्हे चलाये चलते है। सोच-समझ कर कुछ तजने और कुछ अपनाने की उन्हे आवश्यकता नही होती। अत: उनके लिए पाप-पुण्य की व्यवस्था नही है। कहो, विवेक ही नही है।

पर मानव-प्राणी की बात और है। विवेक शब्द उसके ही लिए उपयुक्त है। जो स्व-भाव मे सहज हो चुका, उसके लिए तो विवेक शब्द अनावश्यक हो जाता है। जिस सत्-भाव के लिए अभी स्व-भाव बनना हम मे शेष है, उसी के लिए विवेक शब्द का उपयोग है।

अर्थात् समालोचना का मूलाधार सत्-(की)-वृत्ति होगी। जो सत् है फिर भी अपना स्व-त्व नहीं बन पाया है। उसी को पाने, अपनाने और अपने भीतर रमाते जाने के लिए आलोचना दरकार है।

आग्रह स्व-त्व पर होता है। इसलिए आलोचक निराग्रही होगा। जिसको सत्य पर आग्रह करने का अधिकार मिला है, अर्थात् जो सत् के प्रति ऐसा तल्लीन है कि उससे अलग उसका कोई स्वत्व ही नही है, उस व्यक्ति को आलोचक होने का अधिकार नही है। क्योकि वह अपनी पूरी निर्ममता से अपना ही आलोचक होता है।

आशय कि आलोचना अपूर्णता में से आती है और पूर्ण होने की इच्छा मे से आनी चाहिए। इसलिए वह सदा विनयपूर्ण और जिज्ञासा के मार्दव से ऋजु और मृदु ही हो सकती है।

ज्ञान के बारे मे वही पुरानी कहावत सच्ची है। जो जानता है कि वह जानता है वही नही जानता है। अखिल के समक्ष अज्ञता की स्वीकृति ही विज्ञता है।

अगर ज्ञान की सच्ची प्रकृति के बारे मे ज्ञानियो का यह अनुभव सही है, तो कटीली आलोचना ज्ञान नही बढाती : वह लिखने या पढने वाले मे आग्रह बढाती है, यानी अस्मिता बढाती है। अस्मिता ही अज्ञान।

इसी बात को जरा खोल कर समझेंगे तो मालूम होगा कि आलोचना युक्ति-तर्क की क्रीडा उतनी नही है जितनी कि वह आत्माभिव्यञ्जना है। अमुक पुस्तक कैसी है यह बतलाने के प्रयोजन मे हमारा वश इतना ही है कि कह रहे हमें वह कैसी लगी। अर्थात् उसके प्रति हमने जो कुछ अपने अन्दर अनुभव किया हो और हम पर जो छाप पडी हो, वही सामने रख देने के हम अधिकारी है। फैसला देने का काम जिनका है उनका रहे। साहित्य-समालोचक का वह जिम्मा जब तक नही है तभी तक भला है। और मै मानता हू कि साहित्य-समालोचक इतना समर्थ प्राणी है कि वह जजी के कृत्रिम दायित्व को कभी अपने ऊपर नही ओढेगा। मोटे वेतन के एवज में जो किसी बने-बनाए दण्ड विधान के अधीन बन कर जज की कुर्सी से अनुशासन की व्यवस्थाएँ देते है, साहित्य-समालोचक को मै उस श्रेणी में नही मानना चाहता। वह गरीब से गरीब हो, समाज की निचली से-निचली श्रेणी में माना जाता हो, लेकिन मानव-ता में उसे ऊचा रहना होगा है। वह हार्दिक होगा, फिर चाहे समाज के हाथो वह त्रस्त भी रहे। ऊची कुर्सी के नीचे जो है, उधर उसकी निगाह है । फिर उस कुर्सी के ऊपर होने की स्पर्द्धा उसमें कैसे हो ?

हम देखे कि फैसला देने का काम करने लगने से आदमी की समाज-दर बढती है। हल्की चीज़ ऊपर आती है, भारी नीचे बैठती है। लेकिन ऊपर आती चीज को ऊपर आते देख कर भारी वस्तु को हल्का बनने की इच्छा नही करनी चाहिए। जज ऊपर हो, लेकिन सहृदय समालोचक नीचे रह कर भी अपनी सहृदयता संजोए रखेगा। क्या सहृदयता का मूल्य ही यह नही है ?

अग्रेजी मे दो शब्द है   Subjective और Objective. ऊपर के कथन में यह अभिप्राय आजाता है कि आलोचना मे कुछ ऐसा नही होना चाहिए जिसके पीछे अनुभूति का बल यानी Subjective Sanction न हो। आलोचक को मनोभूमिका सर्वथा दायित्वशील यानी अन्तर्मुखी हो तभी तटस्थ भाव मे Objective आलोचना सभव है। हृदय को बाद देकर आलोचना Objective या यथार्थ हो सकती है, यह भ्रान्ति है।

अब यह प्रश्न कि साहित्यालोचन के मान क्या हो ?

इस सम्बन्ध मे इधर आकर मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि साहित्य जीवनान्तर्गत धर्माधर्म परीक्षा का प्रकट फल है। उसमें अन्तर्निहित शोध यही है—धर्म क्या, अधर्म क्या ?

धर्म-अधर्म की जगह दूसरा शब्द रखना मुझे प्रिय न होगा। सत्-असत् का निर्णय दर्शन शास्त्र करें। वह व्यापार जीवन के व्यवहार-पक्ष से अलग रह कर भी चाहे किया जा सकता हो। लेकिन धर्माधर्म परीक्षा के लिए तो जीवन ही क्षेत्र है और कोरी बुद्धि से वह काम होने वाला नहीं है। उसमें तो कल्पना और भावना दोनो सापेक्ष होकर चलती है।

धर्माधर्म-परीक्षा की मुख्य कसौटी क्या ? क्या, तर्क ? युक्ति ? विवाद ? आगम ? विज्ञान ?

मालूम होता है कि ये सब उपकरण उपयोगी तो हो सकते है, पर कुञ्जी उनके हाथ नही है। धर्माधर्म की खरी परीक्षा तो आत्मानुभव में होती है। सत-जनो की वाणी जैसे धर्म के रहस्य को धारण करती है, वैसे ही सस्कारी हृदय साहित्य-रस को धारण करता है।

साहित्य की परख के लिए हृदय की सस्कारिता जैसी अचूक कसौटी है, शास्त्रीय पाण्डित्य वैसा नही है। और साहित्य-समालोचना का योग पाण्डित्य से हट कर हृदय की सस्कारिता से होते चलना चाहिए।

धर्माधर्म शब्द के व्यवहार से यह भी ध्वनित करने का मेरा अभिप्राय

है कि साहित्यालोचन के मान को हमें किंचित लोक-मगलीकरण से भी अविच्छिन्न रखना चाहिए।

अभी साहित्य का समाधान देखा जाता है कला की अपेक्षा में अथवा नीति की अपेक्षा मे। वही से साहित्य का समर्थन और औचित्य प्राप्त किया जाता है। लेकिन यह अपर्याप्त है। कला इतनी बारीक चीज हो चलती है कि सहज बुद्धि के लिए दुर्लभ हो। उसी तरह नीति कुछ अपने से और अपने अन्तरङ्ग जीवन से अलग जा पडती है। 'नीति' पर हम विवाद खडे कर सकते है। एक बार नीति को जीवन की भूमिका से अलग करके और उसे अपने आप में यथार्थ मान कर देखना आरम्भ किया कि वह एक शब्द की उलझन ओर आग्रह की ओट बन जाती है। इससे इन दोनो शब्दो के सहारे साहित्य मे दम्भ को भी प्रश्रय मिलता है।

अत मेरी राय है कि साहित्य-समालोचन के यथार्थ मान को अब हमें सीधे धर्म-दृष्टि मे से प्राप्त करना चाहिए। धर्म का मतलब मतवाद नही। धर्म को लोक-नीति के तल पर उतार लाते है तभी वहाँ वाद-विवाद और मतभेद पैदा होता है। तब वह जीवन की न रह कर पण्डित की वस्तु बन जाता है। अन्यथा तो धर्म सहज बुद्धि से कभी दूर नही जा पडता। उसी धर्म से मेरा मतलब है जो शास्त्रो को भी अगम है, लेकिन बालक को भी सुगम हो सकता है।

जो मान अन्त.प्राप्त सहज बुद्धि से दूर जा कर साधारण व्यक्ति के लिए दुर्गम बन सकते है, उनके द्वारा साहित्य-समालोचन का व्यापार चलाने से साहित्य-रस प्राप्त नही होता, उल्टे दुष्प्राप्य बनता है। अगर समालोचना इष्ट है तो इसीलिए कि साहित्य में जो गूढ है वह उपलब्ध बने और उसका रस अधिकाधिक सुलभ और व्यापक होता जाय। कला और नीति के जो शास्त्र बन खडे हुए है, उनकी शब्दावलि का सहारा लेकर साहित्यालोचन अब कृत्रिम, क्लिष्ट और हृदय-शून्य होता जा रहा है। वे मान अब साहित्य-रस के आदान-प्रदान में हल्के

साबित हो रहे है। डाक्टर (पी० एच० डी०, डी० लिट० आदि) उग रहे है, साहित्य सूख रहा है। इसलिए जरूरत मालूम होती है कि हम आलोचना के मान बदले। जीवन के उन्हे अन्तस्पर्श मे लावे। वह दिङ्-निर्देश आलोचन को दे जिससे कि जीवन की प्रतिच्छवि अधिक परिपूर्णता मे हमारे सामने आवे। प्रगति के वाद ने जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की है और इधर हिन्दी की आलोचनाओं में जहाँ-तहाँ प्रयोग में आने लगी है, वे जीवन को गहराई पर छूने से मानो बचना चाहती है। वह दृष्टि एकदम अधूरी और ओछी है। समूचे जीवन को अपनाने और आकलन करने की तैयारी जिन शब्दो मे नही है उनमें साहित्य के रथ को अटकाने से काम नही चलेगा।

: २० :

मान क्या : संघर्ष कि समन्वय ?

कुछ दिन हुए साहित्य-सन्देश में लिखते हुए मैंने आलोचना के मान की बात उठाई थी। मेरी समझ से वही मान साहित्य के भी होंगे। साहित्य एक और आलोचना दूसरी वस्तु है, क्या ऐसा मानना होगा ? अन्तर तो है, पर शायद प्रकृतिगत वह नही है। साहित्य मे स्फूर्ति विशेष चाहिए, तो आलोचना में किंचित् कम से भी काम चल जाता हो। वह कदाचित् गति की अपेक्षा स्थिति के अधिक निकट हो। वहाँ बुद्धि को और बुद्धि के हिसाब को अधिक अवकाश हो, और विहरणशील कल्पना की उतनी माँग न हो। फिर भी आलोचना सृजनशील न होगी ऐसा तो नही ठहराया जा सकता।

छोडिए, ये बातें कभी मेरे लिये अपनी थी, और मै उनका था। आज तो लगता है मै उस सबसे बाहर आ पडा हूँ। साहित्य में आवारा की तरह घूमा किया हूँ, यह मुझे याद है। पर और भी अच्छी तरह याद है कि वहाँ मुझे बसेरा नही मिल पाया है। पैर टेक कर साँस ले पाऊँ ऐसी धरती वहाँ कोई मिली है, यह मुझे पता नही चला। मतवादो की ऐसी भीड रही है और इतना कोलाहल कि उनमें से किसी स्वर या किसी वाद में मन लगाने की सुविधा नही हो पाई।

साहित्य से जब बाहर हो भटका उसके बाद का भी अपना हिसाब मेरे पास नही है। अगर पाता कि पाँव के नीचे धरती आगई है तो आपके खत पर झट लिख डालता कि 'साहित्य-सन्देश' मे कुछ भी लिखने से अब मेरा छुटकारा है, पीठ की तरफ मुझे नही देखना है। हक्सले (आलडस) महाशय जाने कहाँ लिख गये है, "Life is lived

forward, not backward"। यह वाक्य पढने के साथ ऐसा मन मे बैठ गया है जैसे हक्सले से कम वह मेरा अपना न हो। चाहता रहा हूँ कि पीछे न सोचू, आगे का होकर बस जीता चलू। पर जीवन की गति तीर सी सीधी तो है नही। समस्त जीवन सर्रीसृप है। सिकुड कर बढना होता है, और बढ कर और बढने के लिये फिर कुछ सिकुडना चाहिए। यानी आगे जाना पीछे सोचने के बिना न होगा। इस तरह देखता हूँ कि आपके 'साहित्य-सन्देश' के लिये पीछे हटकर स्फुट विचारो के रूप मे ही सही, मै कुछ फिर लिखने को तैयार हो बना हू।

आलोचना के मान की बात उठाई तो जान पडा था कि वह बहुतो की बात है। उस बारे मे कई और लेख लिखे गये थे, और वह विषय कुछ काल चर्चा का और ध्यान का बना रहा था। मेरे लिए वह विषय व्यावहारिक आवश्यकता का था, निरा मानसिक न था। उस पर चर्चा हो और उद्वेलन हो, इतने भर से क्यो इति मान ली गई ? प्रश्न काम का होने से चर्चा को आगे बढाये जाना और उसमे से परिणाम निकाल कर रहना था। काम न सधे तब तक आप उस प्रश्न को बराबर पीटते ही जाते, यह मै पसद करता। इसलिए 'साहित्य-सन्देश' के कालमो मे फिर उस प्रश्न को खोलने की सुविधा के बतौर यह पक्तियाँ भेट कर रहा हू।

प्रश्न की अनिवार्यता पहले से बढ गई है। उस वाद से हम-आप परि-चित है जो प्रगति के नाम मे चला था। सहारा जिस शब्द का ले, वाद अन्त में आग्रह होता है। कट्टरता मे उपजता और कट्टरता उपजाता है। कर्म सहज की जगह दलबद्ध उसे इष्ट होता है। वह साम्प्रदायिकता मजबूत करता है। उससे तू-तू मैं-मै शुरू होती है, जो कलह मेँ और वैमनस्य मे निष्पन्न होती है। एक विग्रह और दूसरे के बीज बो जाता है और ऐसे वह दुष्ट-चक्र तीव्र और दृढ होता है जो हमको परस्पर के द्वेष मे जकडे रखता है।

प्रश्न है कि साहित्य के लिये, फलत उसकी आलोचना के लिये, मान के तौर पर, सङ्घर्ष जरूरी होगा कि समन्वय ? जिस मूल श्रद्धा को लेकर

साहित्य को चलना है, वह युद्ध है, कि शान्ति ? साहित्य में हम ललकार चाहेंगे, कि स्वागत ? यह बहुत बड़ा प्रश्न है और हर एक को अपने-अपने लिये इससे निपट लेना होगा । शायद यह प्रश्न साहित्य का ही नहीं, राजनीति का भी है; बल्कि साहित्य बनाम राजनीति का है ।

राजनीति, समूह-कर्म और राज की नीति होने की वजह से, समग्र को पक्ष में, और अखंड को खंडों में बँटा हुए देखे, और समाधान को परस्पर की हार-जीत की भाषा में सोचे तो समझ में आ सकता है । कारण, उसका तल भेद है । उसको काम-काज के और संख्यागत अनेकता के बीच रहना-बसना है । उसका वही जिम्मा है । यद्यपि राजनीति में भी उससे ऊंची कल्पना यदि न होगी तो वह विधायक हो सकेगी, इसमें सदा संदेह है ।

लेकिन स्वयं नीति का ही विचार उस तल पर रहकर नहीं चल सकता । यदि पक्ष ही हैं, और यदि एक की कीमत पर दूसरे को चुन लेना ही उपाय है, तो ऐसे समग्रता नहीं साधी जा सकती । समग्र जीवन को यदि साधना है तो मूल मान द्वैत नहीं ऐक्य ही हो सकता है । कम-से-कम साहित्य, जिसे कोई पक्ष रखना नहीं है, और किसी अमुक को गिराना नहीं है, इसके सिवा किसी दूसरे मूल्य को नही अपना सकता ।

इस स्थापना में से हमें सहज ही कुछ सूत्र हाथ लग जाते हैं, यथा:—

१—साहित्य-रचना में मताग्रह को स्थान न होगा । आग्रह जितना है, या जितना तीव्र है, रचना उतनी निकृष्ट है । एकमत के आग्रह में दूसरे मत का अनादर समाया है । यह एक विकृत वृत्ति है और असांस्कृतिक है, फलतः साहित्य से विपरीत है ।

२—विरोध और विग्रह के सहारे प्रभाव उत्पन्न करना साहित्य के लिये अनिष्टकर है । यह प्रयत्न जहाँ जितना उभरा हो वहाँ उतना ही हल्कापन है ।

३—घृणा, प्रति-स्पर्धा और विद्वेष की शक्ति, क्योंकि अन्त में वह

चेतना को जलाती है उजलाती नही है, जिस रचना से उद्भूत हो वहाँ रचना मे उतना ही विकार मानना चाहिए ।

४—जगत्-कर्म सब चैतन्य से सिद्ध और सपन्न होते है । अत साहित्य मनश्चेतना मे अलग कर्म-सिद्धि में सीधा आसक्त नही हो सकता । ऐसे कर्म-जडता फलित होगी । साहित्य मूल चेतना के अवरोधो और विकारो को हटाता और प्रवाह को मुक्त करता है । इस तरह वह चेतना का परिष्कार करता, उसे जागृत और विकसित करता है । इस विधि सब प्रकार की कर्म-सिद्धियो मे उसका अनायास योग होता है । जो सीधा कर्म साफल्य की ओर जाता है, चाहे फिर वह देश का स्वराज्य ही क्यो न हो, उसका अत्यन्त सामयिक मूल्य है । शायद वह साहित्य ही नही है ।

५—कर्म-जगत के व्यक्तियो को ऊँचे चढाने या नीचे गिराने की चेष्टा जहाँ है वहाँ समदर्शिता या उसकी श्रद्धा, नही है। साहित्य समदर्शी होगा । अर्थात् कुछ व्यक्तियो पर किन्ही दूसरे व्यक्तियो का आतक चढाना साहित्यिक रचनाकार को इष्ट नही हो सकता । अन्तर-व्यथा मे सब एक से निरीह है । इसलिए साहित्य में बडा वह दीखेगा जो खुशी के साथ छोटा है ।

ऐसे सूत्रो की सख्या और बढाई जा सकती है, पर उसमे लाभ नही है । रियलिज्म के नाम पर एक रोमाटिक वृत्ति चल पडी है । नाना व्यक्तियो और कर्मों के बीच वह वैज्ञानिक समकक्षता देखने से डरती है और भावुक भेद-भाव मे रस लेती है । कोई कैसे माने कि स्टालिन सिर्फ नाम की वजह से आदमी से कुछ और है, या रॉकफैलर सिर्फ व्यवसाय-पति होने की वजह से इन्सान से कुछ अन्य है । उनके भेद को पकडने के लिये एक को देव और दूसरे को दानव बनाकर जो दृष्टि चलना चाहती है, उसे अवैज्ञानिक और अयथार्थ न कहें तो क्या कहा जायगा ? अवश्य ही उसमे अधैर्य और सरागता है ।

राजनीति के क्षेत्र में आवेशो से खूब काम लिया जाता है । उसमें

हराना गिराना जो लक्ष्य रहता है। जय-पराजय ही लक्ष्य हो तब आयुध कोई ओछा नहीं रह जाता। इस उत्कटता में आदमी, उलटे गर्व-भाव में, पशुता पर उतर आता है और इसी धरती पर नरक रच उठता है। यह तो आये दिन की बात है। साहित्य मे हठात् वह आवेश पहुच कर उछल-कूद मचा आवे इसमें तो अचरज नही है। सगठित दलबद्ध अहन्ताओ पर मर्यादा कोई डाले तो कैसे? लेकिन उस उत्पात को प्रतिष्ठा प्राप्त हो, गभीर स्वीकृति उसे मिलने लगे, तब तो सब कुछ गया ही मान लेना होगा।

: २१ :

समीक्षा समन्वयशील हो

हिन्दी नाटकों की आलोचना में अक्सर यह पढने को मिलता है कि यह अभिनय के योग्य नही है, या अपेक्षाकृत अधिक योग्य है, इत्यादि। यानी नाटक की अच्छाई और उसकी सफलता की एक जरूरी कसौटी उसकी अभिनेयता मानी जाती है। इसमे कुछ असगति नही है।

पर नाटककार तो अपने मन का चित्र पात्रो द्वारा मूर्त बनाता है। अगर पढ कर वह चित्र पाठक के लिए मनोगत और प्रत्यक्ष हो जाता है तो यही उसकी सिद्धि है। अगर स्टेज उसके साथ न्याय करने तक नही उठ पाता तो उसकी चिंता स्टेज को हो, नाटककार पर उस चिन्ता का दायित्व नही डालना चाहिए।

सच यह है कि स्टेज की कसौटी मुझे प्राप्त नही है। असल में स्टेज ही नही है। जिस दिशा में हमारी जिन्दगी बढती जा रही है उससे आशा कम है कि स्टेज फिर लौट कर आयगा। अब तो द्रुत-चित्र के दिन है। वे होगे तो द्रुततर होगे। स्टेज आयगा तो तभी आयगा जब हम अपनी सामूहिक और नागरिक जिन्दगी को क्षिप्र से धीमा और जटिल से सरल बनाने की ओर बढेगे। लेकिन यह बात यहा अप्रासगिक है।

स्टेज नही है, फिर भी नाटक लिखे जाते है तो क्यो ? यह कुछ मेरे लिए अचरज की बात रही है। 'प्रसादजी' के बारे में मेरी धारणा है कि जो ऐतिहासिक कथाचित्र उनके मन मे उदय होते थे उनकी अभिव्यञ्जना के लिए नाटक ही उचित स्वरूप था। उनके दो उपन्यास एतत्कालिक सामाजिक विवेचन है। ऐतिहासिक चित्रो को प्रसादजी उतने विवेचन-भाव से नही, जितने आकर्षण के भाव से देखते थे। इनके प्रति

'प्रसादजी' की वृत्ति ही नाटकीय थी। कुछ मुझ को ऐसा भी मालूम होता है कि हिन्दी मे 'द्विजेन्द्रलाल' के अभाव का उन्हे ध्यान था। अर्थात् उनके अनुकरण नही तो समीकरण का उन्हे मोह था। फिर जिस युग से उन्होने साहित्य में प्रवेश पाया था, वह युग नाटक और अभिनय से अछूता नही था। विशेषकर काशी की उनकी मण्डली में नाटक की चर्चा का खासा रङ्ग था। तिस पर क्लास-रूम मे या साहित्य-जगत् में उनके नाटको की चर्चा चल पडी थी। इससे नाटक लिखते जाना 'प्रसादजी' के लिए प्रकृत ही हो चला।

लेकिन हिन्दी में और नाटक क्यो लिखे गये, क्यो लिखे जाते हैं ? इस बात का ठीक-ठीक उत्तर मेरे पास नही है। [क्या वे अनुकरण के लिए या कोर्स के लिए मुख्यता से लिखे जाते है ?]

मैने खुद कहानी लिखी है, उपन्यास लिखे है। प्रश्न हो कि कहानी का रूप एकाङ्की क्यो नही हुआ और उपन्यास नाटक के रूप मे क्यो नही लिखा गया ?—तो इसका जवाब यह है कि उसकी जरूरत ही नही आयी। एक एकाङ्की लिखा है, क्योकि 'हस' वालो ने तय किया कि 'हस' का एक खास एकाङ्की-अङ्क निकालेगे। मुझे उसमें लिखना था ही। सो चलो एकाङ्की बन गया। लेकिन तब से अब तक मुझे समझ नही आ सका है कि एकाङ्की क्यो लिखे जाते है और नाटक क्यो लिखे जाते है ?

एक मित्र ने कृपापूर्वक अपना लिखा एक नाटक मुझे दिया और कुछ रोज बाद मिलने पर पूछा कि वह नाटक क्या मैने पढा ? पढा, तो कैसा लगा ?

मैने कहा—पढने मे बुरा नही लगा।

लेकिन वह नाट्यकला की दृष्टि से जानना चाहते थे। नाट्यकला की दृष्टि कोई दृष्टि होती है, यह मुझे नही मालूम। एक ही दृष्टि की बात मुझे मालूम है, और मेरे लेखे सब दृष्टियाँ उसमें समा जाती है। कोई उससे भिन्न बचने के लिए अलग दृष्टि नही रह जाती।

'टेकनीक' के बारे में कइयो ने चर्चा की है। मुझे उस टेकनीक नाम की चीज का अ-आ भी नही आता। फिर भी कहानी तो मै लिख गया हूँ, और कोई ऐसी कहानी भी बन गयी है, जिसे 'टेकनीक' में उत्तीर्ण समझा गया है। आलोचनाओ में अक्सर 'टेकनीक' की बातें पढा करता हू। जैसे कि मित्र ही पूछने लगे कि नाट्यकला की तौल पर मै बताऊ कि उनका 'नाटक' कैसा तुलता है ?

सच यह है कि कहानी, नाटक, उपन्यास (और मै तो कहूगा कविता भी) तौलने के लिए मेरे पास अलग तराजू और अलग बाँट नही हैं। और इधर आकर मेरी इच्छा होने लगी है कि आलोचक-गण उन पक्के बाँटो से और उस 'धर्मतुला' पर साहित्य की हर चीज को तोलें, जो अचूक है और जिसे हर जिन्स के साथ बदलना नही पडता है।

इस लिहाज से वह सब आलोचना जो वस्तु के आकार-प्रकार में उलझ कर और अटक कर रह जाती है, और अतर्गत रस की ओर से वस्तु में मूल्य-भेद करने की ओर नही बढती है, मुझे अतृप्त छोडती है। मै लाचार होता हू कि कहू कि वह उथली है और उस प्रकार का श्रेणि-विभाजन उलझन है।

अभी एक अनुभवी विद्वान् की हिन्दी काव्य-समीक्षा की एक पुस्तक निकली है। मैने उसे देखा नही है, जहाँ-तहाँ उसके उद्धरण देखे हैं। उसमे भी आकार-प्रकारगत भेद निकाल कर तदनुसार कविता और कवियो में वर्गीकरण कर दिया गया है। अधिकाश हिन्दी आलोचना इस सस्ती प्रवृत्ति से छूटी नही है।

कुछ पहले आपके ही 'साहित्य-सदेश' में मैने लिखा था कि हिन्दी मे अब हमारे आलोचना के मानो को गहरे जाने की जरूरत है। शरीर की नाँप-जोख हो, लेकिन उसी हद तक, जहाँ तक वह आत्मतत्त्व तक पहुंचने में सहायक हो। वह आलोचना जो शरीर का व्यवच्छेद करती और

उसी में गुण-दोष, सुन्दरता-असुन्दरता, सफलता-असफलता का निर्णय देखती है, सच्ची नही है। पाण्डित्यपूर्ण तो वह हो सकती है, जीवन-सवर्द्धक वह नही हो सकती।

'प्रेमीजी' के 'स्वप्नभग' के शुरू में शुक्लजी के कुछ शब्द उद्धृत थे। मै उन शब्दो मे से किसी एक पर भी कुछ नही कह सकता हू। शायद वह सभी उचित हो। लेकिन यह मेरे मन मे तो होता है कि क्या श्रीरामचन्द्र शुक्लजी भी अन्तरात्मा की ओर से साहित्य को कम परख कर उसके आकार-प्रकार से अधिक परखना चाहते है ? क्या वह साहित्य में इस प्रकार के वर्गीकरण को मान्य बनाना चाहते है ?

मैने 'मित्र' को कहा कि मेरे पास साहित्य के लिए एक ही दृष्टि है और वह पाठक की दृष्टि है। नाटक देखू, तब दर्शक की दृष्टि भी शायद मै रख सकू। लेकिन पाठक से अधिक ज्ञाता की दृष्टि मेरे पास नही है। और पाठक के लिहाज से मुझे यही समझने योग्य रहता है कि मन की किस गहराई में जाकर मेरी सहानुभूति का सम्बन्ध पुस्तक के पात्रो के साथ स्थिर हो सका है। पात्र के और घटनाओ के वैचित्र्य पर मै सहम सकता हू, लेकिन अभिन्नता तो व्यथा की वेदना के साथ होती है। इसलिए रसग्राही पाठक की हैसियत से मुझे यही देखना रह जाता है कि पात्र की कितनी गहरी व्यथा मझ तक पहुचाई गयी है, अर्थात् स्वय मेरा कितना गहरा मर्म उस पुस्तक से छिड सका है।

नाटक एकदम बोलचाल की भाषा में हो तो मुझे क्या ? गीत अच्छे हो या छंद के लिहाज से बुरे भी हो तो मुझे क्या ? इसी तरह और ऊपरी बातें भी मुझे अपने से दूर की लगती है। नमूने से नाप कर नाटक मैं नही देखता, नही देखना चाहता। यह तो सुविज्ञ का काम है। मै सीधा-सादा पाठक हूँ और अधिक नही होना चाहता। इससे मैं तो उसे अपना दर्पण देखना चाहता हूँ। मेरे ही मनोभाव उसमें जितने स्पष्ट और गहरे अकित दीखें उतनी ही मुझे तृप्ति है। उतना ही मुझे कृतज्ञता का कारण

है । उससे अतिरिक्त नाटक की सफलता-असफलता मेरे निकट नगण्य है ।

ठीक बात है । स्टेज पारसी हो कि बगाली हो, वह कसौटी नही है । रवीन्द्र के लिए और गेटे के लिए खास धरातल का स्टेज हो सकता है । अगर उस धरातल तक स्टेज नही पहुँच पाता, तो गेटे और रवीन्द्र के लिए यह कोई कलंक की बात नही है ।

असली कसौटी मन का स्टेज है और देखना यह है कि किताब के पन्नो पर चलने वाली मूर्तियाँ मन में कितनी गहरी पहुँच कर किस स्थायी भाव से वहाँ चलती-फिरती रहती है ।

यह बात जैसी नाटक के विषय मे वैसी कहानी और उपन्यास तथा कविता के भी विषय में मान ली जाय ।

जरूरत है कि हम ऐसे पक्के और असली मान आलोचना के पाएँ और उन्ही के आधार पर आलोचना-व्यापार चलाए जो रस-ग्रहण और रस-निरूपण में सहायक हों और व्यर्थताओ के बधन से छुटकारा दे । अन्वय द्वारा जो समन्वय की ओर हमें गति दें । हमें समन्वयशील आलोचन-मानो (Synthetic Critical Values) का विकास करना होगा जो अन्त करण की ओर से विश्वसनीय और सच्चे हो ।

: २२ :

छायावाद का भविष्य

अभी कालिज के विद्यार्थियो के बीच जाना हुआ था। वहाँ हिन्दी पढ़ायी जाती थी और विद्यार्थियो ने कुछ ऐसे प्रश्न किये जो मेरी आशा से बाहर थे। उन्ही में से कुछ प्रश्नो को यहाँ लेता हू।

१—छायावाद का भविष्य क्या है ?

२—कला क्या उपयोगी होने के लिए नही है ?

३—भाषा के विषय में क्या ध्यान रखना चाहिए ?

४—कहानी का महत्व क्या है ? और उसका लक्षण क्या है ?

५—कहानी और कविता मे सम्बन्ध है ? है, तो क्या ?

प्रश्न और भी थे लेकिन इस बार मै 'साहित्य-सन्देश' के पाठको का ध्यान पहले प्रश्न की ओर आकर्षित करूगा।

पहले प्रश्न के उत्तर में मैने कह दिया कि भविष्य को जानने की जरूरत नही है। वह अज्ञेय है इसी में उसका रस है। भविष्य होता नहीं है, उसका हमें निर्माण करना होता है। यही हमारी मनुष्यता है। भविष्य जान जाए तो वर्तमान के प्रति हमारी तत्परता शिथिल हो जाय। इससे भविष्य की बात मैं नही जानता हू, नही जानना चाहता हू। लोग है जो भविष्य की तस्वीर उतारते है। पर वह तस्वीर भविष्य की नही होती, उनकी अभिलाषाओ की होती है। इसी से ऐसे चित्र Utopia कहलाते है। उनमें अपने मन की ही साध पूरी की जाती है। लोग उनसे बहल जाए, पर किसी यथार्थता का बोध उनसे नही जागता।

यानी छायावाद के प्रति मेरी रुचि-अरुचि ही मेरे भविष्यानुमान में

व्यक्त होगी। व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के आधार पर किसी वस्तु को तोल फेंकना ठीक नही। अतः मै भविष्य को भविष्य यानी अज्ञेय रहने दूंगा।

भविष्य से अलग होकर छायावाद को समझूं तो पहला प्रश्न मन में यह होता है कि छायावाद किसी वस्तु का नाम ही क्यो पड़ा ?

स्पष्ट है कि जिसने वह नाम दिया उसे उसमें असलियत की और ठोसपन की कुछ कमी मालूम हुई होगी। मुझ से मेरी छाया कम वास्तव है। इसीलिए वह मै नही हू, वह मेरी छाया है। छाया शब्द में ही असलियत के किसी कदर अभाव का बोध अनिवार्यता से समाया हुआ है।

अर्थात् देने वाले की ओर से छायावाद नामक विशेषण थोडा-बहुत अभाव-सूचक और नकारात्मक रहा होगा।

वह विशेषण एक बार सामने आने पर सहज भाव से अपना लिया गया, इसी से यह सिद्ध है कि वैसे कुछ अभाव का बोध जन-सामान्य में भी उस सम्बन्ध में अनुभव होता होगा। अन्यथा वह पद इस भांति आम प्रचार में न आजाता। जैसे वह शब्द पाठको के मन की ही अनकही बात कह देता हो। ऐसा था, तभी छायावाद शब्द उतनी बहुलता से चल सका।

जो उस प्रकार की कविता करते थे उन्होने भी उस अभाव-सूचक शब्द को अपने सम्बन्ध मे सहज स्वीकार कर लिया। यह कुछ अचरज की बात हो सकती है, लेकिन बडे महत्व की बात है। और मै मानता हूं कि इस स्वीकृति के मूल में, चाहे वह अनजान में ही हो, उन कवियो के मन के गहरे मे उस कविता के विषय में एक अभाव-जनित भाव था।

छायावाद विशेषण से जिस एक आधुनिक हिन्दी कविता-धारा का सामान्यता से बोध होता है, मै मानता हू कि अभाव उसकी विशेषता है और किसी प्रबल सद्भाव का बल उसमें ध्वनित नही होता है।

अभाव स्थायी वस्तु नही है। स्थायी सद्भाव है। छाया मे प्रत्यक्ष का, स्थूल का अभाव है। नतीजा यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष और स्थूल ऐसे उभार मे आवे कि सूक्ष्म का ध्यान उसके नीचे दब जाए।

और आज हिन्दी कविता के क्षेत्र मे यह परिणाम आ गया है। अनन्त की रागिनी की जगह देह की मांसलता की प्रतिष्ठा की जाने लगी है। नही चाहिए अब कवियो को हृत्तन्त्री की मूर्च्छना, अब तो भुज-बन्धनो मे गाढालिङ्गन की उन्हे जरूरत मालूम होती है।

छायावाद छायामय है, इसीलिए उस में से कायामय कायावाद का उदय होगा और हो रहा है। बहुत अधिक आत्मा की गाओगे और शरीर को भूल जाओगे, अनन्त के इतने हो चलोगे कि ऐहिक किञ्चित भी न रह जाओ—तो इसका परिणाम सिवा इसके क्या होगा कि ऐहिकता उच्छृङ्खल हो जाए और शरीर आत्मा की प्रभुता को इन्कार करके उन्मत्त लास्य की इच्छा करने लग जाय।

छायावाद मे अभाव को अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए मानो एक Cult (इष्ट) ही हो गया। आसू मानो छिपाने की चीज नही सजाने की वस्तु हो चला। व्यथा सग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना सजोई जाकर बल बनती, वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छाया मात्र रह गयी।

यह सब मैंने उन कालिज के विद्यार्थियो को कहा। लेकिन यह भी कहा कि कविता को किसी वाद से मत देखो, स्वय कवि की ओर से देखो। अर्थात् रस चाहते हो तो किसी धारा या श्रेणी मे बिठा कर किसी कवि को पढने की जरूरत नही है। समझो कि कवि अपने को व्यक्त करता है, वह कोई वादी नही है, वह केवल स्वय है। ऐसी हालत मे प्रश्न अति सामान्य न होकर विशिष्ट बन आएगा और तब छायावाद की चर्चा न होगी, प्रसाद, निराला और पन्त की चर्चा हो सकेगी। अच्छा यही

है कि प्रश्न को विशिष्ट से आगे सामान्य नही बनाया जावे और कवियो को अपनी निजता में पढते हुए छायावाद की याद हम भूल जाए। भविष्य मे वादो की वादिता नही रहने वाली है, उनका सार मात्र ही रह जायगा और उस लिहाज से छायावाद एक फैशन है जो जाने के लिए आया है।

: २३ :

गद्य-विकास और कथा उपन्यास

भाषा का उद्‌गम समाज के आरम्भ के साथ मानना चाहिये। इससे गद्य को उसी दिशा में विकसित होना है जिधर समाज के आदर्श की प्रतिष्ठा है। मनुष्य को ही भाषा प्राप्त हुई है, पशु-पक्षियो को नही। इससे स्पष्ट है कि भाषा जीवन-विकास के प्रयोजन में से आई है। उस विकास के लक्ष्य को परस्पर में एकता की प्राप्ति कहा जा सकता है। अतः भाषा का उत्कर्ष इसमें है कि मनुष्य अपनी निजता उसमें इस तरह उतारे कि उसके द्वारा वह शेष से तत्सम हो सके। आपस के आदान-प्रदान की आवश्यकता मे से उत्पन्न होकर जीवन की भाषा धीरे-धीरे परस्पर सहानुभूति को इतना व्याप्त और सघन करती जा रही है कि एक दिन हम सब आपसी भाव मे एक बन सकेंगे, यह असम्भव नही दीखता। यो तो भाषा में गाली भी है, लेकिन वह भाषा की शोभा या सार्थकता नही है। साहित्य में उसके लिए स्थान नही है, और साहित्य में से भाषा अपनी सहज श्री और सफलता प्राप्त करती है। कारण, साहित्य किसी एक की निजता को चहका कर दूसरे की अस्मिता को दबाता नही है। प्रत्युत सब की अहन्ताओ को गला कर उन्हे मिलाने का प्रयास करता है।

इतर प्राणियो को वाचा प्राप्त नही है, सो नही। आवाजें वे भी करते है। कह सकते है कि वे बोलते भी है। लेकिन उनकी बोली भाषा नही होती, उसमे शब्द और अर्थ नही होते । उस बोली द्वारा नाना प्रकार से वे अपनी वासनाएं ही एक दूसरे पर प्रकट करते है । वासना वैयक्तिक है, उससे समाज नही बनता। शब्द और अर्थ निर्वैयक्तिक हैं।

भोग से बाहर इतर सम्बन्धो में उनका उपयोग है। शब्दो में बंधी उन धारणाओ से समाज बनता और थमता है। वे शब्द परस्परता के सूचक हैं। इससे माना जा सकता है कि भाषा की सृष्टि उस स्थल पर हुई कि जब प्राणी निजता की वासना से उठ कर परस्परता की भावना के तट तक आया।

भाषा के उदय के साथ ही साहित्य नही उपज आया होगा। निश्चय ही प्रथमत भाषा का प्रयोग काम-काज में होता रहा होगा। काम-काज वह कि जहा शब्द अपने अर्थ का ही बोध देता है। शुरू की भाषा में क्रिया-पद के साथ केवल वस्तु-वाचक सज्ञायें ही रही होगी। भाव-वाचक शब्द काफी पीछे मनुष्य ने रचे होगे। साहित्य के जन्म का काल स्यात् वही से आरम्भ हुआ माना जा सकता है।

अर्थात् सुन्दर गद्य का सौन्दर्य शब्दार्थ में नही होता। शब्द के अर्थ तक जो रहता है, अधिकांश वह गद्य विचारणीय नही बनता। रोजमर्रा की बोल-चाल की बात को कौन मन तक लेता है ? बोलचाल की भाषा यो कम महत्वपूर्ण है सो नही, पर महत्व उसमें तब पड़ता है जब उसके द्वारा बात नही, व्यक्ति समक्ष आता है। यानी जब बोली गई भाषा का सम्बन्ध किसी के निरे सीमित प्रयोजन से नही बल्कि मानव-स्वभाव की ही व्यजना से होता है। उपन्यास और कहानी में किसी पात्र के मुह से निकली अशिष्ट भाषा भी, हो सकता है कि, जुगुप्सा नही अपितु आनन्द की अनुभूति दे। कारण, उस प्रकार की भाषा के ऊपर से कुल मिलाकर जो भाव वहा से प्राप्त होगा वह उदात्त और सुन्दर है। इसी से कहते है कि साहित्य की भाषा कभी सीधे नही सदा व्यजना द्वारा ही अपना अभिप्राय देती है। यो भी कह सकते है कि वहा भाषा कह कर इतना नही कहती जितना अनकहा छोड कर कहती है। सक्षेप में साहित्य की भाषा की शक्ति मौखर्य न होकर मौन है। व्यक्ति की स्पर्द्धा नही बल्कि व्यथा उसकी शक्ति है।

हिन्दी गद्य के विकास मे, जैसे कि मेरी धारणा है इतर भाषाओ के विकास मे भी, यह गति देखी जा सकती है। सफलता के लिए हर गद्य को वाग्मिता से सरलता और बनावट से सहजता की ओर बढना होता है। ज्ञान से जीवन की ओर, या कहिये कि पाठशाला के अनुशासन से घर के घरेलूपन की ओर, उमे आना होता है। और गद्य की इस इष्ट प्रगति का दायित्व सर्वाधिक कहानी और उपन्यास पर है, यह कहने में अत्युक्ति नही है।

काव्य की भाषा इतनी आगे जा सकती है कि उसका भाव ध्वनि में से सीधे मिले और बीच में से अर्थ का लगभग लोप ही हो जाये। ध्वनि और छन्द की लय मे अर्थहीनता और निरर्थकता तक पहुंची हुई कविता के उदाहरण मिल सकते है। कविता गद्य मे हो नही सकती सो नही। गद्य-काव्य अर्थ-मर्यादा को लाघ कर लय की लीनता मे ही अपनी कृतार्थता देखने तक बढ सकता है। नाटक की भाषा मे भी भाव और अर्थ का ऐक्य उतना अनिवार्य नही है। भाव तक पहुचने के लिए वहा आख के उपयोग की सुविधा है। अभिनय के माध्यम से नाटक का भाव मूर्त होता है। इसलिए हो सकता है कि अभिनय के अभाव में केवल भाषा द्वारा नाटक का मूल भाव प्रत्यक्ष न भी हो। पर कहानी-उपन्यास में भाषा सिर्फ अर्थ देकर सार्थक नही हो सकती। भाव को भी उसे युगपत् चित्रित और जागृत करते जाना होगा। इस आवश्यकता में से कहानी एक ऐसी कला बनती जा रही है जिसे सिद्ध करना मुश्किल है। बोधतत्व और चित्तत्व का समीचीन समन्वय-साधन परम दुर्वह कार्य है। उसमें बुद्धि के लिए अपने सहज दर्प का परिहार करना अपरिहार्य होता है। हृदय के सहज रागो में बुद्धि की विश्लेषणशीलता का सन्निवेश हंसी खेल का काम नही है।

बहुत ज्यादा जानकारियो और खबरो से लदकर, या आत्यन्तिक निश्चिति पहन कर, भाषा लहरीली कैसे रहेगी ? और जीवन कायदा-

कानून का लबादा ओढकर निस्पद कभी नही हो पायगा। ऐसे निस्पद ही रहने वाली चीज तो मृत्यु है। लहराना जीवन का धर्म है। परिणामतः हम देखते है कि ज्ञान-गरिमा से युक्त भाषा उत्कृष्ट कहानी का साथ नही दे पाती है, जैसे कि वह समर्थ जीवन को भी ढक नही पाती है।

विद्वान् का गद्य इतना गरिष्ट होता है कि वेग की सभावना वहा क्षीण हो रहती है। पर लेखन के लिये लाचारी है कि वह ठोस और दुरुस्त चाहे कम भी हो, पर वेगवान और गतिशील अवश्य ही हो। निश्चय ही वेग उच्छृङ्खल होकर कहानी के प्रभाव को कम ही कर सकता है। कारण, उच्छृङ्खलता वह है जहा भाव की तेजी अर्थ की मर्यादा को पीछे छोड रहती और भावना की निर्वैयक्तिकता वासना की निजता बन रहती है। भावना जब कि व्यक्ति को व्यापक करती है तब वासना उसे सीमित बनाती है। उससे सहानुभूति पर सीमा चढती है और पाठक प्रभावित होने से अधिक चमत्कृत होकर रह जाता है। आवश्यक है कि गद्य अपने उत्कर्ष मे स्थूल से सूक्ष्म के आकलन की ओर बढे। कारण, जीवन की यही गति है। आलम्बन तो सदा ही स्थूल होगा, अन्यथा हो नही सकता। किन्तु आकलन उत्तरोत्तर सूक्ष्म का हो इसी में भाषा का विकास समाया है।

सूक्ष्म अपेक्षाकृत अव्यक्त है, वह रूप और वर्ण से अतीत है। एक शब्द में उसका गुण निर्गुणता है। मेरी मान्यता है कि भाषा की श्रेष्ठता का भी सबसे बडा लक्षण यह निर्गुणता ही है। भाषा मानो स्वय में कुछ रहे ही नही, केवल भाव की अभिव्यक्ति के लिये हो। भाव के साथ इतनी वह तद्‌गत हो कि तनिक भी न कहा जा सके कि भाव उसके आश्रित है। अर्थात् भाव उसमें से पाठक को ऐसा सीधा मिले कि बीच में होने के लिये कही भाषा का अस्तित्व रहा है यह तक उसे न अनुभव हो।

अब तक जो कहा उसमे काल की अपेक्षा नही है। विकास को काल

की अपेक्षा मे देखने मे मैं असमर्थ रहता हू। जो इतिहास के क्रम से देखा जाता है वह दूसरे प्रकार का विकास हो सकता है। राजनीतिक और सामाजिक वह होता हो तो मुझे आपत्ति नही। लेकिन साहित्य मे व्यास और कालिदास को केवल इस कारण अविकसित माना जाय कि वह आज के सन् १९५० ईसवी से कुछ सैकडा या कुछ हजार वर्ष पहले हुए, यह तर्क मेरे मन नही उतरता है। अर्थात् भाषा समय के अनुसार चाहे अदलती-बदलती जाये, गद्य की शैली का विकास काल क्रम के अनुसार मै नही देख पाता हू। प्रेमचन्द की शैली आज के दिन के लिये इसलिये झूठी है कि वह स्वय व्यतीत हो चुके है, ऐसा मैं नही मानता। अर्थात् साहित्य मे गद्य के विकास का मान लेखक के मनोभावो के उत्कर्ष की दृष्टि से देखना होगा। कदाचित् गद्य को यह उसकी आत्मा की ओर से देखना माना जाए। पर मेरी दृष्टि से वह दृष्टि उचित ही है क्योकि वह गुणापेक्षी है।

लेकिन हो सकता है कि उस शीर्षक के नीचे मुझसे कुछ दूसरी बातें सुनने की भी अपेक्षा हो। कुछ वह बाते जिनका सम्बन्ध काल क्रमागत इतिहास से हो।

हिन्दी अब भारत की राजभाषा है। अब कहने से मतलब कि कानूनन ऐसा है। प्रकृत में तो हम उसको राष्ट्र भाषा भी कह सकते है। कारण, अग्रेज़ी, जिसके माध्यम से अभी तक भारत के विभिन्न प्रान्तो के लोग अपना मिला-जुला काम-काज चलाते रहे हैं, राष्ट्र की भाषा नही है, और न हो सकती है। उसके अभाव में हिन्दी के सिवाय दूसरी क्या भाषा राष्ट्रीय कही जा सकती है ? या तो ऐसा कहो कि हिन्द कोई राष्ट्र ही नही है। पर राष्ट्र हो और उसकी भाषा न हो, यह तो नहीं हो सकता। ऊपर से ऐसा इस कारण लगता है कि भारत का जीवन कट-फट गया है। ऊपर का ऊपर है, नीचे का नीचे, और दोनो अलग है। नीचे तो राष्ट्रभाषा बिना बनाये बनती ही गई है। जीवन के तर्क में से

अनिवार्य और अमोघ रूप से उसका निर्माण निरन्तर जारी ही रहा है। इस भाषा को जैसे हिन्दी वैसे हिन्दुस्तानी कहा जा सकता है। उसमें सब तरफ के प्रभाव, शब्द, शैली और व्यक्ति आ रहे हैं। हिन्दी के लेखक अब केवल उत्तर प्रदेश में ही नही आते, इतर प्रान्तो से भी बडे मजे में चले आते हैं। हिन्दी गद्य की शैली पर इसका खूब असर है। जान पड़ता है कि एक अराजकता ही फैली है और शुद्ध हिन्दी और अशुद्ध हिन्दी में विवेक बढान वाली पुस्तके और सस्थाये भी बन और चल निकली है। वह जो हो, हिन्दी गद्य इन चारो ओर से आने वाले प्रभावो से अस्पृष्ट नही रह सकता। अनिवार्य है कि वह भारत के समन्वित जीवन को व्यक्त करने के लिये इन प्रभावो को आत्मसात् करके यथेष्ट सामर्थ्य सम्पादन करे। कहानी और उपन्यासकारों में अपनी गद्य की विशिष्ट शैली के लिये जिनके नाम लिए जा सकते है, वे दूर-दूर फैले हुए हैं। उनकी न एक जाति है, न एक धर्म, न समान उनकी अपनी निजी बोली है। किसी के घर भोजपुरी बोली जाती है, कही पंजाबी कही बुन्देली, कही ब्रज इत्यादि। इन सभी प्रादेशिक बोलियो या भाषाओं का उन लेखको के गद्य पर प्रभाव रहना अवश्यम्भावी ही है। इस तरह हिन्दी की गद्य शैली को किसी निश्चित परम्परा में बिठा कर बखान देना सम्भव नही है। सियारामशरण गुप्त और वृन्दावन लाल वर्मा के लिखने में बुन्देलखडी शब्द और मुहाविरे आयेंगे तो निश्चय ही वे हिन्दी गद्य के अपने हो रहेगे। अज्ञेय में अंग्रेजी की भरमार है, तो क्या किया जाय ? उस शैली में से अंग्रेजियत को खुरच कर अलग तो नही किया जा सकता। यशपाल सस्कृत के शब्दो को पजाबी लिबास में पेश करेंगे तो सस्कृत की कितनी भी दुहाई देने से पाठको का चाव उनके प्रति कम न होगा। जैनेन्द्र की गद्य की अशुद्धियो को स्वय जैनेन्द्र की अशुद्धि मान कर उसे समाज बहिष्कृत रखा जा सकता है, पर उसके गद्य का क्या कीजियेगा ? यदि जैनेन्द्र स्वयं शुद्ध नही है, और अशुद्ध होकर भी हिन्दी लिखने या बोलने के सम्बन्ध मे कानूनन उस पर कोई रोक थाम नहीं

डाली जा सकती है, तो सिवा इसके क्या उपाय है कि हिन्दी गद्य का विकास ऐसी अशुद्धियो को भी पेट में लेकर और रक्त में रमाकर बढता ही चले।

इधर कुछ कृत्रिम गद्य भी पैदा हुआ है, यद्यपि वह उल्लेखनीय नही होना चाहिए। वह अमुक धारणाओ और आग्रहो के प्रतिपादन अथवा पूर्ति में हुआ है, जीवन की आवश्यकता एव अनुभूति में से नही खिलकर आया है। हिन्दी कही 'हिन्दुस्तानी' न बन जाय, अथवा कि हिन्दी अवश्य 'हिन्दुस्तानी' प्रतीत हो—ऐसी अतिरिक्त चेतना रख कर भी जहा-तहां हिन्दी गद्य लिखा गया है। वह गद्य की शोभा अधिक बन सका है कि विडम्बना, इसके सम्बन्ध में कहने की आवश्यकता नही है। राजनीति की ओर से लिए गए ऐसे मताग्रहो के अतिरिक्त कुछ और भी ग्रहीत मान्यतायें रही है जो भाषा पर सवार होकर उसके प्रवाह को रोकती या उस पर आरोप लाती गई है। उस सबके उदाहरण यहा देना आवश्यक नही है। यह गद्य ऊपर से शालीन और गभीर होकर भी भीतर से पोच और पीला होकर रह गया है।

गद्य का वह विकास, जो हिन्दी के कथा साहित्य में से व्यक्त होता है, बतलाता है कि उसमें पालिश की कमी है, घिसा मजा वह काफी नही है। उस किस्म की लोच और नजाकत उर्दू में खूब देखी जा सकती है। लेकिन हिन्दी की ओर से उस वास्तविकता पर अधिक खिन्न होने की आवश्यकता भी मै अनुभव नही करता। जिस खूबी को मजलिसी कहा जा सकता है, जो दूसरे को रिझा कर इतनी खुश है कि उसको पाने की जरूरत उसके लिये फिर नही रहती है, उस मजलिसी खूबी के हक में हिन्दी गद्य को लानत देना मैं जरूरी नही समझता हू न उस पर जरूरत से ज्यादा उर्दू की पीठ ठोकना ही मै मुनासिब मानता हू।

: २४ :

उपन्यास में वास्तविकता

कलकत्ते मे गुजराती भाषा भाषियो का एक साहित्य-समाज है। हर पखवाडे वे लोग मिलते है। इधर एक उपन्यास मिल-जुल कर पूरा किया जा रहा है। उसका आरम्भ एक सदस्य ने किया, अगला खण्ड दूसरे ने लिखा और सुनाया, इस तरह सात या आठ बार मे वह उपन्यास पूरा होगा। और उतने ही व्यक्ति क्रमश उसे आगे बढायेगे।

यह सवाद मुझे बहुत रुचिकर हुआ। देखा कि इससे सजीवता रहती है। ऐसे एक ही सूत्र के सहारे सब अलग रह कर भी एकत्र और अनुबद्ध होने का रस पाते है।

उस समाज मे एक सदस्य ने पूछा कि उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिए ? यह सवाल इस ढग से पहले सामने नही आया था। इससे अपने को टटोलने की जरूरत हुई।

वास्तविकता से मतलब इन्द्रियगम्य तथ्य ही न ? जो हमे आँखो से दीखता है, स्पर्शादि से जान पडता है, और तर्क बुद्धि से मान्य होता है, उतना ही हमारे लिए वास्तव है।

स्पष्ट है कि हमारे वास्तव से आगे और परे भी कुछ तो है ही। उसे हम अवास्तव कह सकते है, पर क्या उसे असत्य भी कह सकते हैं ? असत्य कहे तो जिन्दगी हमारे लिए व्यर्थ हो जाना चाहिए और भविष्य कुछ न रहना चाहिए। भविष्य, व्यतीत, उन्नति, विकास इत्यादि शब्द है तो इसका यही मतलब है कि वास्तव पर सत्य की सीमा नही है। वास्तव से परे भी सत्य है। इसलिए हमारे वास्तव की सीमा असल में हमारी ही सीमा है, सत्य तो असीम है।

अक्सर दो शब्द एक दूसरे के सामने यहाँ तक कि विरोध मे रखकर देखे जाते है । वे है यथार्थ और आदर्श(The real & the ideal)। आदर्श यथार्थ में नही है, वह उससे बाहर होकर ही है । और यथार्थ आदर्श का निषेधक होने को लाचार है, क्योकि उसके पास कोई साधन नही है कि अपन से परे किसी अस्तित्व को वह जाने अथवा मान सके।

इस द्वैत के आधार पर दो दर्शन बने । एक वह जिसके लिए ब्रह्म ही सत्य और ससार सब माया है । वास्तव जो है झूठ है, और जिसका कोई प्रमाण नही, जो सब युक्तियो और साक्षियो से अतीत है, वह पर-ब्रह्म ही सत्य है । यह आध्यात्मिक दर्शन है ।

दूसरा भौतिक दर्शन है । उसके लिए यह रूपाकारमय जगत् न केवल है, बल्कि वही है । इससे अतिरिक्त और भिन्न होकर किसी अज्ञेय तत्त्व को मानना वहाँ कोरा भ्रम और जडता है ।

पहले के लिए जगत् स्वप्न है और ब्रह्म ही सत्य है । दूसरे के लिए जगत् सत्य है और आत्मा-परमात्मा बहम है ।

इन दोनो के बीच की सचाई आँकने की ओर जाने की मेरी वृत्ति नही है । वह मेरा वश भी नही । व्यक्ति स्वभावानुसार बरतता है । मौखिक चर्चा-विवाद से अदलता-बदलता कोई विरला ही होगा । अक्सर चर्चाएँ आवर्त-चक्र ही रचती हैं और हर पक्ष को अपने माने हुए सत्य के आचरण से दूर डालती है ।

भक्त अपनी भक्ति से अपनी मूर्त्ति बना लेता है । मूर्त्ति का सत्य भक्त का आत्मार्पण है । उपासक के स्वार्पण से अलग होकर मूर्त्ति पत्थर है । इसीलिए नास्ति को दढता से मानने वाला नास्तिक परम आस्तिक की भाँति व्यवहार करता दीखता है । और जिनके जीवन में तत्परता नही ऐसे अनेक आस्तिक जन नास्तिक आचरण करते देखे ही जाते हैं । नास्तिक शहीद हो गये है और आस्तिक कलदार बटोरने में लगे हुए है ।

इससे प्रश्न यह मानने अथवा वह मानने का नही, बल्कि जो मानो तो उसे पूरी सच्चाई और तत्परता से मानने का ही है। सच्चा भक्त शून्य की उपासना से भी फल पा जाएगा। जबकि उपासना ही शकित हो तो कोई उपास्य उपासक को तार नही सकेगा।

इसलिए केवल बौद्धिक धारणाओ को छोड दिया जाय। बौद्धिक प्रयोजन ही उनसे सध सकता है, जीवन का कुछ काम नहीं निकल सकता। एक धारणा दूसरी धारणा से अपने आप में गलत या सही नहीं होती। उसे मानने वाले के जीवन की सच्चाई अथवा झुठाई की अपेक्षा ही उन धारणाओ में सत्यता या मिथ्यात्व आता है।

पर हमे तो यहाँ उपन्यास में वास्तविकता कितनी चाहिए—इसी बात से मतलब है।

इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास से हम क्या चाहते है—यह जाने। उपन्यास से क्या हम गति चाहते है? उत्कर्ष चाहते है? क्या हम उसे व्यक्तिगत और लोक-जीवन के विकास का साधन बनाना चाहते है?

या यह हम उससे नही चाहते? तो क्या सामाजिक धरातल की स्थिति-पोषक वस्तु चाहते है? यानी खबरे चाहते है? अनुरजन चाहते है? अपने परिचय की विस्तृति चाहते है?

उपन्यास के बारे में मेरी अपनी धारणा यह है कि वह जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य। गति धक्के की नही। पीठ की ओर से धक्का दीजिए तो उसमे व्यक्ति आगे की ओर बढता तो जरूर है, पर बिगडता भी बहुत है। तीव्र और आकस्मिक धक्के हो तो औंधे गिरने की सम्भावना है। इसीलिए गति को चैतन्य के अर्थ में कहा। अर्थात् आगे के रास्ते को साफ-साफ आँखो मे उँगली डाल कर बताने वाला

उपन्यास उपन्यास नही और साहित्य साहित्य नही । गति की सेवा उपन्यास इस पद्धति से नही करता । जिसे इस ओर लोभ हो उसको फिर प्रचार-वादी साहित्य [Propagandist literature] कहना होगा। प्रोपेगेंडा बढाता है, गति देता है, लेकिन परिणाम में उससे प्रतिक्रिया भी होती है । इसीसे सत्‌साहित्य से प्रचार-साहित्य कही गर्वीला होता है, अधिक प्रभविष्णु और कुछ अधिक स्पष्ट भी मालूम होता है । क्योकि तरह-तरह की मान्यताओ के बीच सबको गिराकर किसी एक को प्रतिष्ठित करने की चुनौती की चमक उसमें है । सत्साहित्य मे वह आवेश नही । उसमें नम्रता की लचक है । उसे तो समभाव और सहानुभूति का प्रसार करना है न। अत, विग्रह में जो एक गर्मी और तेजी होती है, वह उसे नही चाहिए । विग्रही भाव गमक तथा चमक ले आता हो और प्रभाव को तात्कालिक भी बना देता हो, फिर भी साहित्य उससे लाभ नही उठाता। क्योकि सच पूछिए तो यह प्रभाव एक प्रकार के अहकार के उत्तेजन से आने के कारण स्थायी नही होता ।

तब रह जाती है वह गति जो आदमी उत्तेजनावश नही, बल्कि स्वतः स्फूर्ति से करता है। उस गति का वह स्वय स्वामी होता है। साहित्य को वही गति इष्ट है । अर्थात् साहित्य चैतन्य को ही उद्‌बोधन पहुँचाता है । उस उद्‌बोधन के प्रकाश मे, अपनी परिस्थितियो की अपेक्षा, व्यक्ति फिर स्वय अपना मार्ग पाता और उस पर बढ चलता है । सब के लिए एक रास्ता तो नही है; क्योकि सब एक जगह नही है। पर साहित्य सब के लिए है । अत·, साहित्य उन दिशाओ से सबध नही रखता जो परस्पर विपरीत हो सकती है, बल्कि उसका उस चैतन्य के विकास से संबध है जो किसी भी दिशा में गति करने की सामर्थ्य को समृद्ध करता है। इसी से बाहरी बातो में साहित्य की रुचि-अरुचि तनिक भी बँटी हुई नही देखी जाती ।

जीवन की गति को इस प्रकार चहुं ओर प्रवृत्त करने का काम

साहित्य से अनायास सपन्न होता है। कारण वह व्यक्ति के अतश्चैतन्य को तीव्र करता है। दृष्टि-गोचर होने वाले सब जगद्-व्यापार वास्तव मे उसी भीतरी प्राणो की अभिव्यक्ति होने के कारण स्वयमेव साहित्य के बल मे मुखरित और उद्भासित होते है।

यही कारण है कि साहित्य गति देते हुए भी स्थिति का भग नही करता। उसमे गति को वेग मिलता है तब स्थिति को समर्थन भी प्राप्त होता है। दुनिया मे स्थिति पालक और सुधारक नाम के दो पक्ष परस्पर समक्ष खडे होकर एक दूसरे को ललकारते देखे जाते है। साहित्य दोनो के लिए सहारा है। देखा जाता है कि जिन शास्त्रो को लेकर पुराणवादी अपने पक्ष को पुष्ट करते है, अधुनातनवादी भी अपने समर्थन मे उन्ही शास्त्रो का प्रमाण देते है। बेशक उन दोनो के हाथो शास्त्र का अपलाप होता है। तो भी यह शास्त्र का गुण है कि उसमे दोनो को अपना-अपना अभिमत समर्थित दिखायी दे। इस विशेषता के कारण शास्त्र को निकम्मा ठहरा सकते हो, तो भी वह ऐकान्तिक नही है। एक वर्ग या एक पक्ष को दूसरे की तुलना मे नीचा या गलत बतलाने का सीधा काम शास्त्र या साहित्य नही करेगा।

कर्म-पक्ष के लोगो मे साहित्य तथा शास्त्र के लिए जो उपेक्षा और अवहेला देखी जाती है उसका कारण भी यही है। राज-नीति भेद पर चलती है। एक की विजय वहाँ दूसरे की पराजय पर ही होती है। शक्ति-सपादन की पद्धति ही कुछ ऐसी है। पडोसी अपेक्षाकृत निर्धन न हो, तब तक धन मे सुख कहाँ? दाये-बाये करोडपति हो तो अपने लाख में लखपति को सतोष किसी तरह न हो सकेगा। कर्म-सकुल सतह पर जो एक फेन दिखायी देता है, वह यही है। अहकारो का एक घमसान चल रहा है। सब बढाबढी मे लगे है। नौ को पीछे डाल जो दसवाँ आगे दीख सकता है, वही कुछ है। पर चूकि कोई ग्यारहवाँ उससे आगे है

इससे नी की पराजय में उसे सतोष नही रहता। सासारिक गति इसी परस्पर की स्पर्धा से उत्तेजना पाकर आवेगमयी दीखती है।

पर वह भ्रमित गति है। वह कही पहुचाती नही, भरमाती ही है। मुक्ति उससे पास नही आती, जगजाल ही बढता है। यद्यपि इस तरह ससार मे चकराता प्राणी प्रतिक्षण अपने को चलता हुआ अनुभव करता है, पर जरा सोचे तो देख पाये कि वह कोल्हू के बैल की तरह से चलता हुआ भी वही का वही है।

इसी कारण यह कह कर भी कि उपन्यास का इष्ट गति है, यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि इस गति का सम्बन्ध बाहरी किसी दिशा मे नही है। स्थूल दृष्टि से कहे तो उपन्यास का लक्ष्य बाह्य गतियो को मन्द करना भी कहा जा सकता है। वासनाओ के वशीभूत होकर जो अहकृत दौड-धूप की जा रही है, उपन्यास उसकी तो व्यर्थता ही प्रगटाता है। एक आदमी ने जिन्दगी के तीस-चालीस बरस बिताकर इस दुनिया मे खूब रुपया बनाया और इज्जत बनायी। आस-पास के लोग उसकी उन्नति पर चकित है। पर उपन्यास तो उसे इन्सानियत के तराजू पर ही तौल कर बतलायेगा। तब बिलकुल सम्भव है कि जगत् में जो लखपति होने के कारण आपकी आकाक्षा का विषय था, उपन्यास में इन्सानियत मे दिवालिया होने के कारण वही आपकी करुणा का पात्र बन जाता है।

फिर भी यह स्पष्ट रहे कि गति-विरोधी स्थिति का समर्थन भी उपन्यास मे नही है। मात्र स्थिति जडता है। पत्थर, सौ दो सौ पाँच सा बर्ष हो जायगे, वैसा का वैसा ही पत्थर रहेगा। इसी से तो वह पत्थर यानी जड है। आदमी पैदा होगा और बढेगा। वह क्षण-क्षण बदलेगा। यहाँ तक कि गिनती के पचास-साठ-सौ सालो के निरतर परिणमन के बाद उसकी चरम परिणति होगी, मृत्यु। इस मृत्यु के कारण ही वह सजीव है। जो मर नही सकता, वह जीवित भी नही है। फूल आज

खिला है, कल मुर्झा जायगा। वह मुर्झान को शक्ति ही फूल की असलियत है। नही तो दो साल से कागजी-फूलो का गुलदस्ता ज्यो का त्यो मेरे आले मे रखा है। जो है उससे वह कुछ भी और नही हो सकता। इसी से वह फूल नही है, छल है। सच्चाई उसमे नही है, सिर्फ कला उसमे है।

इस ढग से देख सकते है कि मात्र स्थिति सदोष है। चैतन्य को प्रबुद्ध और गहन करने को वृत्ति जिस उपन्यास मे नही है और जो सिर्फ मनोरजन करता है, वह स्थिति-तुष्टि देता है। स्थिति-तुष्टि तामसिक है। इसलिए स्थिति के प्रति एक प्रकार का असतोष तो साहित्य के फल-स्वरूप व्यक्ति मे जागना ही चाहिए। केवल मनोरजन से असतोष उलटे सोता है। अनुरजन साहित्य की शर्त तो है, क्योकि नीरस कोई वस्तु हमारी वृत्तियो की जडो तक नही पहुच सकती। नीरस तत्त्व-शास्त्र से हमारी चेतना का सस्कार नही होगा। यदि हमारी सद्वृत्तियो को चेताने वाला कोई प्रभाव होगा तो वह हमें थकाने और उकताने वाला नही हो सकता। जरूर वह प्रभाव बौद्धिक से गहरे तल तक जानेवाला होना चाहिए। रस वह है जो बुद्धि के स्तर पर चुक नही जाता, वह उससे नीचे के स्तरो को भी छूता और भिगोता है। इसी से शास्त्र निरे प्रति-पादन नही है, वरन् उन मे प्रसाद है, ऋत है, ऋजुता है, और वर्णन का सौन्दर्य भी है।

इस प्रकार उपन्यास स्थिति से परिबद्ध नही होना चाहिए। स्थिति का भग उसमें इष्ट हो सो नही। समाज की रीति-नीति को ध्वस्त करने का कोई क्रातिकारी लक्ष्य उपन्यास अथवा साहित्य का नही हो सकता। क्योकि स्थिति उखडी तो गति ही औंधी गिरी। क्राति इस तरह साहित्य के निकट एक आलकारिक [Romantic] शब्द से अधिक नही है। उसके पीछे चलना मृग-तृष्णा के पीछे भागना है। उसमे उपलब्धि नही है, सिर्फ तृष्णा है। पर आज की प्रचलित रीति-नीति में बन्द होकर

बैठना भी नही हो सकता। उसके प्रति आलोचना और अतृप्ति की वृत्ति जरूरी है। जिसमे यह नही वह उपन्यास अपना दायित्व पूरा नही करता।

इस जगह आरम्भ के प्रश्न को लिया जा सकता है। अगर उपन्यास जीवन के विकास-साधन के लिए है, तो वास्तविकता उसकी मर्यादा नही हो सकती। वास्तविकता का धरातल उठेगा उससे जो स्वय उससे ऊचा होगा। इससे उपन्यास को वास्तविकता पर नही, उसमे ऊचे पर होना होगा। मै मानता हू कि यह आवश्यक है। उपन्यास वास्तविक होने के लिए नही है। वह वास्तविक होना नही चाहिए। वास्तविक होने की कोशिश करके वह अपने को निरर्थक ही कर सकता है। उपन्यास के पात्र भी यदि हम-आप की तरह डेढ-डेढ दो-दो मन के होने लगेगे तो इससे दुनिया का कुछ नही होगा। उनसे सच्चे अर्थ में हमे लाभ तो तभी कुछ होगा जब वे हमसे कम माँसल और अधिक मानसिक होगे। उनमें आत्मा अधिक होगी और पचभूत कम होगा। इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास के पीछे एक आदर्श की प्रेरणा हो। आदर्श की प्रेरणा को कोई रोमाटिक कहे तो मुझे आपत्ति नही। आसानी से मै यह मान लूगा कि उपन्यास के लिए रोमान्टिक-वृत्ति आवश्यक है। यानी वास्तविकता से परे, अलग, ऊचे जानेवाली वृत्ति। उसे बचाव (Escape) तक कहा जाय तो मुझे भय नही। उस अर्थ मे पलायन-वृत्ति भी उपन्यासकार में नितान्त आवश्यक है। जो एकदम वास्तविकता मे लिप्त है—फिर चाहे वह कितना भी बडा आदमी माना जाता हो—सफल उपन्यास नही लिख सकता। एक दम जरूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, मिस्टिक हो। ज्ञात और वास्तविक के प्रति किंचित उपेक्षाशील वह हो सके और अज्ञात के प्रति उन्मुख। कर्तव्य के साथ वह कुछ स्वप्न भी रखता हो। जरूरी है कि स्वप्न के लिए वह वास्तव को बलिदान कर सकता हो। ऐसा नही, तो उपन्यास चित्र-विचित्र घटनाओ या पात्रो का

आकलन भर हो जायगा। यह स्वप्न-शील आदर्श-प्राणता न होने पर कितनी भी तत्व-चिंता अथवा मन-समीक्षा का चातुर्य उपन्यास में डाला जाय, वह लोगो के मन को नही जीत सकेगा, न कोई उत्कर्ष-साधन कर सकेगा।

इस दृष्टि से मैने उन भाई को खुले कह दिया कि उपन्यास मे वास्तविकता नही चाहिए। अब यह व्यक्ति के ऊपर है कि वह वास्तव से किस हद तक छुट्टी पा सकता है। असमर्थ व्यक्ति देवताओ की कथा नही लिख सकता। ऐसे असमर्थ को वास्तविकता की धरती नही छोडनी चाहिए, पर जिसमे सामर्थ्य है और अपनी कल्पना के जोर से देवताओ को मनुष्य से भी अधिक प्रबल और प्रभावक रूप मे चित्रित कर सकता है, वास्तविकता के नाम पर उसे इस काम से रोका नही जा सकेगा। हमको जानना चाहिए कि हम से अधिक हमारे देवता जीते हैं। उनकी आयु अधिक है, उनकी शक्ति अधिक है। केवल उनमें शरीर कम है। वे आदर्श-प्राण और भावनामय होने के कारण ही क्या अधिक सत्य नही हैं? तुलसी से तुलसी के राम कही अधिक सत्य है। क्योकि तुलसी इतिहास द्वारा खोजे और पहचाने जा सकते है, पर उनके राम के संबंध में तो ऐसा मालूम होता है कि उनके पिता दशरथ, माता कौशल्या और पत्नी सीता कथा-लोक के ही प्राणी है, स्थूल जगत् के है ही नही। राम अनैतिहासिक, अनाधिभौतिक है। लगभग वे पूर्णतया आध्यात्मिक है। तभी तो वे इतने अधिक सत्य है कि आज हिन्दुस्तान का जीवन उनके नाम के बिना चल ही नही सकता।

यहाँ वास्तव और सत्य के अन्तर को चीन्हना होगा। वास्तव है Fact, और सत्य Truth उपन्यास सत्य की शोध है। उसकी लगन सत्य की दिशा में है। वास्तव (Factual) से उपन्यास आगे सत्य (Truth) की ओर गति करता है। अर्थात् वास्तव पर केवल उपन्यास के पैर चाहिए। उसकी अभिलाषा वास्तव में नही हो सकती। उपन्यास

का हार्द सत्य है, केवल उसका शरीर वास्तव है। जीने के लिए बेशक शरीर चाहिए, पर वह आत्मा के मन्दिर के रूप में हो। अर्थात् शरीर आत्माभिव्यक्ति के साधन रूप मे ही सह्य है। यो वह अपने आप में बाधा है। शरीर की अधिकता जीवन के उत्कर्ष को रोकती है। शरीर को जिसने लाड लडाया, वह जीवन में महत्व सम्पादन नही कर सका। इसी तरह वह उपन्यास जिसने जगत् के यथार्थ और वास्तव के आगे माथा झुकाया, उसी कारण हीन रह गया। सिर तो हवा मे ही रहता है, हाँ, पैर जरूर धरती पर चाहिए।

इसलिए मैंने वहाँ उन भाई से कहा कि उपन्यास में वास्तविकता यथावश्यक से अधिक बिलकुल न होनी चाहिए। यथावश्यकता का कोई परिमाण नही, जितनी न्यून हो उतना भला। वह तो सिर्फ सत्य-प्रतीति को पाठक तक वहन करने के लिए है। वह वाहन है, उसकी पीठ पर अधिष्ठित होना चाहिए सत्य। उदाहरण और रूपक से नीति-शिक्षा और अध्यात्म-सार लोगो के हृदयो में डालना है। वह उदाहरण जितना अधिक आडम्बर से हीन हो और अपने समूचेपन में उस सार को ही व्यक्त करता हो, उतना ही श्रेष्ठ है। रूपक की अपनी सत्ता ही नही है। जो पात्र वहाँ सामने आते हैं, वे व्यक्ति नही व्यक्तिकरण है। वे प्रतीक भर है। सामाजिक मनुष्य के निकट सत्य-तत्व की प्रतीति पहुचाने मे सुविधा सामाजिक पात्रो को वाहन बना कर कथा रचने से होती है, इसलिए उसके चारो ओर सामाजिकता का वातावरण भी रचा जाता है। ताकि पाठक को ऐसा न लगे कि कूछ बताने के लिए मेरे आगे गढन्त गढा जा रहा है। उसे एसा लग िक यह सब कुछ उसके सामने किया नही जा रहा है, बाल्क सचमुच हो ही रहा है।

इसी में से यह परिणाम हाथ आता है कि रचनाकार को अपनी रचना के पीछे एकदम लुप्त रहना चाहिए। उसे अपनी ओर से कुछ नही कहना है। सारे पात्र उसी को तो कह रहे है। उनसे अलग होकर उप-

न्यास में यदि और कुछ कहा जाता है तो वह उपन्यास की श्रेष्ठता को नही बढाता, किंचित् उसको क्षुण्ण ही करता है। पात्रो का कार्यकलाप ही बस है। उस द्वार के अतिरिक्त जैसे लेखक स्वय पाठक के हाथ में आने को उद्यत नही। कला की इस आवश्यकता के कारण सामाजिक उपन्यास के बाह्य रूप को बेशक अत्यन्त वास्तविक होकर सामने आना चाहिए। ध्यान रहे कि वास्तविक होने की यह आवश्यकता कला की आवश्यकता ही है। वह स्वय वास्तविकता की आवश्यकता नही। शरीर स्वच्छ, नीरोग और पुष्ट चाहिए। इसलिए नही कि वह पचभौतिक है, अथवा उसे सुन्दर दिखाना है, बल्कि केवल इसलिए कि आत्मा उसमें स्वस्थ रहे। एक तरह से देह धारण करके देही को अलक्ष्य रहने में सुविधा होती है। शरीर है, इसी से उसके भीतर हृदय प्रकट होकर भी छिपा रह सकता है। माया की यही सार्थकता है कि वह ईश्वर को छिपा कर धारण करे।

जैसे अगूर पर छिलका होता है, वैसे ही उपन्यास पर वास्तविकता का परिधान चाहिए। छिलका केवल रस की सुरक्षा के लिए है। जिसे रस चाहिए वह छिलके को देखेगा भी नही। रस पीना है तो उसे छान कर छिलका फेंकने के लिए तैयार होना होगा। यह सही है कि छिलका न होने पर रस एकत्र होने का अवसर ही न पायगा। लेकिन बस, इससे अधिक उस छिलके का प्रयोजन नही। वास्तविकता का प्रयोजन भी इससे अधिक नही है।

यह भी मझे जान पडता है कि कार्य के पीछे के कारण को और घटना के पीछे के हेतु को पकडने के लिए बाहरी बहुत कुछ छोडते जाना होगा। अशर्फी के लिए कौड़ी छोडनी होगी। अमरता के लिए शरीर को मरने देना होगा। इसी तरह जो ऐक्य इस तमाम अनेकता को धारण कर रहा है उसको पाने के लिए एक एक को छोडते भी जाना होगा।

तभी तो है कि नित्य-नैमित्तिक जीवन की स्थूल घटनाओ का लेखा

उपन्यास मे नही मिलता। उपन्यास के पात्र रोज सवेरे सात बजे ही स्नान करते नही दिखाये जाते, न उनके दांतुन करने और भोजन करने आदि का जिक्र है। उपन्यास अपने चरित्र को जानने और जतलाने के लिए इन सब स्थूल व्यापारो के पार देखेगा। इन सब व्यापारो की सम्भावना और उद्भावना को धारण करनेवाली जो उस चरित्र की मानसिकता है, उसके व्यक्तित्व की भीतरी व्यथा और सत्यता है, उसे दिखलाने का उपन्यास प्रयासी होगा।

पत्तो की गिनती मे वृक्ष का सत्य निहित नही है। उसकी शोध में गहरे जाना हो, तो उसका रस लेना होगा। उस रस की बूंद में ऊपर से यह भी पता न चलेगा कि यह किस वृक्ष का है और इसके कैसे पत्ते रहे होगे। रस की बूंद में पेड की लम्बई-चौडाई और उसकी विविधता का कुछ भी प्रभाव नही रह जाता। उस रस के पृथक्करण से इसीलिए वृक्ष का अधिक सत्य प्राप्त किया जा सकता है, क्योकि वहाँ उसकी रूपाकारमय बृहत्ता एक दम गौण वस्तु रह जाती है।

उपन्यास में वास्तविकता का भी यही स्थान है। सुधी पाठक के लिए वह वाहन भर है। रसोपलब्धि की दृष्टि से वह परिहार्य तक ठहरती है। धरती पर का आदमी जिन तरह-तरह की लाचारियो के कारण उभर नही सकता, क्या उन लाचारियो मे उपन्यास के नायक को भी बाँधना ही होगा? मै मानता हू कि उपन्यास के नायक हमारे भीतर की सम्भावनाओ के चित्र अधिक है। वे हमारी अपूर्णता की पूर्तियाँ है। वे हमारे फोटोग्राफ नही है, उससे अधिक है। चित्र फोटोग्राफ से अधिक होता है। उपन्यास का लेखक भी फोटोग्राफर नहीं है—वह चित्रकार है, यानी उसमें विवेक है। इस विवेक द्वारा वास्तव के पर्याप्त अंश को वह छोड देता है।

जानता हू कि आजकल यथार्थ का एक वाद भी है। तो भी मै नही मानता कि आदर्श को हक नही है कि यथार्थ को अस्वीकार करे। उप-

न्यास वास्तव में उस आदर्श की ओर उठने के प्रयास में ही बनना चाहिए। यथार्थ से उठना और यथार्थ को उठाना नहीं है तो उपन्यास का प्रयोजन ही क्या ? हाँ, प्रयोजन खोज ला सकते हैं और उन पर उपन्यास लिखे भी जा सकते हैं, पर क्या सचमुच उनको उपन्यास कहना ही होगा ?

: २५ :

व्यक्ति और टाइप

इधर आलोचना में दो शब्द मिलने लगे है . 'टाइप' और 'व्यक्ति'। कहा जाता है कि इसके पात्र 'टाइप' है, उसके पात्र व्यक्ति है। यह व्यक्ति और टाइप क्या ?

उपन्यास दो एक मेरे नाम पर भी है। उनके पात्र टाइप हैं, कि व्यक्ति ? किसी आलोचक से इस बारे में प्रकाश मिले तो मै कृतज्ञ होऊँ। क्योकि मै ठीक तरह जानता नही हू। वे पात्र गर्भ में कैसे आये, किस प्रकार जनमे और जैसे जिये वैसे किन कारणों से जिये, इस विषय मे मेरे मन में आभास तो है, बोध नही है। जनक हूं तो क्या, उनका जानकार मै नही हूँ।

पहले एक शब्द बहुधा आता था, चरित्र। वह शब्द अब भी मिलता है। पर घिस चला है।

एक बार दिल्ली-सम्मेलन के मौके पर प्रेमचन्द जी को कुछ लोग घेरे बैठे थे। वे जिज्ञासु थे और उपन्यास के बारे में पूछ रहे थे। उनमें महिलाएँ अधिक थी। प्रेमचन्द जी ने बताया—क्या बताया, सो मुझे ठीक याद नही। पर कुछ चरित्र के बारे में कहा।

तब तक एकाध किताब मेरी छप गयी थी। लोग जानते थे कि मै जानता हूँ। पर मैं क्या जानता था ? इससे मैने पूछा कि बाबू जी, चरित्र क्या ?

शायद आस-पास के लोग और प्रेमचन्द जी कुछ झिझके। कही मैं सिली सीवन उधेडना तो नही चाहता हूँ !

पर मेरी जिज्ञासा निपट थी और मै 'चरित्र' को समझना चाहता था।

अपने पात्र मे मै चरित्र कैसे भरूँ ? समझ ही न आता था कि चरित्र के नाम पर उनम मुझ क्या डालना होगा। पर अपनी बिवाँई की पीर दूसरा कैसे जाने ? यहा तक कि प्रेमचन्द जी के चेहरे पर मैंने अपने प्रश्न के लिए सहानुभूति न देखी तो मै कुछ पछताया। मुझसे अनौचित्य बन गया है इस भाव से, जो उन्होने उत्तर दिया, मै सुनता गया। पर ग्रहण नही कर पाया कि क्या उत्तर था।

प्रेमचन्द जी कुछ कह कर फिर उन्ही विद्यार्थियो की ओर मुखातिब हो गये थे। और तब से मै अब भी भटक रहा हूँ कि जानू कि चरित्र क्या ?

लेकिन चरित्र पिछडा, अब तो 'टाइप' सामने आ गया है। 'टाइप' और 'व्यक्ति'। हमारे विद्वान् भाई हजारीप्रसाद जी इन दो बाँटो से भारी-भारी बोझ तोलते है। रवीन्द्र के पात्र अधिक 'व्यक्ति' है, प्रेमचन्द के पात्र अधिक 'टाइप' हैं। याद पडता है कि कुछ इस आशय की बात उनकी मैने कही देखी थी।

हजारी बाबू के अलावा भी इन बाँटो का चलन मिलता है। आधुनिक तुला में वे खासे काम आते है। मेरे पात्रो की आधुनिक तौल हो तो उस बारे म कुछ मुझे भी पता चले। पर तब तक ?

दिन हुए एक कहानी मैने लिखी थी 'एक टाइप'। जाने किस संग्रह मे वह दब गयी। खोज कर उसे उघाडना तो नही चाहता, दबी है तो अच्छा ही है। सतह से ऊपर उठ कर सभ्रमित प्रकाश में दिखायी देने की स्पर्द्धा रखनेवाली सुन्दरताएँ यहा कम नही है। इससे कुछ चीजें जनमते ही धरती में मुँह गाड़ कर सो जायँ तो कोई बुराई नही। गिच-पिच इससे कम होगी। सोचता हूँ कि आदमी मरते जाते है, यही भला है। नहीं तो कुछ बरसो में भला यहाँ सांस लेने को मिले ? ऐसे ही कहानियाँ अनगिनत उपजती है और अपनी कृपा से वे मरती भी चलती है। हिन्दू

लोग कबर नही बनाते कि जगह घिरे और कोई पटिया मरे की याद को जीता रखने की नाहक कोशिश करे। वे तो भस्म करते और छुटी लेते है। जीते के लिए मुर्दे की याद का भी एक काम बढाना अदया है। जीते को यो ही अनक काम है। इससे मेरा 'एक टाइप' आया वैसे चला भी जाय, यह अच्छा ही है।

पर, आप माफ कीजिएगा, कमजोरी माफ होने के लिए है। आलोचक के हाथो खेलता हुआ यह जो टाइप सामने आया है, उसे देख कर मुझे उस पुराने अपने टाइप की याद हो आयी है। यह शायद कुछ और हो, वह कुछ और था। पर, ठहरिये, यह कुछ और ही है, यह भी मुझे नही मालूम। हाँ, मेरा वह कुछ क्या था, सो याद करता हूँ।

वे सम्भ्रान्त इज्जतदार आदमी है। दुरुस्त कपडे, दुरुस्त नीति, दुरुस्त सब कुछ। जैसे ज्यामिति के चतुर्भुज। सब समकोण, विषमकोण कही भी नही। वह खुद इतने नही जितने कि औसत है। अपने वर्ग के दूसरे आदमी जैसे काट के कपडे, उसी तर्ज के विचार, उसी सांचे की नीति, हूबहू वही राय। शका उन्हें नही छूती। सदा राजमार्ग पर वे चलते है। वे वही मानते है जो मानना चाहिए, वही चाहते है जो चाहना चाहिए। वह अपने भीतर नहीं जायँगे। बना-बनाया बाहर क्या कुछ नही मिलता? फिर अपने को व्यर्थ क्यो सताया जाय? अपने को धुन कर और कात कर और फिर उसी तार को बुन कर अपना कपडा आप बनाने का आग्रह क्यो? फिर उसे काट-सी कर अपने नीति-नियम भी स्वय तैयार करो। यह कहाँ की बुद्धिमानी है? भला सोचिए, मिलें इतनी खुली है, और वहा इतने लोग काम कर रहे है, सो क्या फिजूल? चाहिए हमें कि उनकी मेहनत को सार्थक करें। अपना कपडा बनाना मिल के धधा करनेवालो को बेकार करना है कि नही? आखिर जो लोग ये स्मृति-श्रुति बना जाते हैं सो इसीलिए तो कि हम उसे बनाने के झझट में न पड़ें। अतः, अपने पूर्व-जन चल-चल कर जिस रास्ते को पक्का कर

गये हैं, चलने के लिए वही रास्ता है। बस, हमारे टाइप बेखबर उस पर चलते चले जाते है। बँधी-बँधाई विधि है। एक-एक क्लास चढते दसवी तक पहुँचे, इतने में ब्याह की उम्र हुई और ब्याह किया और हौले से लगे। बीस, पच्चीस, तीस बरस नौकरी की। बच्चे पैदा किये और उनकी परवरिश की। लडको को दसवी तक लाकर दो पैसे के काम से लगाया। और तेरहवा लगते लडकी के हाथ पीले किये। तनखाह ली और वैध रूप से ऊपर से जो और मिला वह नतमस्तक स्वीकार किया। समझदार के लिए ऊपर की आमदनी के आगे तनखाह की क्या गिनती है। तिस पर किफायत से चले और ढग से निबाह किया। ऐसे चौथापन आ गया। तब भगवद् भजन मे चित्त लगाया। इस तरह सधे शान्त भाव से इस किनारे मे उस किनारे तक जिंदगी को पार किया।

इस बीच गाधी आये, सत्याग्रह मचा, उथल-पुथल हुई, जेलें भरी और खाली हुई और फिर भरी। पर गर्मी मे ऐसे तो काली-पीली आधिया आया ही करती है। साबित कदम क्या हिलते है? हाथी चलता है, कुत्ते भौकते है। यह नही कि कहानी के औसत महाशय अखबार नही पढते, या अध्यात्म मे उनकी पहुच नही है। जी नही, सो सब है। उनके बदन पर की देशी मिल की बनियाइन गाधी महात्मा के ही लिए नही तो और किसके लिए है? और अध्यात्म— उसमें तो वे गद्-गद् हो जाते हैं, पर राज-मार्ग नही छोड सकते। तभी चारो ओर चाहे प्रलय ही होता रहा है, पर उनकी निगाह पेन्शन की ओर एकाग्र रही है। लक्ष्यवेध का क्या यही मन्त्र नही है? रेल-कम्पनी ने ही अपने नियमो से लाचार होकर उन्हे छुटकारा दिया तो दिया, वे कर्तव्य पालन को अब भी तत्पर थे। जन्म अनेक होते है, पर रेल-कम्पनी की सेवा का अवसर इसी जन्म में मिला है। उससे विमुख होना क्या सेवाव्रती को शोभा देता है, ऐसे ही स्थिति-निष्ठ, निस्स्व-भाव सत्पुरुष समाज का रीढ होते हैं। वे देखते सब है, पर करते कर्तव्य

ही है। तभी तो जहा कच्चा मकान था वहाँ अब पक्की ईंटो का मकान दीखता है, लडकिया सब अपना कुनबा लेकर बैठी है, लडके दो पैसे के हीले से लगे है, और सब परमात्मा की दया है।

ये हमारी उस कहानी के टाइप है। टाइपो मे पौइट होते है, जाने कै पौइन्ट के ये टाइप है। लगता है कि लोकाचार इसी टाइप पर छप कर चलन मे आता है। यह टाइप नि सन्देह कम घिसता है, टिकाऊ है और पक्का है।

क्या आलोचक का टाइप भी यही है ? या कि वह कुछ और वस्तु है ?

'टाइप' क्या वही कि जिसमे चरित्र की निजता नही है ? और व्यक्ति वह कि जिसमे निजत्व है ? व्यक्ति औरो से भिन्न है और टाइप मिलता-जुलता है—क्या यही उनमें रहस्य या अन्तर है ?

पर वह भेद यही है और आलोचक अपनी बात से यही कुछ कहना चाहता है, इसका मुझे विश्वास कौन दिलाए ?

(२)

व्यक्ति को क्या दूसरे के विरोध में रख कर उसे अपने मे विशिष्ट, स्पष्ट और पृथक् बनाना होगा ? उपन्यासकार से टाइप की जगह व्यक्ति मागते है, तो क्या हम यही मागते है ?

और वह पात्र जो अपनी निजता खोकर सर्वांश में अपने शरीर में हो रहता है, इतना कि उसे छूना मानो उस सारी श्रेणी को छू लेना है—ऐसे टाइप का चित्रण हलकी कला समझी जायगी ?

यह समझने के लिए व्यक्ति की पृथकता अथवा समाज के साथ उसकी अभिन्नता को समझना होगा।

गहरे में जाय तो पृथकता भ्रम है। हमारे आपके बीच में जो व्यवधान

दीखता है, सच पूछा जाय तो हम दोनों का समन्वित सत्य उसी में है। यानी अपने आप में मुझ में बन्द कुछ नहीं है, उधर खुद आप में बन्द भी कुछ नहीं है। हम दोनों की जो परस्परता है, क्रिया-प्रतिक्रिया है, राग-विराग सम्बन्ध है—सच पूछिए तो चैतन्य की पीड़ा भी वही है। अर्थात सत्य व्यक्तियों में नहीं, उनके सम्बन्धों में है, और जीवन-विज्ञान को व्यक्ति के वृत्त में नहीं, बल्कि पारस्परिकता के अनुबंध में देखना होगा।

अर्थात् व्यक्ति का बाह्य-स्वरूप, या उसका कर्म-व्यापार, बहुत अधिक सुनिश्चित और सुनिर्दिष्ट रूप में हमारे सामने आ डटता है, तो उसमें हमारी परितृप्ति कुछ कम हो जाती है। जिसको जान लेते हैं उसे हम प्रेम नहीं करते। इसी से उपन्यासों के जितने महान पात्र मिलेंगे मालूम होगा कि उन्हें हम जान नहीं पाते हैं। जानने को उनमें सदा कुछ शेष रह ही जाता है। उनकी रूप-रेखा मन के अगोचर में प्रत्यक्ष होकर भी अप्रत्यक्ष रहती है।

मानिए कि उपन्यास में एक पात्र का रूप-रंग, कपड़े-चेहरे की बनावट, आदि, सब आपके सामने पूरी तरह खोंच कर रख दिए जाते हैं। वह किस अन्दाज से छड़ी टेक कर चलता है, यह भी आपको मालूम हो जाता है। बीच-बीच में खखारता है, रह-रह कर शायद किसी पुरानी बीमारी की वजह से आंख के पास की खाल सिकुड़ आती है और तब बाईं आँख विचित्र बन जाती है; उसका तकिया कलाम है, 'क्या समझे ?' और वह वाक्य पूरा होते-होते 'क्या समझे ?' पूछ ही बैठता है। ये सब ब्यौरे आपको मालूम हैं।

कल्पना कीजिए कि यह पात्र जब-जब आता है, तब-तब आँख के पास की उसकी सिकोड़, चाल का अमुक ढंग, उसकी खखारने की आदत, और बार-बार उसका 'क्या समझे ?' कहने का चित्र फिर-फिर कर आपके सामने प्रत्यक्ष किया जाता है। तब आपको कैसा लगेगा ?

शायद आपको अच्छा भी लगेगा। छड़ी की टिकटिक सुनते ही आप

की आँखों के आगे वह मूर्ति आ जायगी। अर्थात् उस ढंग से व्यक्ति अनायास आपका जाना-पहचाना हो जायगा और आपके बीच तकल्लुफ मुतलक न रहेगा।

पर ये बातें पात्र को व्यक्ति बनाती हैं, कि टाइप ? इन आदतों से वह एकदम और सबसे अलग हो रहता है, उसका खाका ऐसे पूरा बनता है। लेकिन क्या इस तरह उसमें गहराई आती है ? और क्या उसमें किसी व्यक्तित्व का निर्माण होता है ?

अंग्रेजी का एक शब्द है, Idiosyncracy, आशय है सनक। हर एक में सनक होती है। उस सनक को लेकर हम सबका एक सस्ता चित्र झट दे सकते हैं, जिसमें वह सनक ही उस व्यक्ति की पहचान हो। कार्टून की कला का इसी भेद से विकास हुआ है। पर क्या यह भी सच नहीं है कि व्यक्तित्व को पाने के लिए उसकी Idiosyncracy की सतह से हमें नीचे उतरना होगा।

कुछ ऐसा मालूम होता है कि अगर हम आदमी की असलियत को पाना चाहते हैं तो ऊपरी विषमताओं से, यानी रंग-रूप रहन-सहन आदि के ब्यौरों से गहरे में जाकर उसे खोजना होगा।

इस लिहाज से जिसमें विशद आकृति वर्णन मिलता है और पात्र को मानसिक से अधिक शारीरिक अथवा सामाजिक बनाया जाता है वहाँ वह पात्र और दृष्टियों से सुनिर्दिष्ट भले हो जाय, प्रभावकारी उतना नहीं हो पाता। इतना अधिक वह जाना-पहचाना हो जाता है कि उसमें अन-पहचाना कुछ न रह जाने के कारण उसके प्रति आकर्षण की अनिवार्यता भी नहीं रहती।

दूसरी ओर ऐसे पात्र जिनका ऊपरी वर्णन नहीं मिलता, आँख कैसी थी और नाक कैसी थी अन्त तक इसका पता नहीं चलता; साड़ी रेशमी थी अथवा दूसरे तरह की थी, इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला जाता; उसकी Idiosyncracy को बहुत उभार कर नहीं पेश किया जाता।

पर उन पात्रों के भीतर का मानसिक व्यापार ऐसी सघन सहानुभूति से चित्रित होता है कि हमारे मन में वह पात्र गहरा बस जाता है। हम अपने मनोनुकूल उसकी शरीरयष्टि और मुख-मुद्रा की कल्पना कर सकते हैं, मन मुताबिक सिल्क या सूत के कपड़े पहना सकते हैं। जैसे लेखक बहुत अधिक जाना-पहचाना उसे आपके निकट बनाना ही नहीं चाहता है। वह मात्र आपकी कल्पना को सचेष्ट कर के उसे स्वतन्त्र छोड़ता है। वह आपके निकट कुछ रहस्यमय, दुर्बोध और तटस्थ रहकर ही तुष्ट है। ऐसा पात्र यत्किंचित ज्ञात होकर भी आपको अज्ञेय है, और आपका होकर भी वह स्वयम् है।

महान् पात्र सब लगभग ऐसे ही होते हैं। पाठक की रुचि और कल्पना को वे बाँधते नहीं, बल्कि उन्हें स्फूर्त करके मुक्त करते हैं। उनके प्रति आप में बराबर एक चाह, एक उत्सुकता बनी रहती है। वे आपके भीतर गहरे आकर आप से स्वतंत्र रहते हैं। मानो वे मुट्ठी में समाने के लिए नहीं हैं।

व्यक्ति की दृष्टि से ऊपर गिनाये दो पात्रों में हम किस को सम्पूर्ण और सफल कहें ? एक ओर वह है कि मिलते ही जिसका सब कुछ आपके सामने आ जाता है, उसका चेहरा, उसके कपड़े, उसका रंग, उसका रूप, उसका प्रयोजन। दूसरा वह है कि जिससे मिलकर मानो यह मालूम भी नहीं होता कि आपने वस्त्र देखे हैं, या कि रूप अथवा आकार देखा है। मानो एक साथ उस देह के भीतर जो है, और जो अगम और अबध है, उसकी छाप आपको छूती है।

कहने में कठिनाई न होनी चाहिए कि जिसके ऊपरी रूप पर और लिबास पर ध्यान अटकता है, जहा रूप तथा परिवेश जान-बूझकर ऐसा मुखर बनाया गया है, वह चित्र उतना ही हलका है। और जहाँ आकार-प्रकार के सौंदर्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं, मानो वह तो निराकार की झलक झलकाने भर के लिए है, वह चरित्र उतना ही गहन है।

इस दृष्टि से आकृति और प्रकृति की अत्यधिक सुस्पष्टता मानो पात्र को पाठक के पास लाकर भी पाठक के मन से उसे दूर डाल देती है। और जहाँ आकृति-प्रकृति के सबध मे कुछ भी उभारदार न बनाकर पात्र के अन्तरग को अपनी सहजता मे हम पर क्रमश प्रस्फुटित किया जाता है, वहाँ ही मन अधिक गम्भीर होकर प्रसन्नता एव कृतज्ञता अनुभव करता है।

तभी तो आजकल आकृति का वर्णन यदि है भी, तो रूप की नही गुण की विशेषता से ही है। उसके विशेषण ही अब बदल गये है। आँखो को कान तक फैली कहने की जगह चपल, मृदु या तीक्ष्ण कहा जाता है। अर्थात् शरीर द्वारा मानसिकता का ही अभिनदन किया जाता है। साज-सिंगार यदि आज कम है, और उसका वर्णन और भी कम, तो इसलिए कि साज-सिंगार व्यक्तित्व को ढकता ही है, अथवा प्रगट करने के पक्ष मे वह व्यक्तित्व का दैन्य ही प्रकट करता है।

(३)

व्यक्ति और टाइप की चर्चा में मै नही जानता कि इस क्षेपक का क्या सम्बन्ध लिया जायगा। लेकिन मै जानना चाहता हू कि व्यक्ति का व्यक्तित्व कहाँ है, और क्या है ? और टाइप व्यक्ति से भिन्न है तो किस कमी के कारण भिन्न है ?

मुझे प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपने आप मे समाप्त और सार्थक नही है। इसलिए व्यक्ति-रूप मे उसे दिखा कर कोई कला अपने को सफल भी नही मान सकती है।

आज मनोविज्ञान का दौर है। एक व्यक्ति के मन को कुए की भाँति लेकर उसके अधेरे मे दृष्टि गाड कर नीचे से नीचे उतरने का प्रयास किया जाता है। समझा जाता होगा कि ऐसी मनोवैज्ञानिक रचनाए टाइप नही व्यक्ति देती है। मुझे तो ऐसी मनोवैज्ञानिक रचनाओ की तुक

समझ मे नही आती। अपनी खातिर मन की गुत्थियो का खोलना अध्यवसाय है, कि व्यसन ? असल से बच कर नकल मे जी बहलाने का-सा वह काम है। गोरख-धन्धा ले लीजिए और वक्त को मारे जाइए। मुझे रचनाओ मे मनोविज्ञान की यह उपासना अपने बच्चे के अगूठे चूसने जैसी लगती है। यह तो अपने मु ह मे अपनी जीभ मोड लेना है। मन की उलझन खोले जाइए, खोले जाइए, पर मन से कोई काम लेने का इरादा हो तब तो उलझन शायद कुछ खुले। वैसा कुछ लक्ष्य पास नही है तो उलझन शायद ही तनिक खुले। वैसा कुछ लक्ष्य पास नही है तो उलझन खुलेगी कैसे, और खुल कर होगा क्या ? एक बार हाथ का गोरख-धधा खुल गया। पर यह तो बडी बुरी बात हुई। अब मेरी चेष्टा थी कि वह गोरख-धधा पहले की तरह फस जाय, ताकि उसके खोलने की कोशिश मे कुछ वक्त कटे। मनोविज्ञान का साध्य बनाकर चलने मे यही खतरा है। उपन्यास मनोविज्ञान का बँधुआ नही है। मनोविज्ञान उसके पीछे लगा चले, यह दूसरी बात है, उपन्यास का लक्ष्य ऊँचा है। जीवन को स्फूर्ति देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाना उसका काम है और यदि जीवन के भीतरी भेदो को सुलझाने का उसमे प्रयास है तो इसीलिए कि जीवन अपनी जकड से छूटे और ऊपर उठने मे समर्थ हो।

व्यक्ति की नाना भावनाओ को कुरेद और खोल कर एक-एक कर आगे बिछा देने से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है—यह मै नही मानता। आदमी को चीर कर उसकी रग खोलने से आत्मा का सार नही मिलता। ऐसे उस आत्मा के न मिलने, अत उसमे अविश्वस्त होने, की सम्भावना अवश्य होती है। बुद्धि के तीखे नखो से पात्र के मन की चीर-फाड से कला की छीछालेदर की जा सकती है, ऐसे कला से तात्पर्य-सिद्धि तो नही होती। अन्वय समन्वय मे सार्थक होता है और विश्लेषण यदि कृतार्थ है तो तभी जब वह कुछ सश्लिष्ट भाव उत्पन्न करने मे समर्थ है।

अर्थात् वह रचना पात्र के रूप में हमे व्यक्तित्व का दान करती है जो उसके मन को लेकर उधेड-बुन में रहती है, यह कल्पना भ्रान्त है। जैसे कि बाहरी रूपायोजन के उपादान मात्र से पात्र को सांगोपाग बनाने की स्पर्द्धा करने वाली रचना व्यक्ति नही पुतला ही खडा करती है, वैसे ही दूसरे प्रकार की यह मनोविश्लेषण के दौरवाली रचना भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को नही, बल्कि केवल उसके प्रेत को दिखा पाती है।

यहाँ आकर मैं कहना चाहता हू कि दुनिया मे जितने आदमी है उनमे कुछ को व्यक्ति कह कर बाँट देना सम्भव नही है और उपन्यास मे यदि किसी को टाइप और दूसरे को व्यक्ति कहा जा सकता है तो केवल कलम की खूबी की वजह से। यदि वहाँ से व्यक्ति को स्वय प्राप्त कर पाठक को उपलब्ध कराया जायगा कि जहाँ से उसके समूचे व्यक्तित्व को ऐक्य मिलता है, तो वह मर्मस्थ होगा। उसी को ऊपरी सतह से दिखाया जायगा तो वही पात्र चपटा, निजत्वहीन और टाइप सरीखा दिखायी दे आयगा।

प्रतीत होता है कि ऊपरी विशिष्टता के वर्णन से जिस पात्र को व्यक्तित्वपूर्ण बनाने की कोशिश की जायगी, वह उतना ही पुतला यानी टाइप रह जायगा और जिसको निर्वैयक्तिक रूप मे मानव-जाति के निकट से निकट कर के देखा जायगा, वह पात्र अनायास गहन-चरित्र और पुष्ट व्यक्तित्वधारी बन सकेगा।

व्यक्ति असल में क्या है? क्या वह प्रतीक ही नही है? अपने समय और अपनी परिस्थिति में सश्लिष्ट एक प्रश्न-चिह्न को, एक जिज्ञासा को लेकर वह उठा है। उसे उत्तर की खोज है। उसके भीतर कोई बन्द निजता होती तो जगत् से उसका नाता क्या बनता? पर जगत् से वह कुछ लेता और कुछ देता है। इसी में उसका निजत्व और व्यक्तित्व बनता है। सच पूछा जाय तो जो इस आत्म-दान के कर्तव्य में जितना अपने को रोक रखता है, घुल-मिल न जाकर अपने को अलग रखता है, वह

व्यक्तित्व की दृष्टि मे उतना ही हीन बनता है। यहाँ यही तो विस्मय है कि जिसने अपने को जितना बनाया और सँवारा वह उतना ही बिगडा और जिसने अपनेपन को पास न रख कर दे डाला, वह उतना ही महान बना।

यानी जो अपनी निजता को समेटता नहीं बल्कि इस चारो ओर के विश्व मे विकीर्ण करता है वह सकीर्ण नही रह जाता, वह व्यक्ति नही रह जाता, वह तो एक ऐतिहासिक युग के साथ तन्मय होता, उसका शीर्षक बनता है। महाकाल का एक बडा भाग ही उसका नाम पा जाता है। इस दृष्टि से सच्चा व्यक्ति व्यक्ति होता ही नही, केवल प्रतीक होता है।

आजकल जो उपन्यास पश्चिम में और अपने यहाँ लिखे जा रहे हैं, उनमें से अधिकाश में मुझे इस सत्य की झलक कम दिखलायी देती है। अब तो खैर गनीमत है, लेकिन कुछ पहले व्यक्ति को साध्य मान कर विश्लेषण की बडी गहराई मे उतर जाया जाता था। मानो व्यक्ति को सम्पूर्ण और एकत्र करना नही, उसको बिखराना साहित्य का काम है। पर प्रभाव की एकता यदि रचना की सफलता के लिए अनिवार्य गुण है तो स्पष्ट है कि उसमे मन का पृथक्करण उसके मन के समीकरण की दृष्टि से ही हो सकता है। साहित्य के द्वारा अमुक जानकारी नही फैलायी जाती, बल्कि आत्मा की व्यथा को ही विस्तार दिया जाता है। वह आत्म-व्यथा ही है आत्मानन्द। वही है स्फूर्ति का स्रोत।

इस भाति विचार करने से हम जिस परिणाम पर पहुचते है वह यह कि पात्र की निजता को अत्यन्त परिपुष्ट दिखाने के लिए उसे जानबूझ कर औरो से अलग कर लेने की जरूरत नही है। उसका निजत्व उसी अश तक सिद्ध और सार्थक है जिस तक वह पाठक के निजत्व में प्रति-बिंबित होकर उसे चेताता है। साफ है कि इसमे ऊपरी ब्यौरे मदद नही देते, चाहे तो वे बाधक भले हो सकते है।

एक शब्द है Hard focus, यानी चित्र की रूपरेखा का बेहद दुरुस्त होना। पर कला के लिए "Soft focus" चाहिए। सचेतन-अचेतन मे क्या भेद है ? यही कि एक नपतुल जाता है, दूसरा ठीक नाप-तोल में नही आता। चैतन्य पर सीमा की रेखा नही होती। चित्र बिना सीमा के नही बन सकता, सही, पर तमाम महान् चित्रो की यह खूबी है कि वहाँ सीमाए होती हैं, पर मानो वे एक दूसरे को रोकती नही, बल्कि एक-दूसरे मे खोना चाहती है। वहाँ एक प्रकार की झिलमिल अस्पष्टता रहती है। शरीर जैसे रेखाबद्ध है, उसके भीतर का तत्व वैसा ही रेखाहीन है। शरीर वास्तव है, पर आत्म उसी वास्तव की असल वास्तविकता है। हमें किसी की उपस्थिति क्यो प्रभावित करती है ? इसीलिए कि व्यक्तित्व शरीर नही है, उससे घिरा नही है। बल्कि सच पूछो तो शरीर के अलक्ष्य में व्यक्तित्व का जो प्रभाव है, वही उपन्यासकार के लिए विचारणीय है।

राम और सीता, कृष्ण और राधा, या लक्ष्मण और भरत और अर्जुन, युधिष्ठिर और द्रौपदी और सुमित्रा और सावित्री—इन सब में किसी के बारे में क्या हम कह सकते है कि उसकी ऊँचाई छ फुट से कितने इच कम या कितने अधिक थी ? या किसी की आँख और नाक की कितनी नाप थी ? क्या ऐसा कोई भी ब्यौरा आज बचा है ? क्या उनका कोई चित्र है ? नही है, और न उसका अभाव हमको प्रतीत हुआ है। जिसको उन व्यक्तियो की ऊपरी यथार्थता कहे वह हमको नही प्राप्त है, फिर भी भारतीय नर-नारी को अपने अन्त.करण मे वे सब चरित्र आज अत्यन्त यथार्थ रूप मे उपलब्ध है, यह भी सच है। उनके भौतिक आकार-प्रकार को हमारे प्राचीन कथाकार ने एकदम छूट जाने दिया है, उनके अन्तरग मानस को ही हमारे सवेदन के आगे प्रत्यक्ष किया है। इसी से वे पात्र अमर हुए है और जाति के अथाह में पहुच कर घुल-मिल गये है।

क्या उन साहित्यकार ऋषियो के इन महत्पात्रो को हम आधुनिक परिभाषा के व्यक्ति कह सकते है ? उनका मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) वहाँ कहाँ ? कहो कि वे अयथार्थ है। वे अति मानव है, व्यक्तिगत निजता जिसको कहा जाय उसमे वे सकीर्ण नही है, फिर भी वे है और एक महाराष्ट्र के प्राणों के लिए चिरकाल मे अमृत का काम दे रहे हैं।

वे व्यक्ति है कि टाइप ? बेशक, वे व्यक्ति कम है और प्रतीक विशष है। वे अपने को नही सत्य की एक झाँकी को अपने द्वारा मूर्त करते है। उनमे उनके रूपाकार से बहुत अधिक है। वे मनुष्यता की एक भूमिका का प्रतिनिधित्व करते है। वे एक वृत्ति के, श्रेणी के, युग के, एक टेक के सूचक है।

मै कहना चाहता हूँ कि आज जो और जितना हम व्यक्ति से समझते है, वह और उतना देने के लिए साहित्य नही है। किसी सूत्र, मत अथवा नीति के समर्थन के लिए साहित्य नही है। वह तो आत्ममार्ग पर मनुष्यता को चलाने मे प्रेरक होने के लिए है। और इस काम मे वह व्यक्ति से बन्द नही है। असल मे तो व्यक्ति पर समष्टि का, एक पर दूसरे का, हर एक पर हर एक का जो प्रभाव पड रहा है, और जाने-अनजाने उनमे जो एक अभिन्न-अभेद सबध अतर्घटित हो रहा है, उसी के उद्घाटन के लिए साहित्य है। उस अनिवार्य सग्रथन के भीतर कारण रूप है प्रेम। एक वियोग है, और सयोग की चाह है। खड बिछुड गया है, और अखण्ड के ऐक्य को तडप रहा है। कण समुद्र के तट से छूट गया है। इस जगत् के अणु-अणु मे जो एक चाह, एक प्यास है और जो उसे भरमा रही है, वही है सत्य। अणु सत्य नही है, सत्य व्यक्ति नही है, समाज, देश, राष्ट्र कोई सत्य नही है। सत्य है, वह चाह। अण से, व्यक्ति से, जाति, देश या राष्ट्र से वह चाह जितनी व्यक्त हो, उतनी ही उनमें सचाई है। उससे अलग वे सब इकाइयाँ झूठ है। अनेक की अनेकता

सच है तो उनके भीतर की ऐक्यानुभूति के कारण ही, यो कोई एका-एक भला कैसे सच हो सकता है ?

इससे मेरे खयाल मे उपन्यास मे न व्यक्ति चाहिए न टाइप। न नीति चाहिए न राजनीति। न सुधार, न स्वराज। उससे तो प्रेम की सघन व्यथा की माँग ही हो सकती है। और वह प्रेम इस या उसमे नही है, बल्कि इस-उस की परस्परता ही मे है।

आज मै सोचता हू कि शायद यही कारण रहा हो कि मै प्रेमचन्द जी के चरित्र शब्द को नही समझ सका। मै अब भी उसे नही समझ पाता हूँ। जगल मे या गुफा मे महा तपस्वी कोई हो जिनका चरित्र ऐसा हो कि फौलाद—तो भी मै क्या करू? मै उनको नमस्कार करता हूँ। पर उपन्यास के नाते मै उनका क्या करू ? शायद मै उनका कुछ नही कर सकता। प्रीति उनसे या उनमे मै यदि नही पाता हू तो उनके वज्र-चरित्र को लेकर भला बताइये मै क्या बना सकता हू ? इसलिए मै चरित्र शब्द पर कुछ भी कहने मे असमर्थ हूँ।

ऐसे ही व्यक्ति। व्यक्ति की व्यथा मुझे चाहिए, उसकी महत्ता मुझे नही चाहिए। महत्ता तो बडी से बडी भी छोटी है। एक आदमी इतना बडा तक हो जाय कि जितनी दुनिया—पर दुनिया तो यहाँ असंख्य है। लाखो तारो से आसमान भरा है। जैसे मोतियो से अजलि भरी है। और मानो वह अजलि उन मोतियो का आशीर्वाद हम पर ढुरका देने की राह देखती हो। ओह, तब हमारा दुनिया जितना बडप्पन भी कैसा तुच्छ हो आता है। इससे व्यक्ति मुझे नही चाहिए, उसका बडे से बडा बडप्पन झूठ है। उसकी तो तुच्छता ही मेरे निकट सत्य है। मुझे वही व्यथा चाहिए जिसमे उसकी तुच्छता का ही प्रत्यक्षीकरण, उसका ही समर्पण हो। मेरे लेखे व्यक्ति विचारणीय बनता है तो तभी जब क्षुद्रता को खोल देकर वह विराट में विदेह बनता है। भीतर प्रीति नही तो, भाई ऐसे तो बाँस भी बहुत ऊँचा हो जाता है।

: २६ :

प्रगति क्या ?

आइए, समझें, प्रगति क्या ?

इधर दाये से पुकार आती है—उन्नति कीजिए। हम वही कर रहे है। आइए, हम मे आ मिलिए।

उधर बाएँ से भी पुकार आ रही है—प्रगति कीजिए। जो हम कर रहे है वही है प्रगति। आप प्रगतिशील है न ? तो इधर आ जाइए।

स्पष्ट है कि दाहिनी दिशा बाई से उल्टी है। दोनो परस्पर-विरुद्ध है। दाहिनी ओर बाई वालो के लिए केवल मूर्खता है और ढकोसला है। उसी तरह दाईं तरफ वाले बाईं ओर जहालत और मौत देखते है।

किसी ओर आइए, किसी के लिए आप जाहिल और मूर्ख अवश्य है। मूर्ख हुए विना कोई नही रह सकता।

और यह शुभ है। इस भय से आप बचे कि कोई आपको मूर्ख कहेगा तभी आप सोचने समझने के लिए ठहर भी सकते है कि प्रगति क्या ? नही तो कोई न कोई आपको बाँह पकडकर प्रगति के (यानी, दूसरो की जहालत के) मार्ग पर ले ही बढेगा। ज्यादह सम्भावना यह है कि जिधर अधिक मत-बल और कोलाहल-बल होगा उधर ही आप जायेंगे। और इसलिए उधर ही तरक्की को होना पडेगा।

इसलिए यदि आप प्रगति क्या, यह सोचने-समझने में समय लगाने मे साथ देना चाहते है तो यह तय है कि आप तय्यार है कि कोई आपको मूर्ख कहे। और यह भी तय है कि आप खुद किसी को मूर्ख कहने की जल्दी नही करना चाहते।

इसके बाद आइए अब प्रगति को मालूम करे ।

पर इसमे आगे बढे, इससे पहले एक बात याद कर ले । वह बात हम जानते तो है, पर भूल जाते है । वह बात यह कि, हम आदमी है; यानी दुनिया के अनेको में से एक किस्म के प्राणी है । हो सकता है कि सबसे ऊँचे प्रकार के प्राणी हम हो । पर यह निश्चय है कि वह प्रकार असख्य मे से एक है ।

जब हम आदमी है तो हमारा सोचना आदमी का सोचना है, वह किसी भी और का नही है । हमारा सच बस हमारा ही है; और किसी प्रकार के प्राणी के लिए वह सच सच नही है, उसके लिए वह झूठ भी हो जाय तो क्या झूठ ।

अत· हम जान लें कि जिसको हम प्रगति कहकर ठहरायें वह हमारे अपने मामलो से आगे उपयोगी नही होती । वह शुरू मे अन्त तक हम पर ही लागू है । हम से बाहर जाकर वह है ही नही । इस अनन्त, अनादि, अपरिमेय विश्व में क्या तो प्रगति और क्या अगति—हम मानव क्या है कि जो इस बारे मे पक्की खबर दे सकें ? इसलिए शुरू से याद रहे कि प्रगति के प्रश्न की हद आदमी के पैदा किये अपने मामलो तक है ।

प्रगति शब्द के दो खण्ड है—प्र+गति । गति उनमे मुख्य है ।

'प्र' विशेषण है । प्रगति का मूल आधार है, गति ।

गति अनिवार्य है, यानी जीवन के अर्थ मे अनिवार्य है । यह घडी बीती कि दूसरी घडी आ गई । हम चाहे न चाहें, यह घडी तो बीत ही जायगी । यह घडी घडी भर के लिए है, उसके पार वह नही है । उसके पार जो है, वह घडी होकर भी दूसरी है । इसी बीतते हुए कायम रहते चलने का नाम है 'गति' ।

हमारे जानने के दो रूप है—रूप कह लीजिए या रुख कह लीजिए । एक 'है', दूसरा 'नही' ।

जैसे कोई भी क्षेत्र तीन सीधी भुजाओं से कम में नहीं घिर सकता वैसे ही कोई भी ज्ञान व्यक्त होने के लिए 'हाँ' और 'नहीं' में घिरा होना चाहिए। उन 'हाँ' और 'नहीं' में एक समान दूरी पर तीसरा बिन्दु है 'मैं'। वह हर बात में गर्भित है।

जैसे आदमी दाये और बायें अपने इन दो पैरों पर चलता है वैसे ही बुद्धि 'हाँ' और 'नहीं' इन दो पैरों पर चलती है। स्वीकार भी चाहिए, निषेध भी चाहिए। जैसे एक पैर टिका रहता है तभी दूसरा पैर आगे बढ़ता है, वैसे ही निषेध के सामर्थ्य के बिना स्वीकृति निरर्थक है और स्वीकृति रूपी स्वत्व के बिना निषेध प्रवचनामात्र है। दोनो के बिना चलना नही होता।

प्रगति' में 'प्र' उसी निषेध की शक्ति का द्योतक है। उस निषेध के आधार पर एक पैर जमाकर दूसरे को स्वीकृति की ओर बढाते हैं, तभी हम प्रगतिशील होते है।

हम काल और देश से घिरे है। घिरे है, इसीलिए हम है। हमारी व्यक्तिगत सत्ता के माने ही परिमित सत्ता है हमारी बुद्धि चूंकि हमारी है, इससे अपरिमेय नही हो सकती। परिमित का भाग और भी परिमित होगा। इसी से न हम काल को समग्रता में जान सकते है, न विस्तार को समग्रता मे जान सकते है। दोनो को हम खण्डित करके इन खण्डो द्वारा ही पहचानते है। गज, मील, कोस, योजन के माप में हमारा देश (=अवकाश) बँटा है। मात्र आकाश हमारे लिए कुछ नही है। उसे हम 'असख्य मील' के अर्थ में समझते है,—तभी थोडा-बहुत समझ पाते है। इसी तरह काल को घडी, पल, छिन के हिसाब से हम जानते है। घडियाँ बीतती जा रही है,—वे बीतती जायँगी। न उनका शुरू है, न अन्त है। वे ही अनन्त घडियाँ जहाँ आपस में एक सत्व-धारा मे पिरोई जाकर अभिन्नतया एक हो जाती है वही काल है। इसी तरह असख्य योजनो का विस्तार हमारे सामने है, हमारे पीछे है, ऊपर है, नीचे

है, दाये-बाये है । सब मिला कर यह जो तमाम शून्याकार अवकाश है, वह आकाश है ।

हम परिमित है । आकाश अपरिमित है और काल अपरिमित है । हमारी चेतना का स्पर्श और उसका जागरण उत्तरोत्तर ज्यो-ज्यो इन अपरिमेय तत्त्वो के अवगाहन की ओर बढता है त्यो-ही-त्यो, मानना चाहिए कि, हम प्रगति कर रहे है ।

अनादि इतिहास मे से निकल कर मनुष्य अभी बीसवी सदी तक आया है । इस तमाम यात्रा मे मनुष्य वह मनुष्य ही रहा है । वही दो हाथ, वही दो पैर । पर वह बदला भी है । अनन्त काल मे यद्यपि उसके इतिहास के सहस्रश वर्ष सागर मे बूद के समान है, तो भी वह सहस्र वर्ष व्यर्थ नही गये है । मनुष्य कुछ-न-कुछ पाता आया है, देता आया है, जाने-अनजाने वह प्रगति करता ही आया है ।

यदि प्रगति नही करता आ रहा है, तो प्रश्न होता है कि हम सब आज ही समाप्त क्यो नही हो जाते, कल के लिए क्यो जिन्दा है ? सब कुछ क्यो चल रहा है ? जीना क्यो जारी है ? इस 'क्यो' के पीछे क्या कुछ भी नही है ? क्या भविष्य बिलकुल खोखला है ? खोखला मानें, सब कुछ व्यर्थ-निरर्थक मानें, तो जीना एक पल नही चल सकता । इससे कैसे इन्कार करे कि लिखने वाला मै और पढने वाले आप जी रहे है ? इसलिए मानना ही होगा कि अगर हम है तो प्रगति भी है । अधिकाधिक अनुभूति-सचय और उसके द्वारा ऐक्य-सचय की ओर हम बढ ही रहे है। हम मर जाते है तो सतति में जीते है । परिवार समाप्त होते है तो वश और जाति में जीते है । इस भाति नाना जाति और राष्ट्र इतिहास में एक दिन उदय होकर एक दिन अस्त हो जाते हैं और अपने पीछे अपनी सस्कृति, अपना साहित्य और अपनी कला का अवशिष्ट छोड जाते है । नष्ट तो कभी कुछ भी नही होता; काल के आदि से निरन्तर हो रही प्रगति में बस अपना उत्सर्ग दान कर जाता है ।

लेकिन कहा जा सकता है कि यह क्या बात हुई ? जब जो हो रहा है वही है प्रगति, तब प्रश्न कैसा कि प्रगति क्या है ? क्या हमारा यह वश है कि प्रगति न करें ?

बेशक यह हमारा वश नही है,—जैसे जीवित व्यक्ति का यह वश नही है कि वह मुर्दा बना रहे। हम मरे जिए रह सकते है, तो प्रगति नही भी कर सकते हैं। प्रगति सृष्टि का नियम है। नियम तो नही बदलेगा, उससे टक्कर लेकर चाहे तो हम अपने को तोड खुशी से लें।

इसलिए प्रगति का पहला लक्षण है, मृत्यु के प्रति निर्भयता और जीवन के प्रति मुक्ति। प्राप्त जीवन की सब तरह की पुकारो के प्रति हम खुले रहे, और मौत की तरफ हमेशा बेबाक बेफिक्र रहें—प्रगति की हम से यह पहली माग है।

ऐसे तो प्रगति का प्रश्न भी बेशक असगत होता है। जैसे अपनी ही पीठ की तरफ हम से नही चला जा सकता, वैसे ही प्रगति से उल्टी तरफ इतिहास नहीं जा सकता।

किन्तु फिर भी प्रगति का प्रश्न सगत और अनिवार्य क्यो बनता है? इस कारण कि इस मानव प्राणी से अपनी बुद्धि सभाले नही सभलती और वह बुद्धिमान के ही विरुद्ध बगावत ठानती है। तिस पर हम जानते है कि मनुष्यता एक नही है, वह असख्य व्यक्तियों में बँटी है। हर व्यक्ति अपने में एक है। उसके बुद्धि अलग है, हृदय अलग। हृदय से वह 'पर' को प्रेम करता है, या द्वेष भी कर लेता है, (क्योंकि द्वेष विकृत प्रेम है) और बुद्धि से उस पर को समझता है, समझाता है, तर्क करता है। जब तक व्यक्ति है, तब तक विवेक है, और तब तक प्रश्न है। भविष्य अज्ञेय है, लेकिन हम वर्तमान में समाप्त नही है। हमारे स्वप्न, हमारी कल्पना, हमारी बुद्धि उस भविष्य के गर्भ में पैठने को बढती ही है। इसी से विकल्प खडे होते है, और इसीलिए मनुष्य को अपने

विकास मे सकल्प की आवश्यकता होती है । सकल्प वह है जो विकल्पो की अनेकता मे एकता का स्थापन करे ।

इसी सकल्प के बल से बली बना व्यक्ति भविष्य की प्रतीक्षा ही नही करता वरन् उस भविष्य का निर्माण भी करता है । भविष्य असदिग्ध रूप मे अज्ञेय है, पर वह अज्ञेय भविष्य भी ऐसे सकल्प के धनी पुरुष के कुछ-कुछ मुट्ठी मे आ रहता है । मुट्ठी में वह इसीलिए आ रहता है कि वह पुरुष जबकि भविष्य के सम्बन्ध में बिलकुल निराग्रही दीखता है, तब वह अपने ही विकल्पो का स्वामी भी है । वह स्रष्टा है, वह निस्सशय और निस्वार्थ है । अत· वह क्रमश अपने साथ सबका भी स्वामी बनने की ओर बढता है । वह मृत्यु को भी जीतता है ।

इसे प्रगतिशीलता का दूसरा लक्षण मान लेना चाहिए ।

अब यहा उस बौद्धिक विवेक की बात करे जो बुद्धि की तुला पर तत्त्वो को तोलता है और तब हेयोपादेय स्थिर करता है ।

उस की बात करते हुए हमें ऐतिहासिक बुद्धि (=Historical Sense) से काम लेना चाहिए।

जैसा ऊपर कहा गया है, हम आज में ही नही रहते । कल भी थे और अगले कल को भी शायद हम देखें। इन अगले-पिछले दोनो कल और आज के आज को हम तीन टुकडो में बँटा हुआ देख सकते है । देख सकते क्या, देखते ही है । हम सभ्य हैं, घर में घडी है और हम मानते है कि रात को जब बारह बजे थे तभी कल खत्म हो गया था, और फिर रात को जब उसी घडी में बारह बजेंगे तब आज खत्म हो जायगा और कल शुरू हो जायगा ।

इन दोनो कल और तीसरे इस आज की—इन तीनो की तीन सत्ताओ को अस्वीकार करने की हमारी प्रवृत्ति नही है, वह जरूरी भी नही है । लेकिन मै आपसे कल्पना करने को कहता हूँ कि मान लीजिए

हमारे पास घडी नही है, शनि, रवि, सोम आदि वारो की भी धारणा हमारे पास नही है, मान लीजिए कि समय-विभक्ति की कुछ भी आवश्यकता हम मे नही रही है—तब क्या ये तीनो दिन हम को आपस में ऐसे लडी में पिरोए बिल्कुल जुडे-से अभिन्न नही मालूम होगे कि वे अविभाज्य रूप मे एक ही हो ? और सच, वे बीच मे कटे हुए कहाँ है ? इसी से मै कहता हूँ कि काल एक है ।

और सोचिए, दिन भी क्या है ? २४ × ६० × ६० सेकेण्डो का जोड ही नही है ? लेकिन क्या सिर्फ जोड ही है ? क्या सब सेकण्ड अलग-अलग है और दिन उनका ढेर ? ऐसा नही है । दिन की एक स्वतन्त्र सत्ता है । सेकण्ड उसके २४ × ६० × ६०वे खण्ड की कल्पना-सज्ञा मात्र है । इसी भाति तीनो दिनो की भी एक अखण्ड सत्ता है; शनि, रवि, सोम तो उसी एक के तिहाई-तिहाई कल्पित अगो के नाम करण मात्र है ।

ऊपर के कथन से एक बात स्पष्ट होती है । वह यह कि तमाम गति में एक सगति है । जो तत्त्व आज और कल के बीच फासले की अपेक्षा गति है वही उन दोनो में मध्यवर्ती एकता की अपेक्षा सगति है ।

अतीत का हमारे पास नही हिसाब, भविष्य का नही ज्ञान, और वर्तमान तो छन-छन रंग बदल ही रहा है । फिर भी हम एक ही बार जान ले कि उन सब मे एक अखण्डता है, एक सगति है ।

भूत वर्तमान से विभिन्न नही है और वह भूत भविष्य के भी विरुद्ध नही है । इन दोनो में परस्पर विरोध देखकर चलना ऐतिहासिक विवेक-शीलता (= Historical Sense) के विरुद्ध है ।

पक्षो के सतुलन के समय यह बात भूलनी नही चाहिए कि अतीत के आधार पर वर्तमान को समझना ही जिस भाति बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता है, उसी भाति वर्तमान की स्वीकृति के आधार पर भविष्य की

निर्माण-धारणा बनाना वास्तविक रचना-कौशल है। प्रगति निर्माण मे है। प्रगति भूत के ऐसे अवगाहन और भविष्य के ऐसे आवाहन मे है जिसमे उनका वर्तमान के साथ ऐक्य पुष्ट हो। प्रगतिशील वह है जो निर्माता है और निर्माता वह है जिसके मन मे उस ऐक्य की स्वीकृति है। काल के प्रवाह मे जो सगति नही देखता, जो उस प्रवाह के तल पर उठती हुई लहरो के सघर्ष मे खो जाता है, जो उस सघर्ष को धारण करने वाली अनवच्छिन्न एकता को नही चाहता, वह किस भाति निर्माता होगा ? निर्माता नही तो वह प्रगतिशील भी कहाँ हुआ ?

गति अनिवार्य है। उसके भीतर संगति अनिवार्य है। प्रगति सगति के अनुकूल ही हो सकती है। उसमे प्रतिकूलता टिक नही सकती। जैसे बहती हुई धारा के वेग मे से उछल कर कुछ पानी के कण मौज से किसी भी दिशा मे उडते रह सकते है, वैसे ही इतिहास की गणना में न आने वाली कुछ बूँद बहक कर इधर-उधर जा सकती है। पर, इतिहास की धारा का प्रवाह तो एक है और एक ही ओर है, और वह 'ओर' स्वय इतिहास मे से स्पष्ट है। प्रगति उसी ओर सहयोगिनी होती है।

गति का शिकार होना प्रगति नही है। ठीक यही वस्तु है (गति का यह शिकार होना) जो प्रगति से प्रतिकूल है। समय के गम्भीर प्रवाह के ऊपर फैशनेबिल आधुनिकताओ की लहरें भी चलती है। आज उनका नाम यह वाद है तो कल वह वाद हो जाता है। किन्तु प्रगति के शरीर पर वाद वैसे ही हो सकते है, जैसे मानव-शरीर पर लोम। पर जैसे उन लोमो मे मानव नही है वैसे ही 'वादो' में प्रगति नही है। प्रगति कभी उन वादों तक सिहर कर, कभी उनके बावजूद, और अधिकतर उनको सहती हुई चलती है। वादो (= 'इज्मो') के बारे में वही बात याद रहे जो लेख के आरम्भ में दाँये और बांयें रहने वाले गिरोहो के बाबत कही गई है। एक इज्म है, तो दूसरा भी है। दूसरा है तो तीसरा भी है। इस भाति वह उतने ही अनगिनत हो जायँ जितने कि

आदमी, तो भी चैन हो। क्योंकि तब कोई इज्म का शिकार न होगा, सब अपने-अपने इज्मों के स्वामी होंगे। लेकिन जब तक यह नहीं होता तब तक 'इज्म' के नाम पर जितनी कट्टरताएँ हैं, सब मिथ्याभिमान है।

प्रगति में वाद की कट्टरता बह जाती है जैसे काई बह जाती है। प्रगति भीतर से आती है और बाहर को होती है। शुरू में ही उसे अपने से बाहर टटोलना और साबित करना निरर्थक है। ऐसी चेष्टा इस बात की द्योतक है कि हमारे ही दिमाग के भीतर जीवन का पानी बहते-बहते कहीं बँध गया है।

यहाँ तक आकर हम एक प्रयोजनीय क्लास-रूम का सा प्रश्न बना कर अपने से पूछें कि आखिर इधर-उधर का यह सब तो हुआ, लेकिन, लेखक महोदय, हम को मालूम तो यह करना है कि प्रगति के लिए हम क्या करें ?

•

तो मैं उस प्रयोजनार्थी विद्यार्थी से कहूँगा कि भाई, अब तुम खुद मालूम कर लो कि प्रगति के लिए क्या करो। तुम्हारे लिए जो काम प्रगति का होगा, वह काम तुम्हारे सिवाय किसी भी दूसरे के लिए उसी भाति प्रगति का नहीं हो सकेगा। तुम जो हो, और तुम जहाँ हो, वह न दूसरा है, न वहाँ दूसरा है। इस से हर एक अपना स्वधर्म देखे, अपनी बिसात देखे, अपना जी देखे। तब अपना प्रगतिशील कर्तव्य पाने में उसे अड़चन न होगी।

इस काट का कोट पहनूँ ? यह खाऊँ ? यह पढ़ूँ ? अमुक सभा का सदस्य हूँ,—क्या बना रहूँ ? पत्नी को छोड़ूँ कि माँ को, क्योंकि दोनों आपस में झगड़ती हैं ? घर छोड़ूँ कि नौकरी, क्योंकि मालिक एक बात कहता है, मन दूसरी बात कहता है ? आदि-आदि तुम्हारे प्रश्नों का जवाब यह है कि इन मामलों में जो तुम करोगे बेखटके ठीक वही करो। सब-कुछ करके तुम्हारी प्रगतिशीलता तब तक और उस अंश तक

अक्षुण्ण रहेगी जहाँ तक तुम अपने को उत्सर्ग और दूसरे को प्रेम करते हो। यह है तो सब ठीक है।

इसलिए उँगली उठाकर और गिनती गिनाकर बताना असम्भव है कि अमुक कर्म प्रगतिशील है, अमुक नही। हा, लक्षण प्रगतिशीलता की पहचान के निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

प्रगतिशील व्यक्ति

(१) मृत्यु का भय नही करता। इसलिए, उसकी आकाक्षा भी वह नही करता।

(२) वह पूरे प्राणो से जीता है। छल अथवा क्षुद्रता उसके व्यवहार में इसी कारण नही हो सकती कि उसका मन इन चीजो के लिए खाली ही नही है, वह विश्वास से और सकल्प से भरा है। अल्प-प्राण व्यक्ति ही क्षुद्र होता है।

(३) वह अपने मत पर दृढ, पर उसे प्रकट करने मे विनीत होता है और दूसरो के मत के बारे मे अत्यन्त आदरशील। वह कभी अपने को इतना सही नही मान सकता कि दूसरे को गलत कहे बिना न रहे। अपने ऊपर खर्च करने के बाद उसके पास इतनी कठोरता बचती ही नही कि दूसरो पर फेके। वह अपने प्रति निर्मम और सब के प्रति प्रार्थी होता है।

(४) विवाद उसे अप्रिय होगा क्योकि कर्म से वह छुट्टी नही चाहता। बौद्धिक विवाद कर्म के दायित्व मे बचने का बहाना है।

(५) बुजुर्गों के प्रति वह सहज श्रद्धालु होगा। घृणा से ही वह घृणा करा सकेगा।

(६) वही बोलता है, वही लिखता है जो जानता है, और वह जानता है कि मैं सब-कुछ नही जानता,—बहुत कम, बहुत ही कम मैं जानता हूँ। इसलिए वह सदा जिज्ञासु है।

(७) वह घबराता नहीं है, न गुस्सा करता है, न गाली देता है ।

(८) वह साधारण आदमी की भांति रहता है और अपने को साधारण ही गिनता है ।

लक्षण या और भी गिनाये जा सकते हैं । पर इतने भी अधिक हैं, क्योंकि अचूक हैं ।

आजकल पदार्थ को समझने की कुछ जरूरत से ज्यादा प्रिय पद्धति हो चली है पदार्थ का विभक्तीकरण । निःसन्देह बुद्धि का अस्त्र ही यह पृथक्करण है । फिर भी, जहां तक हो, संयुक्तीकरण की ओर भी हमारा ध्यान रहना चाहिए । क्योंकि पदार्थ का ज्ञान तो हमारा ही भाग है और अपने ऊपर छुरी चलाकर हम अपने को मारते हैं, भला उस भांति अपने को अधिक कहाँ समझते हैं ?

आज हवाई जहाज है, रेडियो है, तरह-तरह की मशीनें हैं । बैठे-बैठे यहीं हम को दुनिया प्राप्त हो सकती है । दस हजार मील की बात क्षण-भर में आजाती है । आदि-आदि ।

पहले एक पास के तीर्थ की यात्रा करने में बैलगाड़ी में दो महीने लग जाते थे । राह में चोर डाकू का डर अलग । जीने का कुछ भरोसा न था, तब भला राजनीति की बात तो कीजिए क्या । समाज की बात पूछिए तो गरीब के भक्षक सब थे, रक्षक अकेला विधाता था, जो उन के प्रति प्राय अक्षम ही रहता है । बस जिसके हाथ में लाठी थी उस की सेवा में लक्ष्मी भी थी, कीर्ति भी थी । वगैरह-वगैरह ।

इसलिए हमारा जमाना बढ़-चढ़कर है । यह रोशनी का जमाना है । हम ने बहुत प्रगति कर ली है ।

इस तरह की बातें गलत तो बेशक नहीं हैं, पर सच कहूँ तो मन को बहुत तृप्ति नहीं देतीं ।

ताजबीबी के रौज़े सी सुन्दर इमारत अगर आज भी नहीं है, अगर

यूनान की प्रस्तर-मूर्तियाँ आज भी आदर्श सुन्दर है, अगर उपनिषद्-ज्ञान आज के लिए भी अगाध है, अगर राम और कृष्ण, क्राइस्ट और बुद्ध, आज के लिए भी विस्मय-पुरुष है और इस समय उनसा कोई नही है, तो क्या मै इससे य सिद्ध समझ कि पिछली कई सदियाँ केवल व्यर्थ ी गई है और बीसवी सदी में कुछ भी प्रगति नही हुई है ?

ऐसा कहना सही नही है। इस लिए पहला दावा भी इतना सही न समझा जाय कि अतीत की श्रद्धा हमें अनावश्यक ठहरे।

प्रगति क्या है ?—इसकी जितनी ज्यादा छान बीन हम करें उतनी ही कम है। लेकिन यह तो सब से पहले हम जान ले कि प्रगति अनादि-कालीन इतिहास के चरितार्थ की सगति से अविरुद्ध है। प्रगति वह गति है जो ऐतिहासिक सगति की सहयोगिनी है।

: २७ :

प्रगतिवाद

हिन्दी मे प्रगतिवाद के बारे मे आपने मेरा अभिप्राय चाहा है। पर मेरी कुछ कठिनाइयाँ है। पहले उन्हे रख दू।

लेखक हिन्दी का मै किसी चुनाव के कारण नही हूँ। हिन्दी को मैंने अध्ययनपूर्वक नही अपनाया। इसलिए हिन्दी-भाषा अथवा हिन्दी-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व मुझ से नही हो सकता। प्रगतिवाद जो हिन्दी में है लगभग वही हिन्दुस्तान की कुछ दूसरी भाषाओ में है, वह वाद एक ही साथ कई भाषाओ के क्षेत्र में चलता हुआ दीखता है। हिन्दी मे आकर और भाषाओं की अपेक्षा उसमें कुछ विशिष्टता आ गयी हो, ऐसा नही लगता।

दूसरी कठिनाई यह कि 'वाद' लगने के बाद शब्द का बहुधा सीधा अर्थ नही रहता। प्रगति शब्द तो साफ है। पर प्रगतिवाद वस्तु उतनी साफ नही रह जाती। साथ वाद के लग जाने से प्रगति शब्द एक विशेष (वादवादी) वर्ग का स्वत्व सरीखा हो जाता है।

तीसरी कठिनाई मौलिक है। लेखक जीवन को सीधा ग्रहण करने को लाचार है। वाद का माध्यम उसे प्राप्त नही। यानी कि वह अमुक दल, मत और सम्प्रदाय के माध्यम मे अपने को प्रकट या सत्य को अङ्गीकृत नही करता। बल्कि काल-गत सत्य और उसके निज-गत जीवन में परस्पर सीधी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। दार्शनिक, धार्मिक या साहित्यिक मत-मतान्तर सहायक या बाधक होने के लिए उसे बीच में अनुपलब्ध रहते है। यह लेखक का दुर्भाग्य है, और यही फिर उसका सौभाग्य भी है।

इस ऊपर की बात को साफ करना होगा। लेखक और आलोचक मे क्या अन्तर है ? आलोचन-शक्ति से विहीन होकर लेखक हो ही नही सकता। उसी तरह आलोचक भी लेखक तो है ही। फिर भी अन्तर है। वह यह कि लेखक जीवन की आलोचना करता है, आलोचक उस आलोचना की आलोचना करता है।

इस बात को उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता नही होनी चाहिए। सन्त और शास्त्री मे, कवि और पण्डित मे मूल-गत भेद है। पहला अनुभव करता है, दूसरा जानता है। पहला अभिव्यक्त करता है, दूसरा प्रतिपादन करता है। पहले में स्फूर्ति है, दूसरे मे प्रयत्न है।

इस तरह किसी वाद के विवाद में पडना साहित्यिक कर्म नही, 'सेकिड-हैन्ड' कर्म है। वाद चिन्मय जीवन-तत्त्व नही, बल्कि उसके बारे मे अहकृत एव रूढ धारणा है। साहित्य सच्चिदानन्द को प्यास और खोज का प्रत्यर्पण है। बीच में आने वाली मत-मान्यताए उस प्यास को बहलाती और खोज को बहकाती है। इसलिए उन मतवादो में न उलझना ही इष्ट है।

फिर 'प्रगति' की पक्ति में मे अपने को मानू, ऐसी सुविधा मुझे नही दी गयी है। इसलिए उसका यथार्थ अर्थ तो अपने को अधिकारतः प्रगतिशाली कह सके, उसी से लेना चाहिए या उसके सघ के मत्री से लेना चाहिए। 'इस्लाम' की व्याख्या ईसाई या हिन्दू से क्या लाजएगा ! इस्लाम का अधिकारी तो मुसलमान ही है। इसलि मैं प्रगतिवाद के बारे में साधिकार-भाव से कुछ कहन का भूल नहा करूँगा।

बस अपनी कैफियत दे सकता हूँ। वह देने को कुछ है भी। लखनऊ-काग्रेस के वक्त लखनऊ मे ही एक जलसा हुआ, जहाँ प्रगतिशील-सघ की स्थापना हुई। प्रेमचन्द उसके सभापति थे। माना जा सकता है कि प्रगति के वादात्मक आन्दोलन का सूत्रपात वही से हुआ।

उसके बाद कान्फ्रेन्स हुई, दफ्तर खुला, सगठन बना, शाखाएँ जमी, और कुछ नया रग लिए हुए कहानियाँ, कविताएँ और खास तौर से आलोचना-विवेचनाएँ लिखी जाने लगी। लखनऊ-कान्फ्रेन्स मे पहले प्रेमचन्दजी कुछ इस तरह का जिक्र करते थे। उनकी बात का आशय था कि कुछ एक भाई है जो नौजवान है, कुछ करना चाहते है। वे अच्छे कुलीन, नए शिक्षित और विलायत गये है। पुरानी तरह के लोगो मे उनका मेल नही खाता है। उस अनमेल की कुछ घटनाएँ भी तब उन्होने सुनाई थी।

शायद तब उन कुछ लोगो के भीतर जो भावना के रूप में रहा हो वह अब खुले कार्य-क्रम के रूप में दीखता है। तब वह आतरिक था, अप्रकट था, अब वह आदोलन है और प्रबल है। पर फल मे वही कुछ होता है जो बीज में है। और सचमुच उस समय की भावना और इस समय की योजना मे प्रकृत भेद नही है।

प्रगतिवाद के प्रचार के विगत और ब्यौरो मे तो मै नही गया हूँ, पर उन लोगो के साथ का लाभ मुझे काफी मिला है। मै मानता हूँ कि उनमे असन्तोष है। असन्तोष मे ही सदा प्रेरणा है। और उनके असन्तोष का खिचाव उस स्वप्न की ओर है जो रूसी-क्राति के आस-पास के रूसी साहित्य से उनके मन में झाँकी दे आया है।

इस जड की बात को जानकर प्रगतिवाद और प्रगतिवादियो के साथ समझौता और सहानुभूति आसान हो जाती है। मुझ पर छाप है कि रूसी साम्यवाद' के उत्तर या अनुकरण मे हिन्दुस्तान की राजनीति मे जो आन्दोलन चल रहा है प्रगतिवाद साहित्य के प्रति उसी का एक मोर्चा है। इसमे सहसा कोई बुराई भी नही देखी जा सकती। बल्कि यह तो आदोलको की तत्परता का प्रमाण है।

मार्क्सवाद के सहारे रूस में जो विचार-क्राति और उससे लगी हुई

राजनीतिक क्राति हुई वह अनोखी घटना थी। उसमे हम सब के लिए सबक है।

इतिहास ज्यो का त्यो अपने को दुहराता तो नही है, पर कुछ-न-कुछ सिखा जरूर जाता है। शायद इतिहास की पहली बडी सीख यही है कि उसकी पुनरावृत्ति नही हो सकती।

इस आदोलन का साहित्य के सहज प्रवाह पर निश्चय ही असर पडा है। पर राजकारण मे प्रकट होने वाले आग्रहशील आदोलनो का परिणाम सस्कृति के अर्थ मे मूल्यवान या स्थायी होता है, इसमें सन्देह है।

प्रचार, सगठन और मुखर शब्द के जोर से सत्ताएँ बिखरती और बनती दीखती हो, पर सत्य की सेवा उतनी उनसे नही होती। यानी मानव विवेक में कोई विकास नही सधता। कारण, उन आदोलनो में अपने मत का आग्रह इतना होता है कि दूसरे के मत का आदर समुचित नही रहता। आग्रह मे से आतक उपजता है और आतक विकास को उभारने के बजाय दबा ही सकता है।

मै मानता हूँ कि साहित्य का मानव जाति के प्रति यदि कुछ उपकार या दायित्व है तो यह कि वह व्यक्ति में समूह की गतानुगतिकता के विरोध में विवेक को जगाता है। बेशक उससे व्यक्तिवाद (Individualism) के बढने का खतरा है। पर इस खतरे को उठाकर भी साहित्य को राजनीति की दर्जाबदी (Regimentation) की प्रवृत्ति पर पहरा देते रहना होगा। सामूहिक द्वेष और स्पर्द्धा को उभार कर राजनीति बडा उथल-पुथल कर दिखा सकती है। पर मानव सस्कृति के प्रहरी साहित्य को उस उत्पात की भीमता के बीच भी अपनी टेक रखनी होगी। नही तो राज-कारण का सशोधन फिर हो ही न सकेगा और इस तरह एक दिन दंडधारी सम्राट् कह उठेगा कि मै ही ईश्वर हूँ।

नही, साहित्य राजनीतिक प्रयोजनो का वाहक नही होगा, प्रत्युत संशोधक रहेगा ।

प्रगतिवाद के पीछे की मूल-दृष्टि मैं मानता हूं कि कुछ दूसरी तरह की है । उसके लिए राजनीतिक प्रयोजन साध्य और सांस्कृतिक हेतु साधन है । साहित्य की वहां आवश्यकता है तो इस लिए कि राजनीति पुष्ट हो । मनुष्य वहाँ समूह के लिए है । आदि और अन्तिम लक्ष्य वहां शासन या शासन मे परिवर्तन है । व्यक्ति अपने में नही बल्कि समूह मे लय होकर सार्थक है । उस दृष्टि मे मेरा मत-भेद है, यह कहना अधिक अर्थकारी नही। पर जो कहना चाहूँगा वह यह कि यह दृष्टि असाहित्यिक है, क्योंकि विधान के पीछे होकर मानव-चित्त और मानव-हित से वह असलग्न हो जाती है ।

साहित्य की एक मर्यादा है । सब मे अपना-अपना मन है । उस सुख-दु ख अनुभव करने वाले मन को बाद देकर साहित्य का काम चल ही नहीं सकता । इसलिए वह और सब बातो को उस मनुष्य के अतस्थ चित्त की तुला पर ही तौल सकता है । स्टेट उसके लिए अपदार्थ है, यदि वह व्यक्ति-चित्त से अनपेक्षित है । स्टेट का समर्थन वहाँ अपने में नही, बल्कि मनुष्य में है ।

मै मान लूगा कि साहित्य इस तरह एकागी है, कि व्यक्ति मे ही सत्य नही, सत्य समाज में भी है । पर साहित्य की वह एकागिता राजनीति की त्रुटि-पूर्ति के लिए आवश्यक हो जाती है ।

असल में व्यक्ति को छोड कर सत्य-विचार या हितोपाय के लिये दूसरी कोई इकाई हमारे पास नही रह जाती । यही कारण है कि उस पक्की इकाई को कभी न भूलनेवाला साहित्य चिरस्थायी होता है और उस इकाई को बाद देकर चलने से राजकरण क्षण-स्थिर भी नहीं रहता ।

भेद के उस स्रोत से चलने पर आगे भी कुछ इसी तरह के विषम परिणाम प्राप्त होते है। मसलन प्रगतिवाद सघर्ष की भाषा अपनाता है। विग्रह मे से उसे गति चाहिए। विग्रह के बोध मे से असन्तोष और क्रोध को जन्म मिलेगा, उसमें से कर्म-सकल्प और कर्म-तत्परता जागेगी। प्रगतिवादी लेखक कुछ इसी पद्धति पर चलता है।

उस विग्रह को तीक्ष्णतर बनाने की चाह मे लेखन के टेकनिक ने भी तदनुरूप रूप पकडा है। कुछ चित्र होते है, जहाँ रगो के वैपरीत्य से भाव को मूर्त किया जाता है। रग वहाँ तेज होते है और एक दूसरे से झगडते जान पडते है। इस टैकनिक से निस्सदेह भावोदय कुछ सुगम होता है, और यदि प्रभाव ही उसकी सार्थकता समझी जाय, तो यह पद्धति सफल है। पर साहित्य प्रभावक होकर ही चरितार्थ नही होता। वह प्रभाव इष्ट दिशा में भी होना चाहिए। इष्ट से तात्पर्य कि सामजस्य की दिशा मे होना चाहिए। नही तो तीर-तलवार के अलावा कलम की जरूरत ही क्या थी ?

ऊपर जिस विग्रह की बात कही, वह समाज के भीतर वाला श्रेणी-विग्रह है। क्योकि मन के भीतर के उससे कही मौलिक विग्रह को पकड पाना और उसे अकित कर सकना तो कला की सिद्धि ही है। वह हर किसी के अन्दर चल रहा देव और दानव का विग्रह है; वह जड-चेतन, भोग-योग, सत्-असत् का द्वन्द्व है।

प्रगतिवाद, किन्तु, उस गहरे द्वैत तक न जाकर गति और ऐक्य के लिए बाहर समाज में स्तर-विग्रह खोजकर उसे गहरा करने मे लगता है। इसके समर्थन के लिए उसके पास मार्क्स-दर्शन है।

समाजवादी और साम्यवादी साहित्य न कम है, न कम पढा गया है, कि उस बात को यहाँ दुहराने की आवश्यकता हो। समाज में निम्न श्रेणी है और उच्च श्रेणी है। उच्च में आलसी और

विलासी पूजीपति है, निम्न मे मेहनती और बेबस जन है। वे मुट्ठीभर हैं, ये करोडो हैं। वे प्रभु हैं, ये चाकर हैं। कोई वजह नही कि उनमे शत्रुता न हो। सद्भाव की उनमें बात करना पूजी की प्रभुता का अस्त्र बनना है, यह अप्राकृतिक है, झूठ है। इसमे उन श्रेणियो में जो अनिवार्य वैषम्य है, यदि वह सोया है तो उसे सुलगाना होगा सुलगा है तो चेता कर उसे लपटो में भडका देना होगा। इसी में मे ऐक्य और साम्य प्रकटेगा।

ऊपर की बात विग्रह-भाषी प्रगतिवादी की बात है। कहते है, वह तर्क-सिद्ध है। शायद है। और तर्क ही वह था, हथियार जिस से मार्क्स ने और वादो को काटा और अपने को फैलाया। तर्क से उस तर्कवाद को काटने चलने की जरूरत नही है। पर तलवार हवा में चलकर हार जायगी और तर्क भी बिना निरोध के कुछ दूर चक्कर में चलकर आप थक कर सो रहेगा। इसी से साहित्य किसी को विरोध नही देता और सब वाद उसकी गोद मे अपनी-अपनी जगह विश्राम पाते है। मार्क्स की साधारणतया अच्छे साहित्यिको में गिनती होती रहेगी।

प्रगतिवाद की मूल मान्यता के अनुकूल धरती से चिपटी झोपडी और आसमान से गुर्राती पडोस की हवेली का, झोपडी की निपट हीनता और महल की अतिशयता का, एक की भूख और दूसरे के विलास का, परस्पर वैपरीत्य दिखाने से साहित्यिक प्रभाव का काम निकल जाता है। कभी-कभी वह विरोध इतना तीखा दरसाया जाता है कि शका होती है कि कही झोपडी और महल के बसने वालो को अदल-बदल कर देने भर की तबीयत तो लेखक की नहीं है। वैसी तबीयत मे विषमता का समाधान मैं नही मानता। यह समाधान इतना सीधा है कि उस सीधेपन से ही जाना जा सकता है कि वह समाधान नही है।

सामाजिक सम्बन्धो के विषय में फिर प्रगतिवाद की तदनुरूप कल्पना है। यानी दो के बाच का प्रेम ही सच है,उस पर कोई अतिरिक्त मर्यादा

झूठ है। इस मत को विवाह, परिवार या दूसरे सब सम्बन्धो मे वह अमल मे ले आना चाहता है।

प्रगतिवादी साहित्य मे समाज-विधान का तिरस्कार है और स्वच्छन्द प्रेम का सत्कार। जो मर्यादा मे बधे वह प्रेम कैसा ? हार्दिकता के अभाव मे दो व्यक्तियो की सयुक्तता ढकोसला हो जाती है और दभ को जन्म देती है। विवाह से परिवार बनता है, और वे दोनो पूजीवादी समाज के लक्षण है। वय आदि की अनुकूलता हो तो मिलन के लिए विवाह की बाधा क्यो ? अभिभावको या हितैषियो की राय वे ले, चाहे न ले। विवाह हो ही तो विवाहित होने वालो के अतिरिक्त किसी दूसरे का काम उसमे क्या ? वे दो जब चाहे अलग हो जायें। व्यवस्था की सुविधा के लिए स्टेट है ही। सन्तति के लिए विवाह नही, बल्कि सम्पूर्णता के लिए है। इससे सन्तति निग्रह के कृत्रिम उपायो द्वारा अपनी भोग-शक्ति कायम रखना उचित है। मर्यादाओ के बन्धन से कृत्रिम शील और लज्जा आदि बुराइयो को जन्म मिला है, जिन्हे भलाई समझा जाता है। दृष्टिकोण वैज्ञानिक चाहिए, जिससे हम जीवन को खुले देख सकें और दिखा सके। अश्लीलता विवाह-सस्था के कारण उत्पन्न हुई है और विवाह-सस्था सपत्ति वाले वर्ग का आडम्बर है। यौवन और सामर्थ्य और आकाक्षा रहते दो व्यक्तियो का परस्पर पूर्ति के निमित्त मिलन सर्वथा उचित और उपादेय है। और इस बारे में झूठी लज्जा नही बल्कि खुले आनन्द और गर्व का भाव होना चाहिए, इत्यादि।

ये उस मूल दृष्टि से प्राप्त होने वाले परिणाम है और तद्रूप प्रचार और प्रवाह के फल-स्वरूप जो रचनाएँ आ रही है, उनमें असली शकल में देखे जा सकते है।

इसी स्थल पर गहरा बुद्धि-भेद भी आज दिखाई देता है। एक के लिए जो लेख अश्लील और अनिष्टकर है, दूसरा उसे कर्तव्य रूप मानता है। वह उस पर आँख झुकाना तो दरकिनार तर्क की ललकार तक देने

को तयार है । इस परिस्थिति से प्रश्न कुछ पेचीदा हो जाता है । और मैं मानता हूँ कि आपकी (वीणा-सम्पादक की) यही कठिनाई है ।

जो आज है, मैं उसका इतना व्यर्थ नहीं मान पाता । मैं मानता हूँ कि अतीत की तमाम साधना के फल-स्वरूप आज का वर्तमान हमें प्राप्त हुआ है । भविष्य के निर्माण की आकाक्षा में क्या उस पर लात मारी जा सकती है ? सच यह है कि जो किसी न किसी तरह वर्तमान को स्वीकार नहीं कर लेता वह भविष्य का निर्माता नहीं हो सकता । निर्माण-शक्ति आक्रोश से उत्तर शक्ति है । मुझे लगता है कि आक्रोश को जमा कर सिरजन-शक्ति बनने देने के धीरज का लक्षण प्रगतिवादी रचनाओं में जितना है उससे अधिक की ही साहित्य में माग है ।

मेरी प्रतीति है कि वाद पर अधिक जोर देकर प्रगति को कमज़ोर ही बनाया जा सकता है । पर प्रगति के नाम पर का ज़ोर इधर उसके वाद पर ही पड रहा है । उससे गति हो नहीं सकती । प्रगति वादोत्पन्न व्यर्थता को परे हटा कर ही हो सकती है । पर किसी एक वाद को दोष देना भी कठिन है । वह दूसरे किसी वाद की प्रतिक्रिया में ही जन्म लेता है । तभी तो कहना होता है कि वाद विवाद में बनता और विवाद को बनाता है । हिन्दी में छायावाद जैसी चीज भला कब तक चलती ? इसलिए इस नये प्रगतिवाद ने जन्म लिया । यह प्रतिक्रिया हमारे आँखों देखते हुई है उसमें दलील को जगह नहीं है । माना कि नवोदित ने वयप्राप्त से कहा कि तुम जाने किस अशरीरी भूत के पीछे पडे हो कि यही पता नहीं कि वह कुछ है भी कि नहीं । देखो कि हम ऐसे यथार्थ को लेंगे जिसमें और चाहे कुछ न हो पर जिसकी मांसलता ही आँख वाले को तडपा दे । तुम अपार्थिव को चाहो और मरो, हम एक दम पार्थिव को लेकर जियेंगे । तुम सूक्ष्म के नाम पर शून्य की ओर उडो, हम समूचे-के-समूचे स्थूल को भोगेंगे । असल में तुम जीवन की न्यूनता के कारण, लोक के भय से, अपनी वासना को आध्यात्मिक आराधना बना लेने

का दम भर कर अपने और सबके साथ छल करते हो। हम सच होकर कहेंगे कि यह है हमारी रंगीन वासना, वह नहीं है क्षीण-प्राण कि अवगुंठन की प्रार्थिनी हो। वह पीन-पुष्ट है, इससे अनावृत दिखने में भयभीत नहीं है।

स्पष्ट है कि यह परवर्ती वाद पूर्ववर्ती का प्रतिवादी पर्य्याय ही है। छायावाद ने प्रगतिवाद को जनमाया है। छायावाद में स्वस्थ, बलिष्ठ, तेजस्वी अध्यात्म न था। उसमें पुरातन की अनुकृति थी, सनातन की अनुभूति न थी। इससे पश्चिम में उदित होकर चारों ओर अपनी विजय का प्रसार करती हुई जो भौतिकता आई, जर्जर अध्यात्म के विडंबित आडम्बर में ही उसे सहज स्थान मिल गया। प्रगतिवाद वही है। पर वह अस्थायी चीज है। स्थायी उसका यही फल है कि छायावाद व्यतीत हुआ। यों अपने में उसमें स्वयं जीवनदायी कोई स्थिर तत्व नहीं है।

: २८ :

प्रगति : सच्चा या शाब्दिक ?

प्रगति पर लिखने के आपके निमन्त्रण को टालने योग्य मैं नही रह गया हूँ। उस पर मैंने पहले भी लिखा है। प्रगतिवादियों में मैं अपने कुछ मित्रों को गिन सकता हूँ। उनके साथ चर्चा में यह बात उठी कि उस सम्बन्ध मे मैं जो सोचता हूँ उसे एक लेख में लिख दूँ। तब 'हंस' मे कुछ लिखा भी था।

पर मेरी असमर्थताएँ है। शब्दों का शास्त्रीय अर्थ मुझे प्राप्त नही। यह भी देखता हूँ कि शब्दों का शास्त्रीय अर्थ असल अर्थ नही होता। व्यवहार मे उनसे कुछ और ही बोध होता और भिन्न ही अभिप्राय लिया जाता है।

प्रगति शब्द को उसके शब्दार्थ मे शायद अब हम नही ले सकते। सीधा-सादा अर्थ है उसका आगे बढना। लेकिन वह अब एक विशिष्ट वर्ग के लिए विशेष अर्थवाची हो गया है। इसलिए उस शब्द के साथ व्यवहार करने मे कठिनाई बढ गयी है।

प्रगतिशील, पुरोगामी आदि शब्द साहित्य के मामले मे इधर बहुतायत म उपयोग म लाये जाते दीखते ह। उनके तले सङ्घ, समितियाँ आदि भी बन गयी है। तब सच पूछा जाय तो 'प्रगति' शब्द का विशिष्ट अर्थ प्रगतिशील सङ्घ के पदाधिकारियों से प्राप्त करना चाहिए। अन्यथा किसी दूसरे के अभिप्राय को प्रामाणिक मानने से इन्कार किया जा सकेगा।

आगे बढने का सीधा-सादा मतलब अगर प्रगति शब्द से लिया जाय तो मै मानता हूँ कि अपने प्रति ईमानदार लेखक प्रगतिशील है। सहज

सन्तुष्ट प्राणी वह लेखक नही होता। उसमे असन्तोष है, स्वप्न है। जहा है वहाँ से वह आगे पहुँचना चाहता है। इसी प्रेरणा से वह लिखता है।

यों प्रगति शब्द अत्यन्त प्राचीन साहित्य मे से भी शायद प्राप्त हो सकता है। पर प्रगतिवाद वाली प्रगति हाल की जनमी है। एक दशाब्दी आयु उसकी पूरी हो गयी है, इसमे भी शक है। 'प्रगति' शब्द अनुवाद है। मूल शब्द प्रॉग्रेसिविज्म है। हिन्दुस्तान मे और खास तौर से हिन्दी-उर्दू मे जिस एक वर्ग के प्रयत्नो से प्रॉग्रेसिविज्म शब्द हमारे साहित्य में बहुत उभार में आया उस वर्ग ने विलायत मे गठन और स्वरूप पाया था। कुछ लोग, जवान और पढे-लिखे और सम्भ्रान्त और असन्तुष्ट, विलायत मे मिले। उन्होने आपस मे सोच-विचार किया और प्रॉग्रेसिव सघ कायम किया। वे लोग हिन्दुस्तानी थे और हिन्दुस्तान मे आकर उन्होने अपने विदेशी विश्वास के अनुसार काम किया और धीमे-धीमे यह शब्द हमारे बीच मे भी उभर कर आ गया।

सच यह है कि मै अब तक समझना चाहता हूं कि 'वाद' वाली वह प्रगति क्या है? यानी ठीक-ठीक वे लोग क्या मानते है और क्या चाहते है। समय-समय पर उन लोगो से मै मिला हूं। उनका लिखा हुआ पढा है और जब अवसर आता है उनकी व्याख्या को गौर से सुनता और समझने की कोशिश करता हूँ। मुझे सान्त्वना नही है कि उनकी बातो को मैं हृदय मे ले सका हूँ।

यहाँ की राजनीति मे एक विचारधारा दीखने में आती है। वह वर्ग विग्रह चाहती है और एक वर्ग के हाथो दूसरे वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति की आशा रखती है। वह सघर्ष की परिभाषा मे उन्नति को देखती है। नैतिकता अथवा हिंसा-अहिंसा आदि प्रश्न उसे उतने सगत नही मालूम होते। वह उन प्रश्नो को स्वयं भ्रान्त मनस्थिति का द्योतक समझती है। उसका मानना है कि आज के समाज की रचना ठीक नही है। वह शोषण पर अवलम्बित है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के हितो को निगल कर

फला हुआ है। इसी से दूसरा वर्ग शोषित है, भूखा है, गुलाम और मुर्दार है। उस अन्याय और हिंसा पर खड़ी हुई समाज की स्थिति को ठीक करने के लिए हिंसा से डरना नहीं होगा। अहिंसा की आवाज वह उठाते हैं जो हिंसा के फलों को अपने हाथ से छोड़ना नहीं चाहते। अहिंसा सम्पन्न की नीति है, दरिद्र उसमें पड़कर और चौपट ही होगा। जरूरी है कि शोषित वर्ग में स्वाभिमान जागे, अपने अधिकारों की चेतना पैदा हो और उनमें शोषक के विरुद्ध प्रतिकार की भावना जगायी जावे। यह प्रतिकार की भावना उनका बल होगा। अन्यथा वे दलित ही बने रहेंगे और मानवता पर कलंक रूप होंगे। अगर मानव-समाज को कभी एकता और सुख-चैन तक पहुँचना है तो शोषक वर्ग को समाप्त करना होगा। वह समाप्ति शोषित और शोषकों का युद्ध चाहती है। उस युद्ध में दो ही दल होंगे। कोई या तो इधर होगा, नहीं तो उधर। एक पूँजी का दल है, दूसरी ओर श्रमिक का दल।

इस राजनैतिक विचारधारा के अनुकूल साहित्य के क्षेत्र में भी एक चेतना जगी। वह साहित्य की चरितार्थता इसी में मानती है कि शोषितों को, पीड़ितों और दलितों को, शासक, पीड़क और अन्यायी के विरुद्ध उभारा जाय। जो यह काम करता है वही साहित्य ठीक है। जो इस काम से बचता है वह उतना ही प्रतिगामी और प्रतिक्रियात्मक है। अर्थात् नीच समझे जानेवाले वर्ग में ऊँचे समझे जाने वाले वर्ग के प्रति जो तीव्र उत्तेजना भरता है वही साहित्य प्रगतिशील है। क्योंकि इन ऊँच और नीच वर्गों के संघर्ष में से ही उन्नति और प्रगति का मार्ग प्रशस्त होना है। इसलिए जो निम्न वर्ग की ओर से उस होती रहने या होने वाली लड़ाई को तीखी बनाता है, उसी को उन्नति और प्रगति का साधक समझना चाहिए और जो उस लड़ाई की सम्भावना को धीमी करता है, जो सद्भावना की और इधर-उधर की बातें करता है, वह बरगलाने और बहकाने वाला साहित्य है।

शायद ऊपर के शब्दो मे मै प्रगतिवाद के दृष्टिकोण को गलत नही रख रहा हूँ।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मेरा वह दृष्टिकोण नही है। मै अपने से लाचार हूँ। मै ऊपर कहे गये दृष्टिकोण को सही नही मानता। मै मानता हूं कि उस विचारधारा मे मन का आवेश है। अगर अन्दर की गर्मी को प्रकाश बनने दिया जाय तो उपर का विचार, मेरा विश्वास है, बदल जायगा। मेरा यह भी विश्वास है कि अगर किन्ही किताबो की मार्फत नही, बल्कि सीधे अपने अनुभव और अमल में से जीवन-सम्बन्धी हम अपने विश्वास प्राप्त करने चले तो ऊपर की भाव-धारा नही टिकेगी और हमे भौतिक से किसी अधिक स्वस्थ दर्शन का आश्रय लेना ही होगा।

मुझे सदेह है कि हमारे यहाँ साहित्य के धरातल पर चलने वाला प्रगतिवाद राजनैतिक लैफ्टिज्म का ही एक रूप है। वह मौलिक नही है। साहित्यिक नही है। उसकी जड़ें सस्कृति मे नही है। वह एक मतवाद है। अहृवाद है। वह अमुक राजनीतिक दल के प्रचार का अस्त्र है।

अभी मेरठ की साहित्य-परिषद में श्री 'अज्ञेय' के निबन्ध मे एक शब्द बहुधा सुन पडा था। वह मेरे बारे मे ही नही और बहुतो के बारे मे भी इस्तेमाल किया गया था। वह शब्द यों भी आजकल हर कही काम आता है। वह शब्द है, Escape।

एस्केप का अर्थ है, बचाव। बचाव किससे? यही प्रश्न मुख्य प्रश्न है। जहर से मै बचता हूँ, मौत से बचता हूँ। ऐसे बचने को मै इष्ट मानता हूँ। विवेक मे यदि कुछ अर्थ है तो यही अर्थ है कि किसी से बचना मनुष्य को सीखना होगा। दिन के काम से बचकर रात मे हम नीद लेते है। रात के प्रमाद से बच कर दिन मे काम करते है। ऐसे

दिन का काम और रात का आराम परस्पर-विरोधी न होकर समर्थक हो जाते है। बचाव की परिभाषा मे जीवन के कर्ममात्र को समझा और रक्खा जा सकता है। वैसे 'बचाव' से बचाव चाहना कायरता है।

पर प्रगतिवादी इस 'बचाव' शब्द में अपना अर्थ भरता है। वह वर्ग-संघर्ष की परिभाषा मे जीवन की समृद्धि और प्रगति देखता और कहता है कि जो उस संघर्ष को तीव्रता नहीं देता वह जीवन से भागता और बचता है। विद्रोह-चुनाव उसके निकट जीवन का लक्षण हो जाता है। वह शब्दो की गरमी और आवेश के तापमान से साहित्य की सार्थकता की गहराई नापता है। मुझे इसमे सन्देह है कि यह नाप ठीक है अथवा कि 'बचाव' शब्द का वह प्रयोग (मनो) वैज्ञानिक है।

अभी एक और लेख मे पढा कि जो मै राम-नाम की बात करता हूँ वह अन्ध श्रद्धा का बढाना है और क्रान्ति के बारे में जो मैने लिखा वह घोर प्रतिगामिता है।

अगर प्रगति को प्रगतिवादियो की परिभाषा मे ही स्वीकार किया जाय तो मै अपना कसूर मानता हूँ। लेकिन मै मानता हूँ कि प्रगति उस के वादियो की परिभाषा मे बँधी नही है। ठीक जैसे कि अहिंसा की गति नामधारी गाधीवादियो की व्याख्याओं मे बन्द नही है। और अगर यह ठीक है कि प्रगति सचमुच प्रगतिवादियो के ही वास्ते नही है तो मै अपने इस हार्दिक विश्वास को प्रकट करना चाहता हूँ कि न राम नाम की श्रद्धा वृद्धि को कुठित करने वाली है और न क्रान्ति शब्द के प्रति निर्मोह किसी तरह की प्रतिक्रिया है। बल्कि वे दोनो उससे कही स्वस्थ वस्तुएँ है और सच्ची प्रगति मे सहायक है।

साहित्य को प्रचलित 'प्रगति' और 'प्रतिक्रिया' के पलडो में रख कर तोलना एकदम गलत है। क्योकि वे शब्द राजनीतिक धरातल से नीचे हृदय के धरातल की सच्चाई को तनिक भी नही छू पाते है। साहित्य का रस उस गहराई पर है जहाँ हमारे अहकृत मतवाद उतर कर पहुँच

नही सकते है और उतरते-उतरते भी जहाँ उनका आग्रह और वैषम्य और विरोध घुल कर लुप्त हो रहता है। साम्प्रदायिक मत-पन्थ का भेद जैसे कि साहित्य मे नही टिक पाता, वैसे ही राजनैतिक मतवाद का दुराग्रह भी साहित्य मे शून्य हो रहता है। मै यह मानता हूँ कि मजदूरो और किसानो की हालत पर हा-हा कर के रोने वाली रचना बडी आसानी से प्रतिक्रियाशील हो सकती है और राजैश्वर्य मे विरक्त भाव से पलते हुए बुद्ध की गाथा प्रगति को धन्य कर सकती है। गरीब-अमीर का भेद हम अल्प प्राणो ने अपने बीच पैदा किया है। हम उस भेद मे मर रहे है और पिस रहे है। अमीर, अमीर बन कर गरूर मे मानवता से च्युत होता है और गरीब, अपनी गरीबी मे सकुच कर पालतू कुत्ते की तरह बरतता दीखता है। इसलिए बेशक अमीरी-गरीबी छोटी चीज नही है। वह आज के दिन हमारी मानवता पर अभिशाप की तरह से छाई हुई है। लेकिन साहित्य मे भी जिस रोज यह अमीरी-गरीबी घुस जायगी, यानी जिस रोज हम साहित्य की अधिकृत आलोचना इस तुला पर होते हुए पाएँगे कि यह अमीर का साहित्य है और यह गरीब का साहित्य है, उस दिन को मै धन्य नही मान सकूँगा। प्रगतिवादियो का प्रगतिवाद शायद उस दिन को लाना चाहता है। लेकिन साहित्य यदि समर्थ होगा तो वह दिन कभी न आ पायगा।

वाद वाली 'प्रगति'

(१) भविष्य को अतीत के विकास से अधिक उसके इन्कार के रूप में देखती है।

(२) वह वर्ग-विग्रह को बढा कर वर्ग-हीनता लाने के मिथ्यावाद और भ्रम को पोषण देती है।

(३) सचराचर प्रकृति के साथ सामञ्जस्य नही बल्कि सघर्ष बढाने की परिभाषा में वह मनुष्य की उन्नति की कल्पना करती है।

(४) वह कोरी राजनैतिक है, उसकी जडे सस्कृति मे नहीं। अर्थात् वह मानव-प्रकृति के विकास मे मदद करने के बजाय समाज के ढाँचे में परिवर्तन लाने को अपना लक्ष्य मान उसमे अटक रहती है।

(५) उसमे मनुष्य के लिए अपनी वासनाओ के नियम और सयम का धर्म स्पष्ट स्वीकृत नही है।

इन कारणो से मै नही जानता कि अपने को उस प्रगति का वादी मानने की इच्छा कर सकता हूँ।

: २६ :

कला-नियंत्रण

उस दिन खुली सभा मे एक बुजुर्ग ने कहा कि कला पर नियंत्रण चाहिए। कला अच्छी चीज़ है, पर नियत्रण के अभाव में वह जहरीली हो सकती है।

मै बुजुर्ग की बात सुनता रह गया। सभा ने बात पसद की। आपत्ति के लिए मेरे पास भी क्या था। पर सीधे वह बात भीतर उतरी नही। अनियत्रित तो कुछ नही चाहिए। चलिए, नियत्रण कला पर होगा। पर वह होगा किस ओर से ? यानी नियत्रित कला होगी, नियत्रक कौन होगा ? सभा से आने के बाद भी यह प्रश्न मुझसे सुलझा नही है। इससे उस उलझन को यहाँ ले बैठा हूँ।

एक होता है आत्मनियत्रण। वह तो कला मे होता ही है। नही हो, या कम हो, तो कला-हीनता या कला की न्यूनता होती है। पर वह वस्तु गर्भित है। चर्चा है तो किसी दूसरे ही नियत्रण की हो सकती है।

वैसे नियत्रण बहुत-से है। खाने-पीने की चीजो पर नियत्रण है, कपडे पर, कागज पर, और तरह-तरह के करने-धरने पर नियत्रण है। नतीजा कि ये चीजें खुली खरीदी-बेची नही जा सकती, न ली-दी जा सकती है। इसी तरह मनमाना वर्तन नही किया जा सकता। चोरी कर सकते है, लेकिन कानून के फदे के लिए तैयार रहिए। ये नियत्रण कानून की तरफ से आते है। और सरकार के हाथ कानून रहता है। इस तरह नियत्रण के साथ ही मन में सरकार आ जाती है। नही तो नियत्रण समझ में नही आता कि कौन तय करे और कौन पलवाए ?

यानी कला का नियत्रण हो, इसका अर्थ हुआ कि उस पर आयद

होने के लिए सरकार की ओर से नियम-कानून बनाए जायँ । ऐसे सुनियंत्रित होकर कला हानि नही पहुँचा सकेगी, लाभ-ही-लाभ कर पायेगी।

बात तो ठीक मालूम होती है। पर सरकार, दु ख है, ईश्वर नही है। ईश्वर निराकार रहता है, वह बदलता नही, चुना नही जाता, मरता नही। होता है तो ऐसे कि कह दो नही भी है। सरकार के साथ ये अभव्य स्थिति नही है । मालूम होता है उस पर काल का बस है, हमारा-तुम्हारा भी उस पर कुछ बस है। सरकार कई है, बनती-गिरती है, और अदलती-बदलती है। सरकार अन्तिम वस्तु नही है कि मान लिया जाय कि सब कल्याण उससे है या सब अनिष्ट। वह अच्छी बुरी चीज है, जैसे कि आदमी की सब चीजें होती है। ईश्वर के साथ सुविधा है कि कोई उसे इन्कार करे, तो उसका कुछ न बिगडे । ईश्वर सीधे उसका कुछ नही बिगाड सकता। ईश्वर का कुछ कानून हो तो वह लिखा-छपा नही होता और खुद अपने अन्दर मे उसे पाना होता है। बाहर कही उसकी सत्ता नही है। इसीलिए अगर तुम करते हो तो सजा भी अपने को तुम ही देते हो। यह सब मर्यादाए सरकार के साथ नही हो पाती। इससे सरकार का नियत्रण आत्म-नियत्रण नही होता, वह चौकस और पक्के बन्दोबस्त का होता है। ईश्वर के पास यह अवसर ही नही कि आत्म-नियत्रण मे दूसरा साधन अपना सके। वहाँ जो चोर है वही अपना चौकीदार है। अलग से चौकीदार रखने को वह लाए कहाँ से और तनख्वाह कहाँ से दे ? सरकार के पास यह ताकत है। जिसको पैसो देकर सरकार चौकीदार बनाती है और थानेदार बनाती है, और जज और जेलर बनाती है, वे वही हो सकते है। जेलर अपने जेल का कैदी नही है, न्यायाधीश अपने न्याय की कुर्सी पर इतना है कि कटघरे मे नही है। इसी तरह थानेदार और चौकीदार भुगताने वाले है, भुगतने वाले नही। सरकार के कानून में पालनेवाला एक होता है,

पलवाने वाला दूसरा होता है। पलवाने वालो की सरकार होती है, पालने वालो मे प्रजा बनती है। वह कानून सरकारी नही जिसमे यह दो वर्ग नही। नियत्रण डालने वाले पर वह नियत्रण स्वय नही आता। राजा राज पर' रहता है, राज 'मे' रहने वाली प्रजा कहलाती है।

नियत्रण मे यदि कुछ अर्थ है तो यह बाहरी अर्थ ही है। जो अकुश रूप न हो वह नियत्रण क्या ? इस तरह बुजुर्ग के कहने का मतलब एक ही हो सकता है, यानी कि कला पर शासन की ओर से नियत्रण चाहिए। उस कथन मे असत्यता है भी नही। शासन नियत्रण ही न करे तो करे क्या ? नियत्रण के सिवा शासन को कुछ काम नही। उस शब्द में ही दूसरा कुछ अर्थ नही। शासन जिसका काम है वह एक वही कर सकता है। दूसरा कोई काम का काम वह करे कैसे ? और शासन का काम अभेदभाव से होगा। अपराध पर होगा, कला पर होगा। दुष्ट पर होगा और साधु पर होगा। कारण, शासन शासन है। उसका काम देखना नही है, करना है। हृदय उसे बाधा है और हाथो पर उसे बस है। उसको अपने प्रति तत्पर रहना है। यानी शासन को अपने मे बराबर शासन का चेत और मद बनाए रखना है। मद कम हुआ कि वह अपने दायित्व से च्युत समझा जायगा।

स्वीकार करना चाहिए कि शासन आवश्यक है। इसी से शास्ता और शासक की वृत्ति रखने वाले प्राणी जन्म लेते है। म्यान में तलवारें दो नही होती, मांद में शेर भी ऐसे ही दो नही रह सकते, न राज में दो राजा रह सकते है। शासन की इस वृत्ति का दान करने में प्रकृति कृपण नही रही है। प्रकृति, जो नाना जलचर उपजाती है और थलचर और नभचर भी, सदा की वदान्य ठहरी। परिणाम कि शासन के लिए लडने वाले राजनीतिक दलो की कही कमी नही है। और हर दल में राजकर्म और राजनेतृत्व के उमीदवारो की सख्या कम नही है। इस बिरादरी की शुमार बढती ही जा रही है। साबित है कि हम विकास

पर है, कारण शासकवृत्ति का आदमी बढती पर है और वह विकसित मानवता का नमूना है। तभी अनिवार्य है कि वह साधारण रहकर तुष्ट न हो, उसे विशिष्ट बनना ही पडता है। सिर चढे बिना उसे तृप्ति नहीं। साधारण-जन श्रम करते है, वह नियत्रण करता है।

आप क्या करते है ? ओह रचना कर रहे है। अच्छी बात है, कीजिए रचना। रचना का महत्त्व है। उपयोगी काम कर रहे है आप। लेकिन मुझसे पूछते रहिएगा। देखिए, लोक-मगल एक वस्तु है। सब तदाधीन होना चाहिए, आशय आप जानते ही है, ममाधीन। कीजिए, कीजिए, काम आप अच्छा कर रहे है। कला दिव्य तत्त्व है, पर नियत्रण याद रखिएगा।

मै समझता हूँ ठीक बात है। दिव्य को मर्त्य का नियत्रण स्वीकार करना चाहिए। तत्काल की उपयोगिता के नीचे ही सबको रखना चाहिए। शासन दुःशासन हो यह दूसरी बात है। पर शासन तो है, और उसका अनुशासन पहली बात है।

रचनाकार का साहस कि रचना मे से मुँह उठाकर उसने संबोधनदाता की ओर देखा। पूछा—"आपकी कृपा है, किन्तु कृपया आप कौन है ?"

हितैषी ने मुस्कराकर कहा—"ठीक है, ठीक है, आप कला मे डूबे है, इससे आपको अपरिचय हो सकता है। कला आत्मरजन मे जो रह जाती है। मेरा स्थान लोक-मगल मे है।"

कृतिकार को शनै-शनै मालूम हुआ कि वह स्वय व्यक्ति है, इसी से अनजान रहा है। ऊपर जो उसके विराजमान है, जिसकी कृपा के नीचे सुरक्षित रहकर वह अन्न-वस्त्र-आच्छादन पाता रहा है, वह यही नियता वर्ग है। उसने सबोधन मस्तक पर लिया और वह विनम्र हुआ।

शासन का स्वभाव प्रकृत और इसलिए शासन का काम आवश्यक है। वह स्वभाव अतृप्त रहेगा और वह काम अपूर्ण यदि उसके नीचे झुकने के लिए लोग न होते रहें। इसलिए सिद्ध है कि कला का धर्म

विनम्रता है। अकुश उस पर पडना चाहिए जिसका धर्म सहना है और उसकी ओर मे आना चाहिए जो स्वय निरकुश है। तीर का फल सामने को रहता है, छोडने वाले की तरफ नही।

कवि निरकुश होता है, लेकिन यह पुरानी उक्ति है। शायद तब की जब राजा कुछ अकुश मे रहा हो। अब जमाना दूसरा है। युग अब नये मत का है। राजछत्र तो गया, तब होता होगा कि राजा पर अकुश हो। जैसे एक हो गये है राजा रामचन्द्र। वह प्रजा के एक अदना आदमी से डर गए। एक अकेले धोबी की बात की भबकी में ऐसे आए कि अपनी सती-सतवन्ती सीता को वनवास दे बैठे। धोबी वह किसी तरह की काग्रेस न था, न काफ्रेस था। उसकी बात रिजोल्यूशन भी न थी। फिर जो उससे डिग आए वह महाशय साफ है कि असली शासक-स्वभाव के न रहे होगे। तभी तो राम-राज्य पुराना हुआ। अब लोकतत्रवाद का समय है। यहाँ राजपुत्र होने से राजा नही होता, लोक-मगल की चिन्ता में से शास्ता-वर्ग का उदय होता है। वह फिर लोकमत को निर्मित और नियन्त्रित करता है। लोकमत उस पर अकुश नही होता, लोकमत पर उसका अकुश होता है। वह सूत्र देता है। ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल उसे भाष्य देते है। इस सुगठित और सुनियन्त्रित लोकमत से शासकवर्ग का निर्वाचन होता है और वह स्टेट का सचालन करता है। स्टेट यानी मूर्त लोक-मगल। स्टेट यानी ईश्वर। स्टेट यानी चरम सत्य। स्टेट यानी दुर्ग और तीर्थ।

यह आज का प्रकाश और अब तक का विकास है। स्टेट कुल है और सब है। शेष सब खड है और अग है। अश के लिए समग्र की ओर से नाना नियत्रणो का विधान होगा। इस समग्र मे केवल दो दल होगे। एक शासकदल जो केवल नियम रचेगा और उनके पालन का विधान रचेगा। यह काम प्रमुख होगा, और लेजिस्लेशन-एडमिनिस्ट्रेशन कहलाएगा। दूसरा दल शेष वह सब रचना करेगा जिसमें श्रम लगता

और साधना लगती है। उगाना-बनाना इनका काम होगा। यह गौण काम होगा, क्योकि अधिक आवश्यक होगा। इसी कारण यह कम योग्यता का समझा जायगा।

शासन, उसकी जडे स्वभाव में होने के कारण, अनावश्यक नही हो सकता। इसलिए वह सब ओर आवश्यक है। सबका शासन, वैसे कला का भी शासन। शासन का काम अभेद दृष्टि और तटस्थ वृत्ति से होना चाहिए।

वह सब नय जमाने की बात तो ठीक है। पर यह जमाना क्या लद न जायगा? फिर क्या कुछ नया और न आयगा? क्या इस सदा की सब नित-नवीनता के नीचे सनातनता ही न रहेगी? क्या कभी होगा कि स्टेट सब को ओझल कर ले और उसके पार पहुँचने की आदमी के पास न क्षमता रहे, न आकाक्षा? क्या यह हो सकेगा कि आदमी डर में इतना झुके कि प्रेम मे झुकना भूल जाय? क्या यह होगा कि आदमी दल मे और समूह में इतनी पूर्णता अनुभव कर आय कि चारो ओर फैले इस असीम के प्रति निस्सग और निश्चेतन हो जाय और प्रार्थना से उत्तीर्ण?

ऐसा तो मुझे होता नही दीखता। इससे नियत्रण को सर्वोपरि भी मुझ से माना नही जाता। जहाँ नियत्रण है वहाँ प्रेम के साथ अप्रेम भी है। कला की सृष्टि प्रेम मे से है। क्या अप्रेम को प्रेम से महत्त्व देना होगा?

जान पडता है, शासन अन्तिम वस्तु नही है। मानव-सभावनाओ में वह कुछ क्षति ही लाता है। बाहरी शासन आतरिक अनुशासन की कमी का ही द्योतक है। आत्मानुशासन दूसरे को ह्रस्व नही करता, बल्कि उसकी अन्तश्चेतना को जगाकर उसके व्यक्तित्व को स्फूर्त और दीप्त करता है। मानव की सपूर्ण सभावनाओ को पुष्पित और फलित करने

के लिए बाहरी शासन के लोभ से निवृत्ति पानी होगी। वास्तविक और स्थायी लोक-मगल उससे सधता है, यह भ्रम है। ऐसी धारणा अवैज्ञानिक है और अपनी इच्छापूर्ति के निमित्त ही हम उसका सहारा लेते है। स्वय शासन का शास्त्र यह मानता है कि अन्त मे सफल समाज वह है जहा शासन की कोई बाहरी सस्था नही है वह सब मे सहज अन्तस्थ है। स्टेटलेस सोसाइटी सब राजनीतिक मतवादो का और राजशास्त्र का आदर्श है। वह सोसाइटी अनियन्त्रित नही होगी, केवल नियन्त्रण का कोई बाह्य अधिष्ठान या तत्र वहाँ आवश्यक नही रह जायगा। वहाँ दमन की या द्रोह की प्रेरणा न होगी और आदमी प्रेम मे अपनी और दूसरे की सपूर्ति खोजेगा। स्पर्द्धापूर्वक दूसरे की हानि मे अपना लाभ नही देखेगा।

अपने में नियम और दूसरे पर नियत्रण चाहने की भावना वासना है। उसमें कही चूक है। यह दोष सूक्ष्म है और लोक-कर्मियो मे उसके पनपते रहने का अवसर बना ही रहता है। सुधारक और उद्धारक, नेता और नियता, बहुत महत्त्वपूर्ण सेवा समाज की करते है। लेकिन अपने को वैसा मान लेकर वह कुछ अपनी असेवा भी कर जाते है। अपनी असेवा में दूसरे की सही सेवा कैसे हो सकती है। इसलिए ऐसे नेता और नियता से भी एक बडी कोटि है। उस कोटि के पुरुष प्रेम के होते है, उतने विद्या और ज्ञान और कौशल के वे नही होते। वह पद पर नही होते, मानो सबके समकक्ष बने रहने को सदा धरती पर रहते है।

कला का उत्स वही है। वहाँ से जीवन-कला उदित होती है। किन्तु किसी अदृष्ट दोष से वह जीवन में नही खिल पाती तो दूसरे माध्यम का सहारा लेती है शब्द का, ध्वनि का, वर्ण का, आकार का। व्यक्ति तो सदा ही सदोष है, पर कला की प्रेरणा मे दोष को रहने की जगह नही मिलती। उसको कला का व्यक्ति अपने में झेल और भुगत लेता है। तब ही देखते है कि उदात्त कला का स्रष्टा अनुदार, महान का निम्न, साधु का दुष्ट और सुन्दर का कुरूप हो गया है। इस विरोधाभास से घबराकर

कला के प्रति हम में प्रहवृत्ति जाग सकती है। अपनी वास्तविक और तात्कालिक सुख-सुविधा के बीच होकर हम किंचित् उपेक्षा और कृपा से उस कला और कलाकार को ले सकते हैं। किन्तु वह स्वस्थ दृष्टि न होगी, न वह सहायक होगी।

सच पूछिए तो शासन एक मोह है, मद है। हम सब ही अधूरे ठहरे। कोई हीन-भाव से मुक्त नहीं है। इस हीन-भाव में से कब्जा करने की इच्छा आती है। शासन चाहना अपनी हीनता को हठात् भरने का प्रयास है। पर उसमें झूठ समाया है। हीनता की स्वीकृति प्रेम है। कलाकार ऊपर से कितना भी शेखीबाज हो, (इस जगत् में शायद उसकी आवश्यकता भी है, वह बचाव का उपाय है) पर भीतर से अपनी एकांत निरीहता, निम्नता को वह अपने निकट निष्कपट स्वीकार करता है। वह ऊपर होकर किसी अहंकृत सिद्धांत-बुद्धि में से शेष को नहीं देखता, कमजोरी की अनुभूति यानी सहानुभूति में से देखता है। यहीं से कला का उद्गम है।

ऐसे देखें तो मेरी मानने की इच्छा होती है कि कला वह अंकुश है जिसे शासन के लिए रहना आवश्यक है। कवि को निरंकुश इसलिए होना होगा कि हाकिम पर अंकुश रहे। इससे उल्टा होगा तब मानवता के अभाग्य का दिन होगा। सांसारिकता पर कला का अंकुश चाहिए ही, और राजनीति सांसारिकता का पुंज और बिम्ब है। कला हमारे यहाँ संतों की संपत्ति रही है। शासन सीमित होता है, वह मेरे-तेरे में रहता है। वह अपने लिए दूसरे को गैर और दुश्मन मानता है। कला का ममत्व व्यापक है। देश के लिए विदेश से वैर और विद्वेष शासन को जरूरी हो सकता है। शासन चीज ही ऐसी है, वह भय में से होती, भय पर टिकती और भय उपजाती है। पर कला अभय है। वह तात्कालिक से बधी नहीं है, इससे वह उस उपयोगिता को भी लाँघ जाती है।

आज जब वादो की और देशो की स्थिति परस्पर विवाद और रगड की है, शासन का, जो कि दल और देश के प्रण से आबद्ध है, कला पर नियन्त्रण का हक मानना मुझे सही नही मालूम होता । बल्कि कला, जो कि मूल से शिखर तक मानव के साथ है और बीच की किसी मानी हुई हमारी सज्ञा को माथा टेकने से बरी है, शासन के आवेश को बहुत मात्रा तक नियन्त्रित रखने मे उपयोगी हो सकती है । क्या हम अपने इस या उस नाम के खयाल के पीछे आदमी को अक्सर भूलते नही रहे ? क्या काफी कुछ हमारी प्रगति और उन्नति मानव की और मानवता की कीमत चुका कर नही होती गई ? मानवता गिर रही है, क्या इसीलिए नही कि वादमत्ता बढ रही है ? ऐसी हालत मे एक अकेली निर्विशेष मानव-सहानुभूति के बल पर होने वाली कला को यत्राधीन और दल-शासनाधीन बनने देना शुभ होगा, ऐसा प्रमादवश हो माना जा सकता है ।

: ३० .

साहित्य और कला

अभी बम्बई में एक अजब अनुभव हुआ। एक जगह बात्तना हुआ तो वहाँ अपनी तरफ से मैंने कुछ ऐसे वाक्य भी कहे जिनमें मैं अपनी अज्ञता और निरीहता प्रकट करना चाहता था। यह कि मै पढा-पढाया नही के बराबर हूँ और कि किसी और तरह के गुमान के लिए भी मेरे पास कोई बहाना नही है। कहा यह इसलिए था कि मेरे शब्दो को कोई अतिरिक्त महत्त्व न दिया जाय और उनसे केवल मेरा दर्द ही लिया जाय।

लेकिन लौट कर घर आता हूँ तो एक गुस्से से भरा पत्र मिलता है। उस गोष्ठी मे सम्मिलित एक भाई ने लिखा था कि तुम को अपने ज्ञान का बडा अभिमान मालूम होता है और तुम जैसे अहकारी आदमी पर मुझे दया आती है। और भी कुछ उस पत्र मे बात थी लेकिन सबके ऊपर होकर यह गुस्सा ही उसमे प्रकट होता था।

इस अनुभव मे से मैंने निकाला कि शब्दो से दूसरे को केवल अर्थ नही मिलता, वह नही मिलता जो तुम देना चाहते हो, बल्कि किसी न किसी तरह कुछ वह मिल जाता है जो कि तुम असल मे हो। यानी साहित्य मे अपना जानना नही दिया जाता है बल्कि अपना होना (अपनी वास्तविकता, अपनी आत्मता को) ही दिया जाता है।

इसी मे से यह बात भी निकलती देखी जा सकती है कि जो ज्ञान मे से लिखता है वह पाठक को अप्रभावित छोड सकता है। यानी वह अपने को बाँट नही पाता, बल्कि अपने मे अपने को थोडा अतिरिक्त गर्विष्ठ और अकेला बना लेता है। अर्थात् सवाल नही है कि कोई क्या कहता

है, सवाल है कि वह क्या होता है। उपदेश इसलिए व्यर्थ है। उदाहरण हो जाओ तो शिक्षा उसमे से स्वत फूटेगी। Example is better than precept का मतलब यही तो है कि precept वह सफल है जो स्वय Example मे से आता है। इस मे शिक्षा की अवज्ञा नही है, बल्कि उस के मर्म की व्याख्या है। शिक्षा की आवश्यकता कभी समाप्त होने वाली नही है लेकिन शिक्षक के लिए अनिवार्य है कि वह अनुभव करे कि अन्य के उपलक्ष मे वह स्वय अपने को सबोधित कर रहा है।

शब्द जब मुझ से जाकर उतना अपने को नही जितना मेरे भाव को कहते है, तब साफ हो जाता है कि शब्द और भाषा की चिन्ता अपनी खातिर अनावश्यक है। गलत या सही आदमी होता है, भाषा स्वय गलत या सही नही हो सकती। साहित्य की भाषा की शुद्धि और अशुद्धि कभी किसी व्याकरण के पास नही रह सकती। उसका मान तो सुधी और सहृदय पाठक के पास है।

यह तो कुछ अत्यन्त निजी बात सी मालूम होती होगी। लेकिन प्रत्यक्ष परिणाम उत्पन्न करने वाले काम-काज से भी इस तत्त्व को मै अलग करके नही देख पाता।

जैसे मानिए कि एक पत्रिका मेरा लेख छापती है। वह बडे आकर्षक रूप मे छपती है जिसके मुखपृष्ठ पर किन्ही नवाविष्कृत रूपसी फिल्म-तारिका का चित्र है। अन्दर भी जहाँ-तहाँ रूप-सौंदर्य बिखरा हुआ है। यह पत्र मान लीजिए कि, पारिश्रमिक के रूप मे उससे दुगनी-तिगनी रकम देता है जो और जगह से मिलती है। अब अगर मै जानता हूँ कि उस पत्रिका मे छपे हुए वे शब्द पत्रिका की रुचि पहले देगे, मेरी आत्मा को नही, तो मै पारिश्रमिक की रकम के लोभ के रहते भी उसमे लेख छपा कर तृप्तिलाभ नही कर पाऊँगा।

हम देखे कि इससे आजकल साहित्य मे जिस गत्यवरोध की चर्चा

चल रही है उस पर काफी कुछ प्रकाश पड़ता है। मैं दूसरों में अपने को बाँट सकूँ तभी लेखक की हैसियत से मैं कुछ तृप्ति पा सकता हूँ। मेरे शब्द अगर यह काम नहीं करते हैं, बल्कि किसी की व्यवसाय-तृष्णा के प्रसार के साधन बन कर रह जाते हैं तो मैं लिखने का उत्साह बनाए नहीं रह सकता हूँ। अर्थात पुस्तक और पत्र के प्रकाशन में पूँजीवादी और अर्थवादी वृत्ति का बढ़ना साहित्य-सृष्टि के कम होने से सीधा संबंध रखता है।

चाहे-अनचाहे हमारा कार्य-व्यापार हमको ही प्रकट करता है। हमारी भावना और हमारा रंग-ढंग दो नहीं हो सकते। दो रखकर हम अपने को ही भुलावे में डाल सकते हैं, दुनियाँ को नहीं पा सकते। शैली आत्मा का प्रतिबिम्ब है, वह तर्ज नहीं है। वह व्यक्ति से अभिन्न है। अर्थात्, आत्मा के अनुरूप हमारे समूचे व्यक्तित्व को ढलते जाना होगा। शैली को व्यक्ति के अनुरूप और रूप-आभा को गुण के अनुरूप होना होगा। तड़क-भड़कदार टाइटिल से पुस्तक की बिक्री अगर बढ़ती है तो निश्चित है कि साहित्य का गांभीर्य उन परिस्थितियों में घटता होगा। ऊपर से प्रभावित करने की इच्छा अन्दर से प्रभावित करने की शक्ति के दिवाले का नाम ही हो सकता है। गुण का विश्वास नहीं है तो रूप का शृङ्गार आवश्यक हो ही जाना चाहिए। रूप-सज्जा की ओर ध्यान कम तभी हो सकता है जब गुण की ओर ध्यान अधिक हो।

तरह-तरह की चर्चाएं सुनता हूँ। जैसे यही लीजिए कि स्टेज प्रधान है और नाटक की रचना उसी दृष्टि की सीमा में हो। प्रसाद नाट्य-कला में अधूरे उतरते हैं क्योंकि स्टेज पर पूरे नहीं उतरते। यह औंधी बुद्धि की बात हुई। गेटे के लिए स्टेज को ही उठना पड़ा। उसकी बेकदरी स्टेज के मान से नहीं हो सकती थी। हमारी अधिकांश रचना माध्यम की मर्यादा में दबकर चलती है। तो यही कहना होगा कि आत्मा प्रबुद्ध नहीं है और शरीर ने उसको दबोच रखा है। शरीर की यानी

माध्यम की सार्थकता इसमे है कि वह आत्म को व्यक्त करे। प्रकाशन से लेखन चले, रूपाकाक्षा से फिल्म चले, आकार के अनुगमन मे भाव चले, सक्षेप मे, धन से श्रम, लोभ से व्यक्ति और शक्ति से नीति चले तो हमारा सकट बढने ही वाला है और कला और सस्कृति ये केवल विलास के साधन रह जाने वाले है। अन्यथा तो साहित्य और कला की रचना हमे बन्धनो से उत्तीर्ण करने वाली हो सकती है। राजनीति यदि भौचक है और झमेले मे है तो कला उसको उबारने वाली हो सकती है। अन्यथा तो वह राज्य और राज-काजियो के समक्ष प्रार्थी बनी ही रहेगी।

: ३१ :

प्रेमचन्द का गोदान : यदि मैं लिखता

अगर मैं गोदान लिखता ? लेकिन निश्चय है मैं नहीं लिख सकता था, लिखने की सोच नहीं सकता था। पहला कारण कि मैं प्रेमचन्द नहीं हूँ, और अन्तिम कारण भी यही कि प्रेमचन्द मैं नहीं हूँ। वह साहस नहीं, वह विस्तार नहीं। गोदान आस-पास पाँच-सौ पृष्ठों का उपन्यास है। उसके लिये धारणा में ज्यादा क्षमता चाहिए, और कल्पना में ज्यादा सूझ-बूझ। वह न होने से मेरा कोई उपन्यास ढाई सौ पन्नों से ज्यादे नहीं गया। मै लिखता ही तो गोदान करीब दो सौ पन्नों का हो जाता। गोदान का एक संक्षिप्त संस्करण भी निकला है और मानने की इच्छा होती है कि उसमें मूल का सार सुरक्षित रह गया है। यानी दो-सौ ढाई-सौ में भी गोदान आ सकता था। और क्या विस्मय मोटापा कम होने से उसका प्रभाव कम के बजाय और बढ जाता, अब यदि फैला है तो तब तीखा हो जाता।

पुस्तक जब शुरू मे निकली थी तभी मैंने पढी थी। याद पडता है प्रेमचन्द ने एक अगाऊ प्रति भेज दी थी। यह कोई अठारह वर्ष पहिले की बात है। तब से पुस्तक की कथा मन पर कुछ धुंधली हो आई थी। उस समय मैंने लिखा था कि गाँव की कथा पर उसमें शहर कुछ थोपा हुआ सा है, वह अनिवार्य नहीं है, पुस्तक की कथा के साथ एक नहीं है। हो सकता था कि होरी को कथा के केन्द्र मे रहने के लिये, और ऐसे कि सब प्रकाश उसी पर पडे दूसरे ब्यौरे ध्यान को खींच कर अपनी ओर न ले जाय, शहर को पुस्तक से मैं अनुपस्थित हो जाने देता। ऐसे सभव था कि शहरी जीवन के प्रति विरोध और अनास्था प्रकट करने का सुभीता न रहता, न ग्रामीण जीवन के प्रति रुचि और सहानुभूति को उभारने का उस प्रकार सुगम अवसर। लेकिन मैं उसका लोभ न करता।

कैसे कहूँ कि प्रेमचन्द जी को इस लाभ का संवरण करना चाहिये था। क्योंकि यह प्रतिपादन तो कदाचित् प्रेमचन्द की प्रेरणा में मुख्य तत्त्व बन कर रहा है। लेकिन फिर भी मेरी धारणा है कि गाँव और शहर की तुलना और जय-पराजय से अलग करके होरी का चित्रण उतना विविधतापूर्ण और रंग-बिरंग चाहे न बनता, फिर भी उसमें अधिक व्यक्तित्व और एकत्व हो सकता था।

अठारह वर्षों के बाद वह पुस्तक अब फिर जहाँ-तहाँ से देख गया। तब की धारणा नष्ट नहीं हुई, बल्कि पुष्ट ही हुई। हठात् शहर ने आकर पुस्तक के गाँव को चमकाया नहीं है बल्कि कहीं कुछ बखेरने और ढकने का प्रयास किया है, ऐसा प्रतीत हुआ।

किताब में एक-पर-एक पात्र आते गये हैं। उनकी संख्या पर विस्मय होता है। होरी, धनियाँ, झुनियाँ, गोबर, हीरा, सोभा, सोना, और रूपा तो एक परिवार के ही हैं। भोला, दुलारी, झिंगुरी साहू, दाता दीन, मंगरू साह, पटेश्वरी, मातादीन, वगैरह भी आस-पास के लोग हैं। शहर के राय साहिब, मेहता, खन्ना, तनखा, मिर्जा, मालती, आदि आज की नई सभ्यता के लोग हैं। मानना होगा कि खासा मेला है, अगर्चे सबका उसमें अपना-अपना रंग और अपनी व्यक्तिमत्ता है, उनका चित्र सामने आ जाता है। लेकिन शायद मैं होता तो सबको न छूता, दो चार को लेकर ही काम चला लेता। कुछ तो इसलिये कि मेरा बस उतना नहीं है, कुछ इसलिये भी कि संख्या की अधिकता अवगाहन में सहायक नहीं भी होती, गहनता विस्तार में छिप जाती है, और दृश्य रूप अदृश्य गुण से प्रधान हो जाता है। उससे समाज का और समय का चित्र तो मिलता है, पर आत्म की उतनी गहरी अनुभूति कदाचित् प्राप्त नहीं होती। मुझे ठीक मालूम नहीं कि साहित्य का क्या लक्ष्य है, वह हमें वस्तु-बोध देने के लिये है, कि आत्म-प्रकाश देने के लिये? साहित्य का जो भी इष्ट और उद्दिष्ट हो, स्वीकार करना चाहिये कि मेरी अपनी रुचि विविध

जानकारियों के प्रति उतनी नहीं है, न परिचय के विस्तार के प्रति। परिचय अधिक से न हो किन्तु अभिन्नता कुछ से भी हो तो मुझे यह बड़ा लाभ जान पड़ता है। गहरा मित्र एक हो तो उसकी कीमत सौ जान-पहिचान वालों से मेरे लिये ज्यादा हो जाती है। निश्चय प्रेमचन्द हमें बहुत देते हैं, इतनी तरह-तरह की जानकारियाँ देते हैं कि हम समा नहीं सकते। लेकिन एक दूसरे तरह की उपलब्धि भी है। बौद्धिक से उसे आत्मिक कहा जा सकता है। वह व्यथा की सघनता के रूप में मिलती है। मैं लिखता तो मेरी इच्छा रहती कि मैं उसका ध्यान विशेष रक्खूँ।

प्रेमचन्द भाषा के जादूगर हैं मुहाविरे उन्हें सिद्ध हैं। भाषा का यह खेल और यह प्रभाव जैसे उन्हें याद से नहीं उतरता है। इसमें जगह-जगह प्रयोग ऐसे आ जाते हैं जो अपने खातिर और सिर्फ चमक के लिये आये लगते हैं। जैसे एक जगह है —

"पुन्नी हाय-हाय करती जाती और कोसती जाती थी, तेरी मिट्टी उठे तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आजाय, देवी मैया तुझे लील जाय, तुझे इनफलुन्जा हो जाय, तू कोढी हो जाय, हाथ पाँव कट-कट गिरें .."

दूसरी जगह "होरी सिनका तक नहीं, झुझलाहट हुई, क्रोध आया, खून खौला, आँख जली, दाँत पिसे" इत्यादि।

ऐसे प्रयोग बहुत हैं। यह उनके वर्णन की ही शैली है। जैसे शब्द अपनी खूबी के जोर से बाहर आते और बैठते जाते हैं। मैं होता तो सक्षेप से काम लेता। 'पुन्नी हाय-हाय करती जाती और कोसती जाती थी' इसके बाद बिना कुछ कहे रह जाता। इसमें निश्चय ही हानि हो जाती, चित्र की यथार्थता उतनी न खिलती, लेकिन वह मुझे स्वीकार होता।

'पुन्नी ने हाय-हाय की और कोसा', यह कहने के बाद उस विलाप को फिर और नाना दुर्वचनों से सचित्र और सागोपाग करने से मैं किनारा ले जाता। मनोदर्शन और विश्लेषण में मैं कुछ निश्चित कहने

और प्रतिपादन करने मे बचता। ज्ञान आखिर हमारा अनुमान है। क्या उस के आगे प्रश्न चिन्ह नही है ? इससे कैफियत भर देता, निदान नही।

रायसाहब के पीछे होरी चलता है और रायसाहब बैठ कर अपनी गाथा शुरू करते है । कहते-कहते वह अपनी स्थिति की बखिया खोलते चले जाते है। कहते है, "हमारा दान और धर्म कोरा अहकार है, हमारे लोग मिलेंगे तो इतने प्रेम से जैसे हमारे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हो । अरे और तो और, हमारे चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसरे भाई तो इसी रियासत के बल पर मौज उड़ा रहे है, कविता कर रहे है, और जुये खेल रहे है, शराबे पी रहे है, और ऐयाशी कर रहे है,..... आज मर जाऊँ तो घी के चिराग जलायें। मेरे दु ख को दु ख समझने वाला कोई नही है । उन की नजरो मे मुझे दुखी होने के कोई अधिकार ही नही है। मै अगर रोता हूँ तो दु ख की हँसी उड़ाता हूँ। मै अगर बीमार होता हूँ तो मुझे सुख होता है। अगर अपना व्याह करके घर में कलह नही बढाता तो यह मेरी नीच स्वार्थपरता है । व्याह कर लूँ तो विलासान्धता होगी । अगर शराब नहीं पीता तो यह मेरी कमजोरी है, शराब पीने लगूँ तो वह प्रजा का रक्त होगी। अगर ऐयाशी नही करता तो अरसिक हूँ । ऐयाशी करने लगूँ तो फिर कहना ही क्या है ! इन लोगो ने मुझे भोग-विलास में फँसाने के लिये कम चाले नही चली और अब तक चलते जाते है। उनकी यही इच्छा है कि मै अन्धा हो जाऊँ, और यह मुझे लूट लें। और मेरा धर्म यह है कि सब कुछ देखकर भी कुछ न देखूँ, सब कुछ जान कर भी अन्धा बना रहूँ।"

इस तरह रायसाहब कहते ही जाते है। रायसाहब कौंसिल के मेम्बर है, बडे आदमी है। होरी रैयत नाचीज है, लेकिन दो पन्नो तक वह नही रुकते, और मुँह पान से भर कर फिर आगे कहते है, "हमारे नाम बडे है पर दर्शन थोडे है।" और इस तरह काफी समाज-शास्त्र और तत्त्व

शास्त्र की भी चर्चा करने चले जाते हैं। कहते हैं, "दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं, हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर चाकर, कर्ज, वेश्याएं, क्या नहीं है। लेकिन जिस की आत्मा में बल नहीं और चाहे कुछ हो आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद भी न आती हो जिस के दुख पर सब हंसे और रोने वाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैर के नीचे दबी हो जो भोग-विलास के नशे में अपने को भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कह सकता।" रायसाहब कहते ही जाते हैं कि दो पन्ने और भर जाते हैं।

इस लम्बे उद्गार का प्रयोजन यह है कि आगे उन्हीं को गुस्सा होते और उससे बिलकुल उलटा आचरण करते दिखाया जाय। मुझे लगता है कि मैं शब्दों को उतना खींच न पाता, उनके प्रयोगों से मैं जल्दी हार जाता। मैं मानता भी हूँ कि शब्दों को कहीं चुक जाना चाहिये। बुद्धि की भाषा ही शाब्दिक है व्यथा मौन द्वारा बोलती है। प्रेमचन्द में वहाँ भी शब्द मुखर है जहाँ मैं उनसे हार मान बैठता और शब्दहीनता में सहारा ले रहता।

प्रेमचन्द में प्रेम का व्यापार भी शब्दों में उतना मुक्त नहीं है। गोबर किशोर है और सामने झुनियाँ को पाता है। झुनियाँ छोटी सी थी तभी से गाहकों के घर दूध ले जाया करती थी। ससुराल में भी उसे गाहकों के घर दूध पहुँचाना पड़ता था। आजकल भी दही बेचने का भार उसी पर था। उसे तरह-तरह के मनुष्यों से साबिका पड़ चुका था। दो-चार रुपये हाथ लग जाते थे, घड़ी भर के लिये मनोरंजन भी हो जाता था। मगर यह आनन्द जैसे मँगनी की चीज हो, इस में टिकाव न था, समर्पण न था, अधिकार न था। वह ऐसा प्रेम चाहती थी जिसके लिये वह जिये और मरे, जिस पर वह अपने को समर्पित कर दे। वह केवल जुगनू की चमक नहीं दीपक का स्थायी प्रकाश चाहती है। यह

झुनियाँ खूब बात करती है। कहती है, 'तुम मेरे हो चुके कैसे जानूँ ?' गोबर ने कहा 'तुम जान भी चाहो तो दे दूँ।' 'जान देने का अर्थ भी समझते हो ?' 'तुम समझा भी दो ना', 'जान देने का अर्थ है साथ रह कर निवाह करना। एक बार हाथ पकड कर उमर भर निवाह करके रहना। चाहे दुनिया कुछ कहे, चाहे माँ-बाप, भाई-बन्द, घरद्वार सब कुछ छोडना पडे। मुँह से जान देने वाले बहुतो को देख चुकी, भौंरो की भाँति फूल का रस लेकर उड जाते है। तुम भी वैसे ही न उड जाओगे।'

आगे भी वह कहती जाती है, एक-से-एक ठाकुर, महराज, बाबू, वकील, अमले, अफसर अपना रसियापन दिखाकर मुझे फँसा लेना चाहते हैं। कोई छाती पर हाथ रख कर कहता है 'झुनियाँ तरसा मत।' कोई मुझे रसीली-नसीली चितवन से घूरता है, मानो मारे प्रेम के बेहोश हो गया है। कोई रुपये दिखाता है, कोई गहने। सब मेरी गुलामी करने को तैयार रहते है, उमर भर, बल्कि उस जन्म मे भी। लेकिन मैं उन सबो की नस पहचानती हूँ, सब-के-सब भौरे है, रस लेकर उड जाने वाल। मै भी उन्हे ललचाती हूँ, तिरछी नजरो से देखती हूँ, मुस्कराती हूँ। वह मुझे गधी बनाते है, मै उन्हे उल्लू बनाती हूँ।'

नही, निश्चय ही कैशोर प्रेम को मैं किसी भी प्रकार इतना प्रगल्भ, इतना हिसाबी, इतना मुखर न बना सकता। प्रेम की विवशता और स्वच्छन्दता मे और कितना ही आगे मै बढता, लेकिन किसी भी प्रकार इतना सशब्द न हो सकता। जीवन के पहले प्रेम में यह शब्द यदि किसी और से सुन मिलते कि 'वह गधी बनाते है मै उल्लू बनाती हू,' तो मेरी कलम फिर किसी तरह वहाँ प्रेम को टिका न पाती।

मत-मान्यताओ से भी लिखने का सम्बन्ध रहता है। शायद वह सम्बन्ध सीधा तो नही होता पर चरित्र-चित्रण मे आ ही जाता है। होरी के गाँव के जितने नेता है, सब धूर्त है और सब धार्मिक है। धर्म

का और धूर्तता का वैसा गठजोड मेरे मन मे उतना निश्चित नही है। धूर्तता सब मे है और धर्म की आवश्यकता भी सब मे है। इसलिए एक में दोनों चीजें मिलें, इसमें कुछ भी अनहोनी बात नही है। लेकिन उनमे कार्य-कारण का सम्बन्ध देख लेना मेरे बस का न हो पाता। प्रेमचन्द जी जैसे इसी आविष्कार तक जा पहुचे है। पडित दातादीन, लाला पटेश्वरी, ठाकुर झिगुरी सिंह प० नोखेराम सब ही एक-न-एक रूप मे भक्ति-उपासनामे समय देते है, लेकिन उसी कारण जैसे दुखिया के दुख के प्रति वे और भी हृदयहीन हो जाते है।

मैं उनके स्वभाव को ज्यो-का-त्यो रख कर भी शायद प्रेमचन्द के निदान मे सहमत न होता। धर्म सीधा धूर्तता उपजाता हो तो जैसे समस्या बहुत सीधी हो जाती है और उतने सीधे चल कर मुझे नही मालूम होता कि मुझे सन्तोष हो सकता।

सक्षेप में गोदान में जो होरी निपट भाग्य के सामने अकेला जूझता हुआ फिर भी निरुपाय सा दिखाया गया है, मैं उसको तो न छूता और ज्यो-का-त्यो सुरक्षित रखता। फिर भी भाग्य को किन्ही तात्कालिक परिस्थितियो अथवा व्यक्तियो में परिभाषा देने का प्रयत्न न करता कि जैसे होरी शिकार हो, शिकारी दूसरे हो। मेरी कोशिश होती कि दिखाता कि सब जैसे शिकार ही है और वृथा ही एक दूसरे को शिकार बनाने का प्रयत्न करते है। असल मे शक्तियाँ निर्वैयक्तिक है और उनमे सत् के साथ रहने और असत् के साथ लडने के लिए सहानुभूतियो का बटवारा करने की जरूरत नही है। वैसा मे कर सकता तो मानता कि मेरा 'गोदान' सफल है।

: ३२ :

युद्ध और लेखक

'हस' के सपादक ने कहा, 'युद्ध और लेखक' पर लिखो। मै आभारी हूँ। लडाई दूर नही है। सिर पर क्या वह छाती पर है। और लेखन भी साथ लगा ही है। इससे यह प्रश्न यो भी मेरे लिए प्रस्तुत है।

युद्ध पर पहले भी मैने लिखा था। तब संभावना मे हो, घटना में युद्ध नही था। लिखा था कि युद्ध को मै बहुत जरूरी मानता हूँ। वह अनिवार्य है। वह जीवन का लक्षण है। वह जीवन मे अवरोध के कारण सम्भव बनता और उसके वेग को खोलता है। विकास का इतिहास युद्ध का इतिहास है। उन्नति सदा सघर्ष में से हुई है।

जीवन को मैंने जब भी समझना चाहा तो यही पाया कि जीवन युद्ध है। युद्ध मे मौत को भेंटने की तैयारी आदमी में जागती है। यही जीवन की ओर से चुनौती है, उसकी विजय है। मौत से घबराना मौत को बुलाना है। मौत तो दुनिया में अपने आने-जाने के क्रम में प्रमाद करेगी नही। क्योकि जीवन की राह को, जो जरा-जीर्ण से रुँध जाती है, स्वच्छ और खुला रखने की सेवा उसके सिपुर्द है। मृत्यु उसमें चूके तो यह तो जीवन की सेवा में ही चूक हो जावेगी। इससे मृत्यु सती स्त्री के समान जीवनेश्वर की सेवा मे अकुण्ठित भाव से चुपचाप अपना काम किये जाती है।

पर हम मनुज है कि अपने-जीवन से चिपट कर मूल-जीवन के प्रवाह मे अवरोध बनते है। 'जीवन' को नही, 'अपने' को चाहते है। पर जीवन में मै-तुम की क्या गिनती ? किसका अपनापन वहाँ रहा है ? वह रहे तो कोई भी न रहे। इससे हम मनुष्य जब अपनेपन के व्यर्थ

भार को लेकर जीवन के मार्ग मे रुकावट के रोड़े बन चलने है तब मृत्यु आकर हमे अपने से छुटकारा दिलाती है ।

जब अपने में गड़कर और स्व-चिंतन मे जड़ पड़कर हम सामान्य तौर पर मौत से डरने लग जाते हैं, तब मानो मृत्यु की पुन प्रतिष्ठा का त्योहार मनाने का समय आता है । गाजे-बाजे के साथ, जय-जयकार के और अनेक विधि आदर्श-वाक्यो के उच्चार के साथ दो ओर से हजार-लाख-करोड़ की सख्या मे सैन्य-साज सजाकर, मुठभेड को उतावले हो, ललकार के साथ लोगो के जत्थे-के-जत्थे बढ़ते और एक दूसरे को मृत्यु-लाभ देते है । यम की यह सोल्लास पूजा का पर्व मनुष्य जाति के इतिहास मे जब-तब आता ही रहता है । नव-जीवन की हौस तब मन मे भर-भर गई है, शिरायें फड़कने लगी है, लहू का फाग मचाने को जी किया है । उसके आवाहन में और स्मरण में काव्य ग्रन्थ लिखे जाते है । जातियो की छातियों में उनकी याद को गहरा अकित किया जाता है हम आखो मे तेज लाकर याद करते है कि हमारे पूर्वज यो लड़े थे, कि उन एक अकेलो ने सैकड़ो को यमपुर पहुँचा दिया तब सास तोड़ी थी । इतिहास यदि जीवित है और साहित्य में यदि स्पन्दन है तो किसको लेकर ? वह है युद्ध ।

लेखक होकर मैं उस युद्ध मे घबरा नही सकता । खून के फवारो और दर्द के नालो से डर नही सकता । वल्कि उसमें सौन्दर्य देखना मेरा काम है । युद्धो के प्रति मैं कृतज्ञ हो सकता हूँ ।

युद्ध मे खून उछलता है और बहता है, लाखो-लाख आदमी हताहत होते है, बस्तियाँ वीरान हो जाती है, पत्नी विधवा होती, बच्चे अनाथ होते, और घर मसान बन जाते है । इन सब कारणो से मै युद्ध को गलत नही कह सकता । इसमे भी एक भयकर शोभा है । यह महा-रुद्र की लीला है । जो शिव शकर है, वह भीम भैरव भी है । युद्ध से सधवाओ को वैधव्य भोग का अवसर आता है, बच्चे नाथ बिन जीना

सीखते है, और उजडी बस्ता और मसान बने घरो को फिर से हरा और आबाद करने की जिम्मेदारी लेकर बचे-खुचे नव सर्जन की कला सीखते है । नही, युद्ध आदमियो को मारना है इसमे गलत नही है। आदमियो का मरना गलत नही है । ईश्वर का प्रहरी यमराज आदि काल मे यह करता आ रहा है । फिर भी ईश्वर ने अपनी सेवा से उसे बरखास्त नही किया । इससे आदमियों, असख्य आदमियो के मरने मे भी लेखक को शिकायत का कोई मौका नही है । बल्कि इससे तो लेखक का और कोष भरता है । उसे व्यक्ति के हृदय की व्यथा और उल्लास चाहिये न ! तो लो, युद्ध उसे लाखो का उल्लास और उनसे कई गुने हृदयो का विषाद देता है । वहाँ तो मनुष्यता का इतना निचुडा रस है कि लेखक के सँभाले न सँभले । अर्थात् युद्ध की इस भीषण प्रकृति और परिणाम से लेखक भँव नही सिकोड सकता ।

युद्ध के विरोध मे शान्ति के पक्ष से जो दलीले मामूली तौर पर दी जाती है, लेखक की हैसियत से मुझे वह काम की नही मालूम होती। लेखक को कब शान्ति चाहिए ? क्या वह नही जानता कि शान्ति अपने आप में भ्रम है ? मुक्ति नही वहाँ शाति क्या ? इससे मुक्ति की खोज मे वह सदा अशान्त है ।

पैसिफिस्टो का इज्म मेरी समझ मे नही आता । मै जानता हूँ कि बडे-बडे लेखक लोग उसमें है । पर अपनी शाति (Pacifism) के लिए जी सब रहे है, कोई उसके लिए मरने को आगे आता नही दीखता। एक बार जाने कहाँ से बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि वाले लेखको के नाम से छपा एक पत्र मुझ तक आ गया । उसमे पैसिफिस्टो के एक सम्मेलन होने की योजना और विवरण था, जहाँ सब मिलकर युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पास करें । युद्ध नही चाहिये, मानो यह कह कर उनका पैसेफिस्ट चित्त शान्ति पा सकेगा । पर युद्ध का अगर कुछ नहीं बिगडा है और पैसेफिज्म का कुछ नही बना, तो यही पैसिफिस्टो की

काफी आलोचना है। वह पैसेफिज़्म, जो पैसेफिस्ट होकर केवल युद्ध से अपनी रक्षा प्राप्त कर लेना है, सच्ची चीज़ कैसे हो सकता है ? अरे वह स्वयं तो बचता है, पर किसी को बचाता भी है ? मैं मानता हूं कि एक पैसेफिस्ट अपने को बचाने से उलटा युद्ध अपने का बीच में झोंककर किसी एक को भी बचा लेता है या चाहे किसी को भी नहीं बचा पाता तो भी अपने बलिदान से वह समूचे पैसेफिज़्म को मानो बचा देगा। बिना बलिदान के पैसिफिज़्म मुर्दा है, और वे लेखक कोरे बुद्धिवादी हैं जो वहीं तक रह जाते हैं।

इस तरह पैसिफिज़्म वाले युद्ध-विरोध या उस प्रकार की किसी कोरी शान्ति से लेखक को लाभ नहीं हो सकता। क्योंकि उस वृत्ति के गर्भ में युद्ध का भय रह सकता है। भय लेखक के लिए विदेशी वस्तु होनी चाहिए।

लेखक यदि है तो योद्धा है। योद्धा की परख युद्ध में है। युद्ध से बचता है वह योद्धा कैसा ? और योद्धा नहीं वह लेखक नहीं।

किन्तु इतनी बात निरपेक्ष जीवन की दृष्टि से हुई। अब प्रश्न को आज के यथार्थ की अपेक्षा में भी देखना चाहिये।

युद्ध अब जोम पर है। हिन्दुस्तान यद्यपि युद्ध के आंगन में नहीं है, पर अपनी सरकार की मार्फ़त हिन्दुस्तान की भी लड़ने वालों में गिनती है। लड़ाई खासकर जर्मनी और इंगलिस्तान के बीच है। कहते हैं नाज़ीवाद और जनात्मवाद की लड़ाई है। जर्मन-विचार सबकी आज़ादी हड़पकर एकाधिपत्य चलाने के हक में है। ब्रिटिश पक्ष सबको आज़ाद चाहता और और जनतन्त्रात्मक विधान चाहता है। लड़ाई असल में इन दो विचारों की है। जर्मनी ने स्वार्थ और दर्प में लड़ाई मोल ली है। इंगलिस्तान को मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकार स्वतन्त्रता की रक्षा में लड़ना पड़ रहा है। इंगलिस्तान चाहता है कि लड़ाई से उठे धुंए और फैले कोलाहल के बीच इस मुद्दे की बात को अच्छी तरह समझकर देख और पहचान

लिया जाय। न्याय का पक्ष इगलेंड का पक्ष है। जब कि जर्मनी साफ ही जब्र और बलात्कार कर रहा है। और बात होती तो ब्रिटेन चनो दरगुजर करने की भी सोचता, पर यह तो धर्म की, न्याय की, मनुष्यता के भविष्य की, विश्व-शान्ति की और दुनियाँ में बर्बरता के विरोध से सभ्यता की रक्षा की बात है। मानवता की सस्कृति के इतिहास में ऐसे भीषरण सकट के अवसर पर, ऐसी अनीति के वक्त, ब्रिटेन क्या जान-माल को देखे ? अरे वह है किस लिए ? मनुष्यता के हित के लिए ही तो उसका अस्तित्व है। तब वह अपने को भी होमकर धर्म की, मानव-नीति और सभ्यता की रक्षा करेगा। लहू में उसे नहाना पडे, चाहे तो सारा ब्रिटेन राख हो जावे, पर एक अग्रेज जवान जीता है तो वही स्वतन्त्रता की आवाज ऊँची रखेगा। ब्रिटेन का बच्चा-बच्चा न गिर जावेगा तब तक जर्मनी को मनचीता करना न मिलेगा।

उधर जर्मनी की तरफ से हिटलर भी अपने पक्ष को अन्याय का पक्ष नहीं मानता। बल्कि वह सारा अन्याय इगलिस्तान के माथे पटकता है। कहता है कि मै तो न्याय के साथ अहिंसा को भी चाहता हूँ। मेरी कोशिश है कि अधिक-से-अधिक दु.ख बचा सकूँ। पर दुनिया रुक रही है, योरुप कूटचक्रो का अखाडा हो रहा है। नया योरुप और नई दुनियाँ चाहिये कि इन्सान-इन्सान हो। जर्मनी को नपुंसक बनाने की कोशिश सन् १९१९ में कुछ राष्ट्रो ने गुट बाँधकर की। पर यह कैसे हो सकता था ? जर्मनी ने पुंसत्व पाया और अब वह बदला तो नही पर अपना निजत्व तो वापिस चाहता ही है। इसके बाद जर्मनी के ऊपर दायित्व आ रहता है नई दुनिया के निर्माण का भी। यह इगलिस्तान अपनी कुटिलता से काम बिगाडता ही रहता है। हम तो कहते है कि वह अपना छोटा घर लेकर अलग चुप बैठे। पर कूटनीति उसकी खसलत में है। कोई बताये कि अब हम क्या करें ? उसको सबक सिखाये बिना आगे कैसे चलें ?

इस तरह दोनो पक्षो के लिए अपना पक्ष धर्म्य है। यही कहकर दोनों पक्ष अपने सिपाहियो में मरने-मारने का दम भरते है और इस 'धर्म-युद्ध' में हर रोज अनगिनत लोग जमघाट उतरते है, उससे अधिक जख्मी होकर निकम्मे बनते हैं और असख्य रुपया स्वाहा होता है। यह रोज की औसत है। राम जाने जग चलेगा कब तक। ठान तो दोनो की लम्बी और तय्यारी मुद्दत की है। उसमें कुल धन-जन-नाश की राशि का हिसाब सिर चकरा देगा। आगे-आगे रण की विकटता बढे ही गी, घटने क्यो लगी। फिर न लडनेवाले कौन चैन से है? सब थर्राये हैं, चौकन्ने हैं।

मैंने कहा नाश, पर सच ही नाश कोई गिनने की चीज नही है। धन कौन सदा रहता है? और जन कौन सदा जीया है? इससे उस नाश की राशि के लेखे से डरने-डराने की बात वृथा है। उससे तो युद्ध का परिणाम आँकने का ही काम लेना चाहिये।

प्रश्न है कि इस (और ऐसे) युद्ध के प्रति आज और यहाँ (या कही) का लेखक क्या करे?

प्रश्न का उत्तर एक नही हो सकता। जरूरी तौर पर उत्तर में दो पहलू होगे। क्योकि लेखक दो कोटि के है।

यहाँ अच्छे-बुरे विशेषण को बिलकुल स्थान नही। जिन को बुरा कहा जा सके ऐसो को लेखक की कोटि में मान कर ही मैं नही चलता हूँ। उनके अलावा दोनो कोटि में ऐसे लेखक हैं जो ईमानदार है।

हर घटना में दो तत्त्व होते है। उनके तनाव की घनता से ही घटना मे महत्त्व पडता है। एक, स्थिति, दूसरा, गति। स्थिति का खिचाव पीछे को, गति का आगे को होता है। इस कशमकश में से ही कठिनाई और उन्नति पैदा हुआ करती है।

लेखको की दो कोटि इसी अपेक्षा में मैंने कही। एक स्थिति पर ज्यादा वज़न देकर रहते है, और गति को किसी कदर अविश्वास से

देखते है। दूसरे जो स्थिति में उखडे से दीखते है, और गति का प्रतिनिधित्व करने है।

पहले लोग अतीत मे से रस निकालकर वर्तमान का मनोरजन करते है। दूसरे-लोग भविष्य मे से खीचकर एक अपरिचित रस वर्तमान को देते है, जिसमे वर्तमान स्वाद तो लेता है पर एक दम पी जाने मे कुछ शकित रहता है।

इस या उस कोटि को लेखक कोई जान बूझकर अपने लिए चुनता हो, सो ही नही। स्वभाव, प्रकृति अथवा परिस्थिति के कारण भी उनमें मनोभेद रहता है।

भूषण क्या महाकवि न थे ? और रामदास की भी कुछ कविता उपलब्ध है। शिवाजी से दोनो का सम्बन्ध था। दोनो इस युग के लिए भी नि शेष नही हो गये है। किस को उनमें कहे कि वह अपने प्रति ईमानदार नही था। पर मानना होगा कि उनकी कोटि दो है।

कल्पना कीजिये कि शिवा युद्धोद्यत है। उस समय भूषण किस रूप मे आपके चित्त मे उदय होते है। शायद आपके मन मे उस विषय मे दुविधा नही होगी। साफ तो बात है। भूषण की कविता उस समय अपने पक्ष के सुभटो को विरुद सुनायेगी, उनमें आवेश बढायेगी, प्रतिपक्षी को ललकारेगी। व्यग से लथेड़कर शत्रु को हीन, क्रूर और परास्त दिखायगी। पराक्रम की विभूति दर्शायेगी और युद्ध मे अपनी जय और शत्रु की पराजय का चित्र खीचेगी। सक्षेप मे जो वह कविता करेगी, भूषण को आज भी पढकर हम जान सकते है।

किन्तु रामदास ? अधिक-से-अधिक उनसे शिवा को आशीर्वाद ही प्राप्त होगा। लेकिन तभी और उतने ही अश में जिसमे कि युद्ध का फल ब्राह्मण और गौ की रक्षा हो। क्या उस समय और क्या और समय रामदास की कविता शिवा को सद्बोध देगी। युद्ध मे उत्साह भी यदि

देगी तो युद्धार्थ नही, बल्कि गो, ब्राह्मण और न्याय की रक्षा मे जीवन विसर्जन की तत्परता के निमित्त उत्साह देगी। सक्षेप में जो वह कविता करेगी वह रामदास के अभगो को आज भी पढकर हम जान सकते है। आधुनिक शब्दावली में कहे तो युद्ध के नैतिक हेतु को नैतिक समर्थन भर वह देगी।

भूषण सैन्य के साथ-साथ चलेंगे। वह सिपाहियो का और नायको का मनोरजन करेंगे। तरह-तरह से उनको उकसाहट देगे। शिवा की अति-स्तुति गायेंगे और जो बख्शीश या वेतन मिलेगा उसे अपने स्त्री-पुत्रो के भरण-पोषण और पद-मर्यादा-वृद्धि के लिये घर भेज देगे।

उधर रामदास युद्ध के कोलाहल से दूर वन मे अपनी साधना में लीन रहेगे। वह अपने भगवद्-भजन के बीच शिवा के लिए और दुनिया के और प्राणियो के लिए प्रार्थना करेंगे। आसपास निर्वैर का प्रचार करेंगे, गो-ब्राह्मण की सेवा करेगे और शिवा जब फिर सामने होगा तो उसका प्रणाम लेकर उसे निर्भय शिक्षा देंगे। बतायेंगे कि युद्ध राज्य और सत्ता सेवा के निमित्त है। अहकार का निमित्त न बना कर, शिवा, तू उन्हे प्रभु अर्पण में ही रख। अपने को सेवक और भक्त से अधिक न जान। ऐसे ही युद्ध की ग्लानि का प्रायश्चित्त साधता रह।

रामदास की कविता भाषा सीखनेवाले विद्यार्थियो को कोर्स मे नही पढ़ाई जाती। भूषण का पाठ हिन्दी-विद्यार्थी के लिए अनिवार्य है। कहा तो कि अपनी-अपनी कोटि और महिमा है! भूषण महाकवि हैं, रामदास कोपीनधारी है। पर वह जो हो—

कोटि दो गिनाई। दोनो कोटिवालो का रुख किसी सजीव घटना के प्रति-एक-सा न होगा। इसलिए एक उत्तर मे ये दोनो कोटियाँ भी नहीं समायेंगी।

स्थिति-रक्षा मे जिन्होंने अपने को लगाया है, वर्तमान को मनोरंजन दिया है और एवज में अपने ससार की सुख-सुविधा बढाई है

जिन्होंने वर्तमान के श्री-पतियो की श्री को सम्वृद्ध दी है और उससे स्वय भी सवृद्धि प्राप्त की है, जिन्होने अतीत के प्रति कृतज्ञता का पाठ वर्तमान को सिखाया और उस अतीत की गुरुता वर्तमान के आगे प्रत्यक्ष करने में अपनी योग्यता और विद्वत्ता का प्रयोग किया है, ऐसे लेखक स्थित-रक्षा के प्रति झुकेंगे। स्थिति-रक्षा मे न्यस्त स्वार्थों के प्रति पक्षपात आ जाता है। वे लोग स्थिति के दायी बनकर अपना साहित्यिक कर्म करते रहे है, और गति का अविश्वास उस स्थिति में भरते रहे है। तब उस स्थिति को हिलते-बदलते देखकर वे कैसे न विचलित हो? युद्ध होगा तो वे माया की स्वर्ण-पुरी के रक्षक पक्ष में होगे, दीन-हीन बानरो से घिरे बनवासी राजपुत्र का क्या भरोसा?

दूसरी कोटि वर्तमान की सार्थकता भविष्य में देखती रही है। वे भविष्य के आवाहन में लगे है और उसी को अपने प्रयत्नो से वर्तमान पर उतारते है। स्थिति उनको देखकर शकित रही, चुनाचे अपनी गोद में उन्हे सुख-सुविधा देने से बची है। आसपास से लेकर कोई भारीपन उन्होने अपने साथ नही लगा पाया है, परिग्रह नही जुटाई है। इससे बढने की बात पर वे सहज कटिबद्ध है। ऐसे लेखक मानो गति का सदेश है, उसके सैनिक है।

कोटि कोई हो, कच्चा लेखक युद्ध से बचता है। पर जो अपने भीतर पक्का है वह युद्ध से क्यो कतरायेगा? वह मोर्चा लेने से नही बचेगा।

पर इसमे पक्ष-भेद हो सकता है। कच्चे-कच्चे तो छूट ही जावेंगे। उनमें भेद का प्रश्न ही नही। उन्हें गङ्गा के पास गङ्गादास और जमना किनारे जमनादास हो जाना सरल है। उन्हे सरकार भी ठीक, काग्रेस भी ठीक। सत्याग्रही का भाषण भी ठीक, उसे जेल भी ठीक। 'अरे भाई, शान्ति रखो, अमन से घर बैठकर रामनाम लो। बच्चे हो, दुनिया में देख-भालकर चलना है कि नही?' ऐसे लोगो के दोनो मे से कोई

लोक नही बिगडते। साहित्य भी चल जाता है, दूकान भी चल जाती है। मानो अन्तिम समन्वय की तुरीयावस्था उनको मिल जाती है।

पर पक्के लेखकों मे पक्ष-भेद हो सकता है। वे शायद युद्ध से मुह नही मोडेंगे, चाहे फिर उस युद्ध मे उन्हे आपस मे बटकर एक दूसरे से ही क्यो न लडना पडे।

आरम्भ मे ही कहा कि युद्ध को मै शाश्वत धर्म मानता हूँ। मुक्ति में ही उससे मुक्ति है। उससे पहले युद्ध से बचना मुक्ति की ओर बढने से ही बच जाना है।

सो युद्ध तो ठीक। पर कैसा युद्ध ? कौन युद्ध ? इसके जवाब में मुझे कहना है कि हम बढ रहे है। हम अब जंगल में नही रहते। यह दूसरी बात है कि शहर का मिल-घेरा जगल से बदतर हो फिर भी हमारा वह नरक हमारा है। जगल शेर का बनाया नही है, उस शेर का उसमे कुछ कृतित्व नही है। पर मनुष्य ने अगर अपने नगर में नरकों को पैदा कर लिया है तो इसकी भी सामर्थ्य उसमें युग-युग की उन्नति द्वारा आई है। चाहे मनुष्य नारकी बना है, राक्षस और दानव बन गया है, फिर भी वह पहले की भाँति जड और अचेत नही है। वह एक नही, सगठित है। नाखूनो से नही, हवाई जहाज से लडता है। दुश्मन की छाती फाडकर खून चुल्लू से नही पीता, बल्कि जिन्दा पाने पर भाई-बन्धु की तरह उसे आराम से जेलखाने मे रखता है। उसे मारना पडता भी है तो कम-से-कम तकलीफ पहुँचा कर मारना चाहता है। और अधमरा रहने पर अस्पताल मे उसे हर तरह का आराम भी पहुँचाता है। उसका सवेदन सूक्ष्म और व्यापक हुआ है।

तात्पर्य, अब हम वहाँ नही है जहाँ थे। हम तरक्की करते आये है। और जहाँ है वहाँ हमें नही रहना है। आगे बढना है।

इस बढने का माप क्या ? तरक्की की पहचान क्या ? वह माप और पहचान, मेरे शब्दो में है : अहिंसा।

पर अहिंसा वह नही जो हिंसा से डरती है। डरना तो हिंसा का काम है। अहिंसा यदि कुछ है तो निडर है। अर्थात् अहिंसा वह है जो हिंसा के मुँह मे चली जाने को ललचे। हाँ ललचे,क्योकि अहिंसा जानती है कि हिंसा का जो विकराल मुह फैला दीखता है उसके पीछे हृदय भी है। वह हृदय आज उन्माद के वश हो, विकार मे फँसा हो, पर उसके गहरे मे तो प्रेम का निवास है। उन्माद ढल जायगा, विकार चुक जायगा, तब प्रेम ही प्रकट होने को शेष रह जायगा। इसलिए हिंसक की हिंसा का मुँह ही हिंस्र है, आत्मा मे उसके भी अहिंसा ही है। इसलिए उस मुँह मे झुक जाने मे मुझे क्या डर है। मुँह भर जायगा और पेट में समाई न रहेगी, तब फिर हिंसा कैसे टिकेगी ? अत मेरे वहाँ झुक पडने मे ही लाभ है। मेरा लाभ और सबका लाभ।

ऐसी अहिंसा लहू का सागर देखकर भी अचल रहेगी। उसे क्या घबराहट ? यहाँ तक कि लहू से लहू वाले घबरा जावें, पर अहिंसक क्यो घबरायेगा ?

क्रूर की सहिष्णुता की शक्ति बहुत थोडी होती है। सौ-हजार-लाख आदमियो का खून वह देख लेगा। पर अपने ही बच्चे का खून वह नहीं देख सकता, हिल जायगा।

अहिंसक में अपना और अपनो का खून बहते हुए देखने की तैयारी चाहिये। और इस सहिष्णुता को शत्रु का खून लेने की लालसा न थामती हो। क्योकि तब तो वह सहिष्णुता ही क्या रही। नही, शत्रु का प्रेम उसे थामता हो। और यदि सच्ची अहिंसक सहिष्णुता है तो असम्भव है कि यह, काफी परिमाण में मिलने पर, क्रूर की क्रूरता को पार कर उसके भीतर की कातरता को भी न छू ले। तब क्रूर अपने ही रोग—क्रूरता—से छूटकर स्वस्थ स्निग्ध मानव दिखाई दे आयगा।

अर्थात्, युद्ध बिना तो जीवन की गति साधना असम्भव है। उसमें नाश की पुकार लचर है। महाकाल तो सबको ग्रास बनाये ही जा रहा

है। क्या रहा है ? क्या रहेगा ? पर एक बात से इन्कार नही किया जा सकता। वह यह कि हमारा युद्ध उठना जा रहा है। उसकी भूमिका आज बदल रही, बदल गई है।

युद्ध मै चाहता हूँ। पर आज बीसवी सदी मे शर्म की बात होनी चाहिये कि हम अन्तर्राष्ट्रीय बातो को निपटा न सके और उसके लिए मार-काट पर उतारू हो जावे। युद्ध का यह रूप आज लज्जाजनक, अपमानजनक हो जाना चाहिए। अब समय आ जाना चाहिए था कि हम इतने सभ्य होते कि हमारा युद्ध भी लहू की प्यास और गोलो की मार से ऊँची कोटि पर चलता। वह समय आ जाना चाहिए था कि हमारा दुश्मन हमसे डरता नही, बल्कि दुश्मन है इस कारण वह हम से और भी नि.शङ्क रहता। सभ्यता की यदि कुछ सार्थकता है तो यही सार्थकता है।

युद्ध को मै धर्म मानता हूँ। प्रति-पक्षी को हम कह दें कि हमारा यह पक्ष है। कह दें कि जब तक मैं हूँ तुम्हारा बाल-बाँका न होगा। कह दें कि तुम आजाद हो कि जो चाहे मेरा करो। पर जो सच है वह मेरे पक्ष है, उसमें मौत मुझे प्रसाद है। तुम्हारे पास ज़ोर है, यही तुम्हारी हार है। मै सब ज़ोर को किनारे करके तुम्हारे आगे होकर कहता हूँ कि तुम जोर जतलाने की कमज़ोरी को छोड दो। तब तुम भी देख लोगे कि ज़ोर के नशे में तुम हक को भूल बैठे थे, इसी से मै जो कहता था उसमें प्रेम नही, स्पर्द्धा देखते थे। परन्तु अभी तो तुम पर सत्ता का गुमान सवार है, और मै भी हक से डिग नही सकता हूँ। तुम्हारा ज़ोर है कि आज़माओ। मेरा हक तो अपनी आज़माइश ही है।

मै मानता हूँ कि हम अपनी बर्बर अवस्था से काफी आगे आ गये है। अपने बारे मे अविश्वास से और कब तक काम लेंगे ? हथियार अविश्वास की निशानी है। आत्मविश्वासी नि शस्त्र रहता है। इतिहास अब समय की बाट देखता है कि मानवता अपने ही अविश्वास के साथ

लडे । लडना कभी रुका है ? साँस लेते है, इसमें भी लडना समाया है । हर घडी हर पल क्या हम मौत से, रोग से और उसके कीटाणुओं से लडते हुए ही जिन्दा नही है ? स्वास्थ्य कुछ है तो प्रतिकार की शक्ति (Power of Resistance) है ।

इससे युद्ध तो होगा, पर वह अहिंसा का हिंसा से युद्ध होगा । हिंसा अविश्वास है । वह आदमी की हार है, और पशु की जीत है । आत्मा की पराजय और अनात्म की विजय है । वह प्रतिक्रिया है, मुक्ति से उल्टी बन्धन की गति है ।

मै मानता हूँ कि मानवता के इतिहास में जितने युद्ध लडे गये हैं उनमे से पार होकर मानवता जड से चेतना और अनात्म से आत्मा की ओर गति करती आई है । जान में कि अनजान में, ऐसा ही हुआ है । और अब हम उस वैज्ञानिक क्षण पर आ गये है जहाँ राजनीति की हिंसा के साथ नीति की अहिंसा को लेकर जूझने से न बचें ।

हिंसा की जीत सगठन में देखी जाती है । अहिंसा की हार इसी में होती रही है कि वह व्यक्तिगत दायरे मे अपना संतोष और मोक्ष खोजती रही है । पर वह अहिंसा स्वरत्यात्मक है । अहिंसा को सामाजिक बनाना होगा यानी समाज के ढाँचे को ही अहिंसक रूप देना होगा । हिंसा के मुँह के आगे भी ऐसा करने में लगे रहना होगा । तब एक ऐसी अहिंसक शक्ति पैदा होगी कि हिंसा का बढ-से-बढकर सगठित मोर्चा उसके आगे बेकार हो रहेगा ।

लेखक और क्या करे ? क्या वह निहित स्वार्थों, सँकरी वृत्तियो और क्षुद्र अहकारो को स्नेह और सहानुभूति के प्रवाह से किंचित् कोमल और कम कठिन ही बनाने मे नही लगा रहा है ? क्या वह भेद की दीवारो को ढीली और पारदर्शी ही नही बनाने के प्रयत्न में रहा है ? क्या वह भीतर जकडे हुए संवेदन को खोलकर मुक्तिदान देने मे ही

नही अपने को सार्थक मानता रहा है ? क्या उसने हमें रुलाया नहीं है कि हमारा अभिमान आँसू मे गलकर बह जावे ? क्या वह ही हमे हँसाता नही रहा है कि अपनी अस्मिता से उबरकर हम खुले और ताजा बनें ? क्या वह हमारी बुद्धि को दम्भ मे हलका नही करता आ रहा और भावना को प्रशस्त ?

यदि, और जो, लेखक यह करता रहा है वह दम्भ-अर्थात्-हिंसा और अविश्वास-अर्थात्-शस्त्र के विरोध मे निर्भीकता-यानी-अहिंसा और विश्वास यानी-प्रेम का ही पक्ष ले सकता है। प्रेम से वैर, विश्वास से भय और समर्पण से शस्त्र को जीतने की ठान रखने वाला सांस्कृतिक युद्ध साहित्यिक का है। वही असल युद्ध है। श्रेष्ठ योद्धा उसी मे जूझता है।

लेखक श्रेष्ठ योद्धा न हो, यह तो समझ में आता है। पर वह श्रेष्ठ युद्ध को न पहचाने और उसके पक्ष से बचे यह समझ मे आने की बात नही है।

परिशिष्ट

मेरे 'युद्ध और लेखक' लेख पर फरवरी के 'हंस' में तीन भाइयों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। अपने प्रति तीनो की सद्भावना का मैं विश्वासी हूँ। किन्ही के वक्तव्य में मेरे लिए कुछ अप्रिय विशेषण आ भी गये है तो मैं जानता हूँ कि वे उनके बावजूद आ गये है, लेखकों को वे उद्दिष्ट नही है। उन तीनो लेखों को मैं ध्यानपूर्वक देख गया हूँ और सफाई मे कुछ कहना जरूरी समझ उसकी इजाजत चाहता हूँ।

१—लेख में युद्ध और संघर्ष को दो अर्थों में मैंने नही देखा है। उनमें दो-पन देखने के लिए अनावश्यक बारीकी से काम लेना होगा। संघर्ष युद्ध की आन्तरिकता का द्योतक है, युद्ध कुछ बहिरंगवाची है। तत्त्वतः दोनो एक है।

२—इंगलैंड के अथवा जर्मनी के पक्ष को आज की योरुप की लड़ाई में कम अधिक न्याय का पक्ष कहने का बोझ उस लेख में मैंने किसी जगह

भी अपने ऊपर नही लिया है। नहीं कह सकता कि फिर वह भ्रम कैसे हुआ। मेरे लेखे योरुपवाली आज की लडाई दो अहकारो की लडाई है। भला अहकार भी कभी न्याय्य हुआ है ?

३—लेख के आरभ मे युद्ध का, रक्तरजित युद्ध का भी, समर्थन प्रतीत होता है। हाँ, वह समर्थन है भी। साथ ही पैसिफिज्म पर व्यग भी प्रतीत होता है। वह व्यग भी वहाँ है। युद्ध का मै विरोधी हूँ, पर युद्ध से नीची जमीन पर खडा होकर नही, उससे ऊची जमीन पर खड़े होकर वह विरोध करना चाहता हूँ। 'हाय ! मेरा बेटा मर गया !' 'हाय रे मै लुट गई !' 'विधवा हो गई !'—इस तरह की भावुकता की सतह से युद्ध का विरोध निरर्थक है। निरर्थक ही नही, अनर्थक है। यह कायरता है। हिंसा बुरी है, लेकिन अहिंसा से वह बुरी है, कायरता से वह अच्छी भी हो सकती है। युद्ध को जब मैने अच्छा कहा है तो इसी सापेक्ष भाव में। रक्तरजित युद्ध जड-जीवन से बेशक अतुलनीय रूप से अच्छा है। लेकिन युद्ध इसलिए गलत नही है कि वह युद्ध है, बल्कि इसलिए गलत है कि वह अहिंसक नही है। जैसे कि मरने से जीना अच्छा है, चाहे वह जीना फिर सदोष भी हो। इसी भाव मे मैने कहा कि युद्ध तो अनिवार्य है। जीवन की वह परिभाषा है। चैतन्य का जडता से युद्ध ही क्या जीवन की प्रगति नही है ? वह युद्ध मिटा कि जीवन ही गिर गया। लेकिन युद्ध की अनिवार्यता के साथ विकास की यह भी अनिवार्यता है कि वह युद्ध अधिकाधिक हिंसा के विरोध में अहिंसा की ओर से किया जाय। मैने कहा सास्कृतिक युद्ध। लेखक उत्तर अफ्रीका की युद्ध भूमि मे बिना जाये भी उस युद्ध में यही रहकर योद्धा हो सकता है। जिस काम में और जिस नगर या जिस पडोस में है वही रहकर वैसा योद्धा बन सकता है। और वैसे योद्धा से किसी प्रतिपक्षी को खतरा नही है, सबका भला ही है।

४—दूसरे लेख में ठीक कहा है कि वर्तमान युद्ध से तो हिन्दुस्तान के

लेखक को कुछ लेना-देना नहीं हो सकता और कि यहाँ के लेखक को तो यहाँ की परदेशी सरकार से छुट्टी पाने के लिए क्रान्ति करनी चाहिए क्रान्ति से मेरा सामने-सामने का परिचय नहीं है। उस चीज को जिसको क्रान्ति कहते हैं मैं चाहता हूँ कि इसी क्षण में मैं करने लग जाऊँ। पर कर्म की पकड़ में तो वह तब आवे जब पहले विचार की पकड़ में वह आ जाय। काव्य में क्राति शब्द का प्रयोग मुझे सुन्दर मालूम होता है। वहा मैं उसका कायल हूँ। पर विचार और कर्म मे क्राति शब्द फटकर कुछ रूखी यथार्थताओं में बिखर जाता है। प्रतीत होता है कि यदि कोई क्रान्तिकारी है तो वह ऐसा व्यक्ति है जिसके मुँह से क्राति शब्द निकलता तक नहीं है और जो अपने को इतना सामान्य आदमी देखता है कि समझ नहीं पाता कि किस ओर से वह क्रान्तिकारी है। अर्थात् क्राति का मैं कायल हूँ, पर काव्य की क्राति आज कर्म मे चरखा बन रहनी चाहिये। जो क्राति का सपना नहीं बल्कि क्रान्ति का काम चाहता है वह चरखे को हाथ में ले ले। तब ज़बान पर से क्रान्ति उड़ जायगी और वह मुट्ठी में आ जायगी।

यानी हिन्दुस्तान में जो युद्ध के खिलाफ अहिंसा का युद्ध छिड़ा हुआ है, लेखक देखे कि वह उसमें किस ओर से सहयोगी हो सकता है। बैठे नहीं, अप्रभावित भी न रहे। बल्कि सचेष्ट हो और चुनौती दे कि हम नहीं लड़ेंगे, तुम्हारी लड़ाई के असत्य के साथ हमारी यही सत्य की लड़ाई है।

कहा जा सकेगा कि यह तो निश्चेष्टता है। पर निश्चेष्टता का परिणाम क्या कभी जेल भी होता है? जिसका परिणाम एक के हक़ में जेल भेजने तक होता है वह निश्चेष्ट नहीं है। वह वस्तु यों देखने में छोटी दीखे, प्रभाव में बड़ी भी हो सकती है।

४—तीसरे लेख में एक बात पते की कही गई है। वह यह कि प्रश्न की मेरी पकड़ भावात्मक है। मैं इससे सहमत हूँ। कहा है कि इसलिए वह भोली है। मैं इससे भी सहमत हूँ। पर मैं मानता हूँ कि इसी कारण

वह सच्ची भी है। बुद्धि को बल किसमे मिलता है ? गति किस से मिलती है ? वही भाव। बुद्धि क्या अपने आप मे बध्या नही है ? कौन नही जानता कि बुद्धि को चलाओ और उसे चलने दो तो पूरा चक्कर काट कर वह अन्त में अपने तक ही लौट आती है यानी, सब तर्क आत्म-रक्षात्मक है। Argument is but self-justfication. इसलिये जहाँ पकड भावात्मक नही हो पाई है वहाँ बुद्धि चक्कर मे जितना भी चल ले, तीर की तरह आगे नही बढ पाती।

बुद्धि को मै इस्तेमाल करूँगा, पर जिस क्षण उसकी गुलामी मै करने लगूँगा उसी क्षण से उसके इस्तेमाल के लाभ से भी अपने को वचित बना लूँगा। यह मेरा विश्वास है, क्योकि यह मेरा अनुभव है। बुद्धि को बुद्धि न रहने देकर बिचारी को परमात्मा के आसन पर बिठाकर मै उसे अपने व्यंग से अपमानित कैसे करूँ ? उस बुद्धि को नशा हुआ है, या वह बचकानी है, जो उस आसन पर बैठने का अवसर पाकर गर्वोद्धत होती है। परिपक्व बुद्धि का लक्षण उसका शील है। वह नम्र है, मर्यादापरायण है। वह सेवाकाक्षिणी है। बिचारी को उसकी कमसिनी में गहने लादकर और कच्चे प्रेम के उपहार देकर अहकारिणी बनाने का सामान कोई यदि करता है तो वह उसका मान नही अपमान करता है।

बुद्धि भावानुगामिनी भी इसीलिए है कि वह भावप्रेरित है। भावहीन बुद्धि की मै कल्पना नही कर सकता। और वैसी कोई चीज कही हो तो उसकी पकड में ही सत्य है, यह मै कैसे मानूँ ?

६—हैनरी बारबूज, गोर्की और रोम्याँरोलाँ की लेखकी सफल इसी-लिए तो है न कि उन्होने सत्ता के दर्प को नही माना और मानवता के हित की टेक को नही छोडा। बेशक लेखक का यदि कुछ काम है तो यही काम है। मैने अपने लेख में भी तो वही कहा है।

७—अन्तर एक रहता है। विरोध (युद्ध के विरोध) का रूप क्या

हो ? साहित्यिक की ओर से उस विरोध का रूप मैं मानता हूँ कि अहिंसक ही हो सकता है। क्योंकि वह राष्ट्र की, जाति की, या सम्प्रदाय की सेना का सिपाही नहीं, मानवता के शाश्वत और सत्य-धर्म का सिपाही वह है। उसे किसी दूसरे राष्ट्र, किसी दूसरी जाति या किसी दूसरे सम्प्रदाय को पराजित करने या नीचा दिखाने की लालसा नहीं है। इसलिए किस बहाने किसका खून बहाने को वह तैयार हो ? वे सब बहाने हैं जो आदमी को आदमी से मरवाते हैं। उन सब बहानों के जाल से लेखक मुक्त होगा, क्योंकि वह हिंस्र वासना से मुक्त होगा।

८—'फासिस्ट', 'प्रतिक्रियावादी' आदि शब्दों के प्रयोग के पीछे मेरे प्रति अतृप्त-सद्भावना का आक्रोश हो सकता है। इसलिए मैं उन विशेषणों को भी स्वीकार करता हूँ, उन्हें लौटाल नहीं सकता। पर उनसे विषय को समझने में या समझाने में मुझे मदद नहीं मिलती। वादों के सहारे निर्विवाद तथ्य को पकड़ने में अपनी असमर्थता स्वीकार करता हूँ।

: ३३ :

हिन्दी और हिन्दुस्तान

भाइयो,

आपने इस सघ के वार्षिकोत्सव पर इतनी दूर से मुझे बुलाया, इसमें मेरे सम्बन्ध मे कुछ आपकी भूल मालूम होती है। आ तो मैं गया, क्योकि, इन्कार करने की हिम्मत मुझे नही हुई। लेकिन अब तक मुझ को आश्वासन नही है कि आपने मुझे बुलाकर और मैने आकर सत्कर्म किया है।

लेकिन जो हुआ, हो गया। अब तो हम सब को उसका फल-भोग ही करना है। और इस सिलसिले में आपके समक्ष पहले ही यह कहना मेरी किस्मत में बदा है कि मैं साहित्य का ज्ञाता नहो हूँ; साहित्य में विधिवत् दीक्षित भी नही हूँ।

लेकिन साहित्य-सम्बन्धी उत्साह के बारे में भी मेरा अनुभव है कि किन्ही लौकिक हेतुओ पर टिक कर वह अधिक प्रबल नही होता। लाभ और फल की आशा मूल में लेकर कुछ काल बाद वह उत्साह मुर्झाने भी लगता है। स्थूल लाभ वहाँ नही है। इसलिए साहित्य सम्बन्धी उत्साह को अपने बल पर ही जीवित रहना सीखना है। अधेरे से घिर कर भी बत्ती जैसे अपनी लौ में जलती रहती है और जलकर उस अधिकार के दृश्य को प्रकाशित करती है, उसी भाँति, उस उत्साह को अपने आप में जलते रहकर स्व-पर को प्रकाशित करना है। साहित्य का यही विलक्षण सौभाग्य है,—दुर्भाग्य इसे नही मानना चाहिए। अमान्यता के बीच में वह पलता और जीता है, फिर भी, चूँकि श्रद्धा-स्नेह का बल उसे थामे है, वह हारता नही, गिरता नही,—अपनी यात्रा पर बढता ही जाता है।

इससे देखने म आता है कि आज विपुल अधकार मे घिरकर भी उसमे लडते रहने वाला साहित्य कल के नन्हे मे उजाले को भी जन्म देता है। आज का साहित्य कल की राजनीति बनता है, कारण, भावना है साहित्य, तो घटना है राजनीति। प्रत्येक घटना के हृदय म भावना है। घटना भावना का प्रकट फल है और वह हम को चमत्कृत करती है। पर, घटना का मूल तो भावना मे है, जो अदृश्य है। और अदृश्य है इसी से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इसलिए इस ओर जिसने कदम उठाया है उसको मान लेना चाहिए कि उसके एवज मे किसी ऐहिक फल की कामना और प्रत्याशा उसको नही हो सकती,—दावा कुछ नही हो सकता। प्रेम की राह उसकी राह है और प्रेम की राह दूभर है। प्रेम मूक सेवा मे सफल होता है। प्रेम यदि गहरा है तो मुखर नही है। वहाँ आवेश इसीलिए नही हो सकता कि वहाँ भावना की इतनी न्यूनता ही नही है।

यह मै इसलिए कहता हूँ कि व्यक्ति के कुछ लौकिक कर्तव्य भी होते है। व्यक्ति निरा आदर्शपुंज ही नही है। ऐसा हो, तो आदर्श का कुछ मूल्य ही न रहे। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाज से बाहर उसे साँस लेने मे भी कठिनाई होती है। एक तल पर पहुँचकर सामाजिक कर्म राजनीतिक स्वरूप इख्तियार कर लेते है। मानव-कर्म में राजनीति का भी समावेश है। राजनीति मे युद्ध और विग्रह भी आता है। आता क्या, वहाँ विग्रह प्रधान बनता है। वह उपादेय भी है,—राजनीति किसी भाँति वर्जनीय नही है। उस राजनीति में अनिवार्यतया दल बनते है। उन दलो में परस्पर रगड़ होती है और जोश पैदा होता है। उस जोश मे जिन्दगी का बहुत काम निकलता है और वह आवश्यक भी मालूम होता है।

लेकिन, उन सब लौकिक कर्मों की भीड में, विग्रह-घमसान और जय-पराजय के बीच, क्या हमको शाति की साधना और उसकी स्थापना ही नही करनी है? युद्ध यदि क्षम्य है, और क्षम्य के बाद जायज है, तो

तभी कि जब वह शान्ति की चाह मे किया जाता और उसे निकट लाता है। इस लिहाज़ से युद्ध के बीच में भी शान्ति पर जोर देना अप्रासंगिक नही है। बल्कि, शुद्ध प्रासंगिक वह तभी है। मानसिक शान्ति धारण करने मे सच्चा युद्ध करने की व्यक्ति की क्षमता कुछ बढ ही जाती है। अत अपने लौकिक कर्तव्यो का समर्थन हमे अधिक व्यापक अथच मानवीय कर्तव्य की धारणा मे से पाना होगा,—राजनीति का समर्थन सर्व-सामान्य मानव-नीति में से प्राप्त करना होगा। वह कर्म बन्धन-कारक है कि जिसमे हित भावना नही है, और जिसमें सर्व-हित भावना है उसी को कहना चाहिए साहित्य। जब और जहाँ प्रवृत्ति उस दिशा की ओर न चले, सर्वहितात्मकता से उलटी चले, वहाँ मानव का भ्रम मानना चाहिए। शक्ति के अथवा किसी दूसरे मोह में ऐसा होता देखा जाता है, स्व-पर-हित का ध्यान भूल जाता है और कर्म मे आसक्ति-भाव आ जाता है। ऐसे स्थल पर उस अविवेक का आतक कभी स्वीकार नही करना चाहिए, क्योकि वैसा करने में आतककारी का अहित है।

ये बातें कहते समय मेरा ध्यान अपने हिन्दुस्तान की हालत और हिन्दी-साहित्य की हालत पर जाता है। भारत-राष्ट्र की स्थिति आज आदर्श नही है। वह पराधीन है, दीन है, हीन है। फिर भी आत्मा उसकी जर्जर नही हो गई है, उसमें पराक्रम का बीज है। पिछले कुछ वर्ष इस सत्य को भले प्रकार प्रमाणित कर देते है। वह जाग गया है और अब समर्थ होकर ही दम लेगा। पर हिन्दुस्तान की कठिनाइयाँ उसकी अपनी है। कौन जानता है कि उन कठिनाइयो के हल करने में भारत के भविष्य की उज्ज्वलता का भेद भी नही छिपा है। आज भारत पराधीन है, लेकिन उसका भविष्य उतना ही उज्ज्वल क्यों नही हो सकता जितना पिछली रात की अंधेरी के बाद का प्रभात उज्ज्वल होता है। मेरा उस भविष्य मे और भारत की उस क्षमता में विश्वास है। मै

उस संस्कृति को मरा हुआ नहीं मानता जिसने भारत के महिमामय अतीत को सम्भव बनाया और जिसने उसे अब तक कायम रक्खा है। नहीं तो मिश्र, यूनान, रोम आदि की प्राचीन सभ्यताएं आज कहाँ हैं ? जान पड़ता है कि उस भारतीय संस्कृति-तत्त्व के व्यापक परीक्षण का यह समय आया है और मुमकिन है दुनिया के लिए उसका उपयोग हो।

परिस्थिति की विषमता भी स्पष्ट है। उसपर आँख मीचना नहीं है। भारत आज बंटा है। अनेक स्वार्थ हैं और वे अपने-अपने दायरों में घिरे और लिपटे हैं। भेद-विभेद इतने और ऐसे हैं कि यहां छूत-छात का प्रश्न सम्भव बनता है और लूटमार की नौबत आती है और जब तब साम्प्रदायिक दंगों की खबरें सुन पड़ती हैं। दलितों और दमितों के प्रश्न में भी कोई अनजान नहीं है। जान पड़ता है कि जैसे शासन, विशेषकर यह विदेशी शासन स्थिति को सँभाले हुए भी है, नहीं तो हिन्दुस्तान चौपट हो गया होता। दो में फूट हो तो तीसरे का शासन सहज होता है। मानो हम मिले हैं, या मिले रह सकते हैं, तो तीसरे के संरक्षण के नीचे। यह हालत अस्वस्थ है, लज्जाजनक है और इससे हमें उबरना होगा।

स्थिति की इस विषमता को मुख्यतः से मेरी समझ में दो बातें थामे हुई हैं—शासन-शक्ति का आतंक और उस दृष्टि से आत्मोद्योग का अभाव, तथा अंग्रेजी का मोह और अपने के प्रति तिरस्कार।

इसमें पहली शिकायत को राजनीतिक जागरण और लोकसंग्रहात्मक कर्मों द्वारा दूर करना होगा। दूसरे काम का जिम्मा मुख्यतः साहित्य पर है, क्योंकि वह व्यापक और सांस्कृतिक काम है। वह मानसिकता का रोग है और जरा सूक्ष्म है।

आज यदि सच्ची राष्ट्रभाषा नहीं है या दुर्बल है, सच्चा राष्ट्रीय साहित्य यदि नहीं है या निर्बल है, और प्रान्त-प्रान्त के और सम्प्रदाय-

सम्प्रदाय के आपसी सम्बन्ध यदि आज निर्भीक और सद्भावनाशील नही है तो विशेषकर इसलिए कि हम जिस माध्यम से परस्पर मिलते रहे है, यानी अ`ंजी मे, वह हमारे मन का माध्यम नही है। और जो मन का नही वह सच्चा माध्यम भी नही। उससे ऐसा ही मेल हो सकता है कि प्रयोजन को लेकर ऊपर-ऊपर हम मिले रहे, भीतर मन हमारे फटे रहे। अग्रेजी भाषा का यह अवलम्बन हमारी एकता को खोखला और हमारे अनैक्य को ही हमारे निकट सह्य बनाता है। हमारे साहित्य की न्यूनता और दीनता का मुख्य कारण यह है कि हमारे जीवन मे इस अग्रेजी के कारण फाँक पड गई है। जीवन कट-फँट गया है। घर अलग और दफ्तर अलग हो गया है। गाँव एक ओर रह गया है, शहरी जिन्दगी और ही तरफ बढ रही है। गाँव मे और शहर में, जन-सामान्य मे और समाज-मान्य मे, बिलगाव इतना बढ गया ह कि बीच मे पूरी खाई दीख पडती है। ज्ञात होता है कि उन दोनो में रिश्ता है तो शोषण का, नही तो जैसे और कुछ उनमें आपस मे वास्ता ही नही है। भद्र-वर्ग अग्रेजी पढता-लिखता है और मानता है कि देहाती देहाती है, ससर्ग-सम्पर्क के बिल्कुल योग्य नही है। वह यह नही जानता कि गाँव वाले की भाषा से अपने को तोडकर और विशिष्ट समझे जाने वाले अधिकारप्राप्त वर्ग में अपना नाता जोडकर हाकिमो की भाषा के सहारे वह सच्चे अर्थो में अपने को मजबूत और ज्ञानी नहीं, बल्कि कमजोर और घमण्डी बनाता है। उधर, इस तरह, गाँव का आदमी सस्कृति-विहीन दीन-हीन रह जाता है, यह तो स्पष्ट ही है।

मुझे जान पडता है कि अपनी, देश की या साहित्य की, भलाई की बात करते समय पहली आवश्यकता यह है कि हम मन की भाषा अपनाएँ, अग्रेजी की परावलम्बिता तज दें। अग्रेजी पढे-लिखे सही, क्योकि मुख्यता से उसी के द्वारा भारत औरो को स्वय पा सकता और उन्हें अपना दान कर सकता है, पर उसपर निर्भर न हो रहें। छोटे-बड़े

सब देशवासी अपनी भाषा में अपने को कहने-लिखने लगें तो साहित्य चहुँ-ओर भरा-पूरा होने से कैसे रह सकता है ?

देश जिस भाषा को लेकर एक हो सकता है, जो भाषा राष्ट्र-भाषा हो सकती है, वह हिन्दी है। इस प्रकार भारत के भावी निर्माण में योग देने की सबसे भारी जिम्मेदारी हिन्दी पर आ जाती है। और हिन्दी, अंग्रेजी के समान, हिन्दुस्तान के लिए केवल राजकाजोपयोगी भाषा नहीं है,—वह तो समूचे राष्ट्र की ऐक्य-भाषा बने, ऐसी भी सम्भावना है। तब हिन्दी के साहित्य और साहित्यकारो पर भारी दायित्व आता है। निस्सदेह इस कीमती बोझ के आ पड़ने का कारण हिन्दी-साहित्यकारों के कन्धों की मजबूती और चौड़ाई नहीं है, बल्कि इस भाषा की साधारणता है। यह भाषा भारत के भारी भूभाग में अब भी सुगम है और भारतीय जनता के सबसे निकट है। यह अभी एक दम अंतिम रूप में बन चुकी हुई भाषा नहीं है,—उग रही है, बढ़ रही है और स्वरूप स्वीकार कर रही है। इसके राष्ट्रभाषा बनने के अधिकांश कारण यही है। लेकिन अब इस राष्ट्र की भाषा से उत्तरोत्तर श्रेष्ठता भी क्यों नहीं मांगी जायगी ?

अब इसके स्वरूप के सम्बन्ध में विवाद भी चल रहे हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी चीज़ क्या है ? हिन्दुस्तानी कहकर हम उर्दू के आधिपत्य को तो जाने-अनजाने निमन्त्रित नहीं करते है ? कम-से-कम उर्दू के मेल के खातिर हिन्दी को गर्दन पकड़कर इस भांति उसके सामने झुकाया तो अवश्य जाता है। और वह उर्दू डेढ़-दो प्रान्तो को छोड़कर और है कहाँ कि जिसके लिहाज में 'हिन्दी' के आगे यह 'हिन्दुस्तानी' पद हठात बैठाया जाता है ? हिन्दी की एक निश्चित धारा है, निश्चित सस्कार है। इसी प्रकार उर्दू का एक अपना रुख है और अपनी तरतीब है। जबर्दस्ती दोनो के मेल कराने का नतीजा दोनो की अपनी

खूबियो से हाथ धोना होगा और इस तरह जो चीज बनेगी, वह भाषा तो होगी नही, विडम्बना होगी।

ऐसे विचार और ऐसी शकाएँ प्रकट की गई है। उन पर प्रतिशकाएं भी उठी है और उत्तर-प्रत्युतर भी हुए है। भाषा के जानकार पडितो का बेशक इस सबन्ध मे सचेत रहना योग्य है। वे अधिकारी व्यक्ति है। पर जिस अर्थ मे मै साहित्य को समझता हूँ उस अर्थ मे, स्वय अपनी खातिर, इस प्रश्न मे साहित्यकार को विशेष महत्त्व और रस नही मिलेगा। भाषा उसके लिए शास्त्रगत तत्त्व नही है, कुछ उससे अधिक आत्मीय है, अधिक सजीव है। वह एक माध्यम है जिसके साथ उसका अतिशय पवित्रता और सस्नेह सावधानता का सम्बन्ध है, आग्रह का सबन्ध नही है। भाषा का सहारा लेकर वह अपने भीतर के अमूर्त को मूर्त करता है। इस भाँति जो भी भाषा प्रस्तुत है, साहित्यकार उसी के प्रति कृतज्ञ है। साहित्यकार भाषा के द्वार पर भिखारी है। जो वहाँ से पा जाय उसी को लेकर वह अप्रस्तुत का आह्वान करता है और इस पद्धति से अनायास ही वह उस भाषा को भावनोत्कर्ष का लाभ भी देता है।

इस दृष्टि से राष्ट्रभाषा के स्वरूप के बारे मे मै एक ही बात जानता और कह सकता हूँ। वह बात यह कि जो भाषा जितने अधिक राष्ट्र के भाग के साथ हमे स्पर्श मे ले आती है वह उतनी ही अधिक राष्ट्रभाषा है, जितने घनिष्ठ और आत्मीय स्पर्श में लाती है उतनी ही उत्कृष्ट (=राष्ट्र) भाषा है। किन्तु इस भारतवर्ष में न जाने कितनी भाषाएँ, कितनी जातियां और कितने वर्ग है। उनके अपने स्वार्थ है, अपने आग्रह और अपने अहकार हैं—सब को अपने सस्कार रुचिकर है। लेकिन राष्ट्रभाषा किसी का तिरस्कार नही कर सकती। जो राष्ट्र के लिए ऐक्य-विरोधी है. उसी का विरोध राष्ट्रभाषा में हो सकता है, अन्यथा उसकी गोद सब के लिये खुली है। उस राष्ट्रभाषा के साहित्य-निर्माण में सबको योग-दान करने का अधिकार क्यो न हो? उसके

बनाव-सवार में भी प्रेम-परम्परा त्याग कर निरंकुश किया जाए? इसमें हिन्दी के वर्तमान रूप पर आज की बनावट पर, निस्सन्देह बहुत दबाव पड़ेगा। लेकिन जिसको बड़ा बनाया जाता है उसको उतना ही अपना अहंकार छोड़ कर सबका आभार स्वीकार करना होता है। इसी तरह जब हिन्दी के कन्धों पर भारी दायित्व आ गया है, तब उस हिन्दी को अपना जीवन सर्व-सुलभ, विशद और निराग्रही बनाने में आपत्ति नहीं करनी होगी। उसे अपने योग्य ऊंचाई तक उठना होगा। और जो हिन्दी का साहित्यकार इस विषय में जाग्रत न होकर आग्रही होगा, मुझे भय है कि वह राष्ट्रभाषा हिन्दी से की जाने वाली प्रत्याशाएं पूरी न कर सकेगा।

अब दिन-दिन हमारे जीवन का और अनुभूतियों का दायरा बढ़ता जाता है। हमारी चेतना घिरी नहीं रहना चाहती। हम रहते हैं तो अपने नगर में, पर जिले और प्रान्त के प्रति भी आत्मीयता अनुभव करते हैं। इसके आगे हमारा देश भी हमारे लिए हमारा है। उसके भी आगे अगर हम सच्चे हैं और जगे हुए हैं, तो इतने में भी हमारी तृप्ति नहीं है। हम समूची मानवता को, निखिल ब्रह्माण्ड को, अपना पाना चाहते हैं। 'हम सब के हों', 'सब हमारे हों'—यह आकांक्षा गहरी से गहरी हमारे मानस में बिंधी हुई है। यह आकांक्षा अपनी मुक्ति-लाभ करने की ओर बढ़ेगी ही। उस सिद्धि की ओर बढ़ते चलना ही सच्ची यात्रा और सच्ची प्रगति है।

अब निरन्तर होती हुई प्रगति के बीच बिलकुल भी गुंजाइश नहीं है कि हम अपने को समस्त से काट कर अलहदा कर लें, वैसी पृथकता भ्रम है, झूठ है। और जहाँ उस पार्थक्य की भावना का सेवन है, जहाँ पार्थक्य सह्य नहीं वरन आसक्तिपूर्वक अपनाया जाता है, वहाँ जीवन निस्तेज और जड़ हो चलता है। यही प्रतिगामिता है, क्योंकि इसके सिरों पर केवल अहंकार है और मौत है।

इसलिए हिन्दी को भी बन्द रहने और बन्द रखने मे विश्वास नही करना होगा। बन्द तो वह है ही नही,—बन्द इस जगत मे कुछ भी नही है। सब-कुछ सब के प्रति खुला है और साहित्य वह वस्तु है जो सब ओर ग्रहणशील है। वह सूक्ष्म चिन्ताधाराओ के प्रति भी जागरूक है, हलका-सा स्पर्श भी उसे छूता और उस पर छाप छोडता है। ऐसी अवस्था मे हिन्दी के साहित्य को विश्व की साहित्य-धाराओ से अलग समझना भूल होगी। आदान-प्रदान, घात-सघात चलता ही रहा है। हम जाने या न जाने, वह सपर्क-सघर्ष न कभी रुका न रुक सकता है। आज जब कि बातचीत और आने-जाने के साधन विद्युद्गामी हो गये है उस साहचर्य को काफी स्पष्टता से चीन्हा जा सकता है। अत आज यदि हिन्दी के प्रस्तुत साहित्य को आँकना हो तो उसे इसी परस्परापेक्षा मे रखकर देखना होगा। और इस प्रकार की सजग सम्यक्-समीक्षा और विद्वान समीक्षको की हिन्दी को आवश्यकता है।

आदमी आदमी के, देश देश के, द्वीप द्वीप के, क्षण-क्षण पास से और पास आता जा रहा है। निस्सदेह इस ऐक्य की साधना मे मानवता को बडे प्रयोग और परिश्रम भी करने पड रहे है। आदमी आदमी में, देश देश मे, द्वीप द्वीप मे डाह और वैर भी दीखते है। महायुद्ध होकर चुका है, छुट-पुट युद्ध आँखो-आगे नित्य-प्रति हो रहे है और आसन्न भविष्य में अगले महायुद्ध की घटाएँ छाई है। उस युद्ध की विभीषिका अब भी मनुष्य के मानस पर दबाव डाल रही है। पर चाहे मार्ग विकट हो, मानवता को उस पर से बढते ही चलना है। मेरी अन्तिम प्रतीति है कि जाने-अनजाने अपनी दुर्भावनाओ और दुर्वासनाओ की मार्फत भी हम अन्तत एक दूसरे के निकट ही आ रहे है। इससे हमें परीक्षणो और विफलताओ से घबराना नही होगा और लक्ष्य पर से आँख नही हटानी होगा।

जीवन की आस्था को, अपनी अन्तस्थ लौ को सभाले रखकर व्यक्ति राह के ऊबड-खाबड़ को पार करता, दुःख-विषाद झेलता, जिये ही

चलता है। कभी त्रास मे गिर जाता है, कभी श्रश्रद्धा से भर आता है। तब वह एकान्त मे ऊपर के सूने को देखता और दो-एक भरी सास छोडकर फिर अपने जी को कसकर चल पडता है। कभी-कभी यह सब-कुछ बहुत भारी हो आता है। यहां तक कि मृत्यु उसे प्रिय और जीवन विष मालूम होता है। ऐसे समय वह आत्मघात भी कर बैठता है। लेकिन जब तक बस है वह जीवन को भाग्य की धारा के साथ आगे खेये ही चलेगा। जीवन के अनेकानेक व्यापारो के मथन मे से जो कटुता का, कल्मष का, व्यथा का गरल उसके कठ में भरता है, नानाविध उपायो से वह अपने भीतर की आस्था के सयोग से उसी को अमृत बना लेगा। उसे पिएगा, पिलाएगा, और चलता रहेगा।

इसी व्यथा-विसर्जन के यत्न म उस मानव द्वारा कला के नाना स्वरूपो को जन्म मिलता है। मानव की अन्तस्थ जीवन-प्रेरणा चुक भले जाय, पर चुप नही रह सकती, और वह बिना चैन, बिना विराम, नये-नये भावो मे अभिव्यक्त होती है। उससे जीवन-यापन मे, जीवन-सवर्धन में बल मिलता है,—उससे एक से दूसरे को रस मिलता है।

इस भांति जीवन में सभी अनुभूतियां उपयोगी है। उन्हें जब हम अपनी आसक्ति से सकीर्ण बनाते है तभी वह निषिद्ध बनती है। उन्ही को जब मुक्त करके विस्तीर्ण करते है, तब वे साहित्य की निधि हो रहती है। इस दृष्टि से, दुःख है कि सुख है जो है—सब वरदान है और भाग्य के सम्पूर्ण दान के लिए हमे उसका कृतज्ञ होना चाहिए। इस भाव से देखने पर साहित्य के निमित्त जीवन, अपने हलके या गहरे, तीखे या मीठे, सब रगो और रसो के साथ हमारी प्रीति और अभिनन्दन का भाजन बनता है।

पर स्वीकृति की इतनी विशाल क्षमता सहसा व्यक्ति मे नही होती। उत्तरोत्तर ही उसकी ओर उठना होता है। इससे व्यक्ति के

साथ बराबर निषेध भी लगा है। वह सब-कुछ नही चाह सकता। कुछ है जो उसे नही चाहना होगा। कुछ उसके लिए निषिद्ध रहेगा, अत कुछ और विधेय। इस द्वित्व के उल्लघन को वह अपने दर्प मे शक्य बनाना चाहेगा तो सिवा व्यर्थता के उसे और कुछ हाथ न लगेगा। हाँ, कोरा शून्य यानी मौत हाथ लगे तो लग सकती है।

आदि-काल से मानव-प्राणी की चिन्ता उठते-उठते इसी प्रश्न मे जा टकराई है और सदा ही टकरा कर पछाड खाकर रह गई है। विधि-निषेध की वह अन्तर-रेखा कहाँ है ? वह रेखा खिची-खिचाई कही नही मिली है और युग-युग में मानव-मनीषा इस बात पर उद्भ्रान्त हो गई है। मानव-जाति के अनेकानेक कल्याणसाधक पथिक उस रेखा की खोज मे दिग्भ्रान्त होकर अकल्याण में जा भटके है। मै अल्पमति उस चर्चा मे बढने की स्पर्धा नही कर सकता। कहना यही चाहता हूँ कि मुझे आशका है कि पच्छिमी बुद्धि वैसे विभ्रम मे पडकर कुछ चकरा रही है।

पच्छिम आज शक्ति-प्राप्त, विभुता-प्राप्त है। इसका मोह-मद भी उसमे घुस गया है। इसी से वहाँ सकट के बादल भी छाये हुए है। उसके नीचे वहाँ का जीवन मानो भ्रमित भाव से गतिशील है। मानो वेग अपने जोर मे विवेक को खीचे लिये जाता हो। वहाँ व्यस्तता है, बेचैनी है, और महँगी है। वही सब कुछ वहाँ के साहित्य में और भी उभार के साथ झलक रहा है। उस अवस्था का त्रास और दाह उस साहित्य में है और उन्माद भी है। निस्सदेह, उनका दूसरा पहलू भी वहाँ है और वह अत्यन्त करुण है। शक्ति की पूजा है तो उसके प्रति विद्रोह भी है। पर सब मिलाकर कुछ ऐसा असामजस्य है कि जैसे लहरें अपने आप में टकरा कर फेनिल और उद्भ्रान्त हो उठी है और किसी को अपनी दिशा का पता नहीं है।

निस्सदेह पच्छिम में जीवन अधिक चुस्त और सजीव है। जडता के लिए वहाँ छिपकर बैठने को भी जैसे ठौर नही है। पर मेरी प्रतीति

है कि स्वास्थ्य का जो तापमान है, उष्णता का माप पश्चिम में उससे ऊँचा पहुँच गया है और वह स्वास्थ्य नहीं, ज्वर है।

मेरी प्रार्थना है कि हम लोग पश्चिम से ईर्ष्या न करें। ईर्ष्या वैसे भी दुर्गुण ही है। वह अपनी हीनता के बोध में से जन्म लेती है और उस हीनता को दूर नहीं करती, सिर्फ दबाती है। मेरी विनय है कि वैसे भाव की आवश्यकता भी नहीं है। हमारे भीतर जो जडता है उससे रुष्ट होकर बुखार को निमन्त्रण देना योग्य नहीं है। उद्भ्रान्त पुरुष निर्वीर्य मनुष्य से बहतर हो, पर उस कारण वह भ्रान्ति स्तुत्य न होगी। पश्चिम से हमें बहुत कुछ सीखना है, पर सीखना विवेकपूर्वक ही हो सकेगा। अपने को खोकर सीखा कुछ न जायगा, उल्टे यो स्वय मिटने का उपाय हो जायगा। पुरुष का पुरुषार्थ तो अपने को पाना है।

उस आत्मलाभोन्मुख पुरुषार्थ की हिन्दी में आवश्यकता है। पश्चिम की विभुता के आलोक मे अपने को खोने की उद्यतता के लक्षण हिन्दी मे अनुपस्थित नही है, इसी से ऊपर की बात कही गई है। जहाँ से लाभ लेना है वहाँ से लाभ न लेकर आतंकपूर्वक उसका अनुकरण करने लगना सही उपाय नही है। और मुझ को स्वीकार करना चाहिए कि आज के प्रचलित पश्चिमी साहित्य में मुझे मिर्च अधिक मालूम होती है, पोषक तत्त्व कम। मिर्च का असर तुरन्त होता है, जरा आदत पडने पर उसका स्वाद भी अच्छा लगने लगता है, पर वास्तव जीवन को तो पोषक तत्त्व की ही अधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से मुझे यह भी कहना चाहिए कि इधर के साहित्य से भी पश्चिम कुछ ले सकता है और वह ले रहा है।

अपने प्रति सगर्व होना अहकार का लक्षण है और आज के हिन्दी-साहित्य की अवस्था पर गर्वस्फीत होने का कोई बहाना भी नही है। पर आत्म-ग्लानि की तो और भी किसी प्रकार गुंजाइश नही है, और न अन्य भाषाओ के प्रति तनिक भी डाह-पूर्ण लालसा से देखने का

अवकाश है। मुझे हिन्दी के प्रेमचन्द, मैथिलीशरण और प्रसाद पर तनिक भी लज्जा नही है। तुलनाएँ भ्रामक होती है, लेकिन गहरी समीक्षा-बुद्धि के साथ देखने पर भी मुझे हिन्दी की ओर से क्षमा-प्रार्थी होने की आवश्यकता इधर वर्षों मे कभी प्रतीत नही हुई। तिस पर हिन्दी की कुछ अपनी लाचारियाँ है। उसका कोई एक प्रान्त नही है, कोई एक विशिष्ट सस्कृति-केन्द्र नही है। उसकी लिखने की भाषा ज्यो-की-त्यो शायद ही कही बोलने की भी भाषा है। इस प्रकार उसको वह घनिष्ठ सहयोग और सामाजिक अथवा प्रान्तीय भाईचारे की सुविधाएँ प्राप्त नही है जो भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओ को उपलब्ध है। लेकिन, कौन जानता है कि ये ही असुविधाएँ आगे जाकर उसकी हितसाधक ही न बन जावे? और इधर आकर जिस वेग से हिन्दी बढ रही है, देखकर हर्ष होता है।

किन्तु साहित्य की बात करते समय किसी को किसी का प्रतिनिधि बनने की आवश्यकता नही है और मुझे जान पडता है कि एक भाषा के माध्यम द्वारा आत्मसाधन अथवा आत्मदान करने वाला साधक साहित्यकार उस अमुक भाषा-क्षेत्र की बपौती नही होता। भाषा उसकी सीमित है, पर प्राण उसके व्यापक है। वह उस भाषा की राह से सम्पूर्णतया उस महाचेतना के आलिगन मे पहुँचना चाहता है जिसके लिए सब समान है। वह कवि इसलिए नही है कि एक भाषा उसके नाम को लेकर फूले और दूसरी भाषा को तिरस्कृत करे। वह अपनी भावनाओ की व्यापकता के कारण सब के लिए प्रार्थनीय और आत्मीय बनता है।

फिर भी, हम हिन्दी के इतने अपने है कि उससे असन्तुष्ट होने का हमारा हक है। सतत अभिलाषा जीवन का लक्षण है और हम में असन्तोष नही है तो हमारी उन्नति की सम्भावना भी नही है। इस दृष्टि से मैं कुछ उस दिशा की ओर संकेत करना चाहता हूँ जिधर सगठित प्रयत्न की आवश्यकता है।

जीवन की कशमकश बढ़ती ही जाती है। आदर्शोन्मुख भावनाएं उसके बीच पनपतीं नहीं। युवावस्था पार होते न होते व्यक्ति आदर्श से मानो हाथ धो लेता है और गनीमत मानता है। फिर दुनियादारी को ऐसा पकड़ता है मानो वही सार है शेष सब निस्सार है। तब बड़े शब्द खोखले, ऊंची भावनाएं भ्रम, और सदाशयता उस के लिए भावुकता हो जाती है। वह इस प्रकार अपनी अन्तरात्मा की अवज्ञा करता है और अनात्म की सेवा में लीन होता है।

पर इसका उपाय? प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में सद्भावना की ज्योति को जगाए रखा जाय तो कैसे? साधारणतया वह जोत जगती है कि झोका आता है और वह बुझ जाती है। समाज का आर्थिक विभाजन ऐसा विषम है और परिणामत जीवन ऐसा दुरूह कि अकेली सद्भावना को टिकाए रखना कठिन होता है। उपाय यही है कि परस्पर के सहयोग और स्पर्श से उस जागृति को कायम ही न रक्खा जाय प्रत्युत उसे ज्योतिर्मय और कार्यकारी बनाया जाय। आशय यह कि सर्व-हित भावना को बीज-भूत और फलरूप दोनों भाव से स्वीकार करके आप के सुहृदसंघ के समान संघ जगह-जगह बनें। वे उतने विधान-जड़ित दल न हों जितने चैतन्य के केन्द्र हों। बुद्धि का विकास, बुद्धि की मुक्ति और सर्वहित-साधन यह उनका लक्ष्य हो और विज्ञापन की मनोवृत्ति से वे परे हों।

दूसरे एक ऐसे केन्द्र की भी आवश्यकता है जो तमाम हिन्दी साहित्य की प्रगति को एकता के दृष्टिकोण से देखे, स्थानीय दृष्टिकोण से बिल्कुल न देखे। उसके द्वारा साहित्यिक जागरण को सगठित किया जा सके और विकृत-विपरीत साहित्य की बाढ को रोका जा सके। इस के जन्म में और विधान में विशुद्ध सांस्कृतिक और नैतिक भावना होनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ऐसे केन्द्र के निर्माण में बहुत उपयोगी हो सकता है।

लोक-जीवन को बनाने और सँभालने में साहित्य का जो भाग है,

उस पर यहाँ कुछ कहना आवश्यक है। साहित्य समाज को व्यक्ति-हृदय के द्वारा छूता और जगाता है। मुझे जान पडता है कि जीवन का वास्तव निर्माण उसी राह से होगा। नहीं तो समाज अपने में स्वरूपहीन चीज है। व्यक्ति नही सुधरता तो समाज कैसे सुधरे ? समाज कितना भी बिगडा हो, व्यक्ति अपने से तो सुधार का काम इसी क्षण से आरम्भ कर सकता है। ऐसा न करके प्रस्ताव और प्रचार का पीछा पकडकर सुधार की आशा करना दुराशा है।

आत्म-निर्माण मे समाज-निर्माण का बीज तो है ही, फल भी है। व्यक्ति समाज की इकाई है, और इकाई ही नही वह असल मे स्वय समाज का बीज है। साहित्य उस व्यक्ति के हृदय को ही लक्ष्य मे रखता है, कारण, सब महान परिवर्तन हृदय मे ही जन्म लेते है। ऊपरी कुछ परिवर्तन यदि किया भी जा सके तो तब तक निरुपयोगी है जब तक हृदय भी अनुरूप परिवर्तित नही हुआ है। इस प्रकार, लोक-जीवन के निर्माण का सच्चा उपाय वह साहित्य रह जाता है जो व्यक्ति के हृदय को स्पर्श करके सस्कारी बनाता है। व्यक्ति का सस्कार समाज मे फिर फैलता ही है। और अगर चिनगारी सच्ची है तो आग दहकने मे थोडी फूँक ही चाहिए और फिर तो वह फैली ही रक्खी है।

इस निगाह से राजनीतिक कर्म तब तक अधूरा है जब तक साहित्यिक परिपोषण उसे प्राप्त नही है। प्रस्तावो के पीछे प्राणो का बल न हो तो वह उस कागज की कीमत के भी समान नही जिसपर वे लिखे हो। आशा करनी चाहिए कि जीवन-चिन्तक और लोक-नायक दोनो इस विषय मे सचेत होकर सगठित उद्योग करेगे। यहाँ आते वक्त एक हितैषी ने कहा था कि साहित्य-सर्जन मे योग देने वाले साथियो से तो मै खुलकर ही बात करूँ, लेकिन साहित्य के बारे मे प्रामाणिक जानकारी मेरे पास क्या है ? थोडा पढा हूँ, उसके बाद सीखा भी विशेष नही हूँ। यह सुनकर लोग कहते हैं, 'देखा! पहले तो घमड, और फिर उसपर

दंभ ! वह समझते हैं यह मेरा पाखण्ड है और भीतर के घमण्ड पर जरा मिठास का लेप देने के लिए है। वे मुझपर अदया करते हैं। कुछ मित्र अपने मन ने प्यार नाचियों के द्वारा मानो कहना चाहते हैं कि 'थोड़ा पढ़े हो तो लज्जित क्यों नहीं होते ? गर्व के साथ बघारते क्या फिरते हो ? धिक् है इस तुम्हारी गुस्ताखी पर। अपने मुँह से बड़ी-बड़ी बातें निकालते हो, फिर कहते हो मेरा मुँह छोटा है ! छोटा मुँह है तो उसे मत खोलो ! क्यों बड़ी बातों को भी उस मुँह से निकाल कर उपहास्य बनाते हो ?' सच, नहीं जानता कि मैं इन बातों का क्या जवाब दे सकता हूँ। जवाब मेरे पास है ही नहीं मैं अपने को दोषी कबूल करता हूँ। लेकिन दोष तो तभी हो गया जब पहलेपहल कलम मैंने उठाई। आप कहोगे—कलम उठाई ही क्यों ? बेशक यह संगत प्रश्न है, और यही मैं अपने से पूछा करता हूं। पर उत्तर में सिर झुका रह जाता है, कुछ बोल नहीं मिलता। आज भी मुझे अचरज है कि किस बूते पर मैंने कलम उठाई और किस बल पर मैं उसे चलाता भी रहा। लेकिन, सच बात यह है कि यदि मुझे स्वप्न में भी कल्पना होती कि मेरा लिखा छापे में आ जायगा तो लिखने का दुस्साहसिक कर्म मुझ से न बनता। इसी से जब मैं पढ़ता हूं कि ईश-कृपा से बहरा भी सुन पड़ता और मूक बोल उठता है, और उस ईश-महिमा से पंगु भी गिरि लाँघ जाता है, तब, यह देखकर कि मैं लिखता हूँ, मुझे उस सब अनहोनी के होने का भी विश्वास हो जाता है। इसलिए घमंड-पाखण्ड की सब बात परमात्मा ही जाने। उसकी कृपा हुई होगी कि मैं कुछ लिख भी सका, नहीं तो—लेकिन, उसे छोड़िए। अब मैं पूछता हूँ कि जो मैंने आरम्भ में लिखा, क्या 'स्वान्तः सुखाय' लिखा ? मुझे नहीं मालूम। जो करता हूँ मैं अन्तः सुख के लिए करता हूँ या परिस्थितियों के कारण करता हूँ—यह मैं खोलकर समझ नहीं पाता हूँ। अलबत्ता इतना जानता हूँ कि आरम्भ में जो लिखा, वह

किसी भी प्रकार किसी के उपकार, सुधार या उद्धार का प्रयोजन बाधकर मै नही लिख सकता था। मै तब इतना अज्ञातनाम, अपने आप में इतना सत्रस्त, हीन, निरीह प्राणी था कि परहित की कल्पना ही उस समय मुझे अपनी बिडम्बना जान पडती। इसलिए मै किस प्रकार इन चर्चाओ मे जाऊँ कि साहित्य-कला किसके लिए है, अथवा किसके लिए हो? यह बात महत्त्वपूर्ण होगी, लेकिन मे उस बारे मे कोरा हूँ।

हाँ, इधर आकर एक विश्वास मेरी सारी चेतना मे भरता-सा जाता है। कि जो कुछ हो रहा है वह सब कुछ 'एक' की पहचान के लिए हो रहा है, उसी एक 'से' और एक 'मे' हो रहा है। और वह एक है 'परमात्मा'। लेकिन उस बात को आप मेरी सलज्ज अपराध-स्वीकृति (Confession) ही मानिए। उसमे हो सकता है कि न कुछ भावार्थ मिले, न चरितार्थ दीखे। हो सकता है कि वह प्रतीति मेरी असमर्थता की प्रतीक हो। लेकिन मै आरम्भ में ही कह चुका हूँ कि ठीक-ठीक कुछ जानता नही हूँ।

साहित्य क्यो, क्या, किसके लिए? इसकी प्रामाणिक सूचना मैं कहाँ से लाकर दूँ! और जहाँ से लाकर दूँ वहाँ से आप क्या स्वय नही ले सकते जो मेरा अहसान बर्दाश्त करें? कैसे लिखा जाता है, इस बारे में कहने को मेरे पास अपना अनुभव और उदाहरण ही हो सकता है। यह कौन जाने कि किस हद तक वह आपके मनोनुकूल होगा, या प्रामाणिक अथवा विश्वसनीय होगा।

आजकल मानव का समस्त ज्ञान वैज्ञानिक बने तब ठीक समझा जाता है। इस तरह वह सुनिश्चित और सुप्राप्त बनता है, तभी प्रयोजनीय बनता है। सो अव्वल तो ज्ञान ही मेरे पास नही, और जो निजी व्यक्तिगत कुछ बोध-सा है वह वैज्ञानिक तो है ही नही। इसलिए उसे आप सहज अमान्य ठहरा दें तो मुझे कुछ आपत्ति न होगी।

जिन्दगी का मन्त्र क्या है ? मेरे ख्याल में वह मन्त्र है, प्रेम। सूरज धरती को, धरती चाँद को, शत्रु-मित्र को, पिता पुत्र को, जन्म मृत्यु को, मैं तुमको, स्त्री पुरुष को, परस्पराकर्षण से कौन थाम रहा है ? वही प्रेम। विराट् की शाश्वत अनन्त महिमा और हमारी अगाजीवी अपारलघुता,—जो इन दोनों को परस्पर सह्य और सम्भव बनाता है वही प्रेम है। मुझे जान पड़ता है कि साहित्य का भी दूसरा कोई मन्त्र नहीं है। प्रेम से बाहर होकर साहित्य के अर्थ में कुछ भी जानने योग्य बाकी नहीं रहता। 'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय' यह बात निरी कल्पना मुझे नहीं मालूम होती, सबसे खरी सच्चाई मालूम होती है। एक जगह कबीर ने बालक प्रह्लाद के मुँह से गाया है—

> मोहि कहा पढ़ावत आल-जाल,
> मोरी पटियापै लिख देउ 'श्रीगोपाल'।
> ना छोड़ूँ रे बाबा रामनाम,
> मोको और पढ़न सों नहीं काम।

कबीर की बानी में उसी प्रेम के माहात्म्य का गान मुझे सुन पड़ता है। न ऊपर की उक्ति का और न कबीर-बानी का यह आशय समझा जाय कि सब पढ़ना-लिखना छोड़ देना होगा। पर यह मतलब तो जरूर है कि जो प्रेम-विमुख है, ऐसा पढ़ना हो या लिखना, सब त्याज्य है। जिसमें केवल बुद्धि का विलास है, जिससे अपने भीतर सद्भावना नहीं जागती और जगकर पुष्ट नहीं होती, वैसा पढ़ना-लिखना वृथा है। और यदि वह पठन-पाठन निरुद्देश्य है, तो वृथा से भी बुरा है, हानिकारक है।

गलत समझा जाऊं इस खतरे को भी उठाकर मैं यह प्रतीति अपनी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जो जानता है कि वह विद्वान् है, ऐसे महा-पंडित को सम्भालने की शक्ति शायद साहित्य में नहीं है। साहित्य जिस तरल मनोभावना के तलपर रहता है, ऐसे महापंडित का स्थान उससे कहीं बहुत ऊँचे पर ही रह जाना होगा।

जान जान कर जितना जो मैंने जाना है वह ऊपर कह दिया है। वह एकदम कुछ न जानने के बराबर हो सकता है। ऐसा हो, तो कृपापूर्वक आप मुझे क्षमा कर दें। शायद आप की कृपा के भरोसे ही उसका दुर्लाभ उठाकर ऊपर कुछ अपने मन की निरर्थक-सी बात कह गया हूँ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समीक्षा मे मै नही जा सकूँगा। वह अधूरा है, अपर्याप्त है। पर यह भी निश्चित है कि वह सचेत है और यत्नशील है। वह बराबर बढ रहा है। गद्य के क्षेत्र मे वह तेजस्विता की ओर भी बढ चला है। पद्य में सूक्ष्मता की ओर अच्छी प्रगति है। हिन्दी साहित्य मे चहुँ-मुखता बेशक अभी नही है। वह इसलिए कि जीवन ही अभी चहुं-ओर नही खुला है। पराधीन देश में राष्ट्रीयता इतनी जरूरी-सी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह समूचे जीवन को उसी ओर खीचकर मानो नुकीला बनाने का प्रयास करती है। स्वाधीनता की जरूरत है तो मुख्यत इसलिए कि जिन्दगी सब तरफ की मागो के लिए खुले और फैले। अनिवार्यतया राष्ट्रीय भाव की प्रधानता अपने साहित्य मे रही और अब, जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है, सम्भावना है कि उस प्रकार की साहित्य की एकागिता दूर होने मे कुछ और भी समय लगे। आधुनिक समाजवाद भी साहित्य की सर्वाङ्गीणता को सम्पन्न करने में विशेष उपयोगी नही हो रहा है। उपाय इसका यही है कि साहित्यकार व्यापक और विस्तृत जीवन की ओर बढ़े,—नगर से गाँव की ओर, गाँव से प्रकृति की ओर, प्रकृति से परमात्मा की ओर बढे। हमारे साहित्यकार को प्राण-वायु, शुद्ध जीवन और आसमान की अधिक आवश्यकता है। वह नगर-जीवन की कृत्रिम समस्याओ से घुटता जा रहा है। उसको शहर की तग गलियो और सटी दीवारो को लाँघकर, न हो तो तोडकर, खुले मैदान में साँस लेने बढना चाहिए। उससे फेफड़े मजबूत होंगे और सबका भला होगा।

हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में बात करते हुए यह कहना भी जरूरी मालूम होता है कि जैसे सुचारुता के लिए व्यक्ति में विविध वृत्तियो का

सामजस्य आवश्यक है, उसी भांति साहित्य में आदर्शोन्मुख भावनाओं और परिणामों के सामजस्य की ओर हमें ध्यान देना होगा। ऐसा न होने से साहित्य जब कि रोमांटिक (कल्पना-विलासी) हो उठता है तब उसकी ओट लेने वाला जीवन सगतिहीन और उथला हो चलता है। कल्पना का विलास तथ्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार जो अध्यात्म का अथवा दर्शन-ज्ञान का वातावरण बनता है वह भ्रामक होता है, प्रेरक नहीं होता। वह छल में डालता है, बल नहीं देता। स्वप्न खूब मनोरम हो पर वह स्वप्न ही है तो किस काम का? उसी स्वप्न की कीमत है जिस के पीछे प्रेरणा, उत्सर्ग भी है। और ऐसा स्वप्न स्वप्न कम, सकल्प अधिक हो जाता है। साहित्य के मूल में यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है, अन्यथा विवेक-वियुक्त कल्पना धोका दे सकती है, निर्माण और सर्जन नहीं कर सकती।

यूरोप के साहित्य को जो बात प्रबल बनाती है वह उस की यही प्रेरक शक्ति है। स्वप्न उनके ऊँचे न हो, और बहुी ही है, लेकिन उनके सकल्पो और उन स्वप्नो में इतनी दूरी भी नही है कि विरोध मालूम हो। मन-वचन-कर्म का यह सामजस्य,—यह ऐक्य ही असली तत्त्व है। इस समन्वय से मन की भावना अधिक प्रेरक, वचन अधिक सफल और कर्म अधिक सार्थक बनता है। इस एकता के साथ तीनो (भावना, शब्द, कृत्य) अलग-अलग भी अपने आप में सत्यतर बनते है। उस एकता के अभाव में तीनो झूठ हो जाते है। तभी तो प्रमत्त का स्वप्न, दम्भी के मुख का शास्त्र-वचन और पाखण्डी का धर्म-कर्म अपने आप में सुन्दर होते हुए भी असत् हो जाता है। राजनीति से अधिक साहित्य के क्षेत्र में यह एकता जरूरी है। क्योंकि स्थूल कर्म का परिणाम तो थोडा बहुत होता भी है, पर शब्द में तो वैसी स्थूल शक्ति है नही, उस में उतनी ही शक्ति है जितनी अपने प्राणो से हम उसमें डाल सकते है। अतः साहित्यकार के लिए मन-वचन-कर्म की एकता-साधना जरूरी मानना चाहिए।

एक बात और, और बस। एक प्रकार से वह ऊपर भी आ गई है, पर उसको स्पष्ट कह देना भला ही हो सकता है। वह यह कि हम को सबके प्रति विनयशील होना होगा। अविनय जडता है। जीवन पवित्र तत्त्व है और साहित्य के निकट क्योकि सब कुछ सजीव है इससे साहित्य-रसिक के लिए सब कुछ पवित्र है। उस के मन में किसी के लिए अवज्ञा नही हो सकती। ऐसी अवज्ञा के मूल में अहकार और अपूर्णता है।

इस बात के सवन्ध मे अधिक-से-अधिक सावधानी भी इसलिए कम है कि आज चारो ओर राजनीतिक प्रचार के कारण सहानुभूति की मर्यादा-रेखाएँ खीच दी गई है और प्रेम दलो मे बॅट गया है। इस भाँति अवज्ञा की भावना सहज भाव में घर कर जाती है और वह उपयुक्त भी जान पडने लगती है। पर निश्चय रखिए कि अनादर की भावना में से कोई निर्माण नही हो सकता। सर्जन स्नेह द्वारा ही सम्भव है।

पर यहाँ भूल न हो। जीवन निरी मुलायम चीज नही है। वह युद्ध है। वह इतना सत्य है कि काल भी उसे कभी तोड नही सकता। निरन्तर होती हुई मृत्यु के बावजूद जीवन की धारा अनवच्छिन्न भाव मे बहती चली आ रही है, बहती चली जायगी। सत्य को सदा ही असत् से मोर्चा लेना होगा। जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नही है, और कोई अन्त नही है।

पर युद्ध किस से ? व्यक्ति से नही, घनीभूत मैल से। पापी से नही, पाप से। क्योकि जिसे पापी माना है उसके भीतर आत्मा की आग है, और आग सदा उज्ज्वल है। वह पाप को क्षार करती है। यह पाप से अडिग भाव से जूझने की क्षमता पापी को प्रेम और उसके भीतर की आग में अचल आस्था रखने की साधना मे से आवेगी।

मैने आप का बहुत समय लिया। इस समय में जो सूझा है मै

कहता रहा हूँ। आप मेरे प्रति सहनशील हुए तो मैं यह अपना कम लाभ नहीं मानूँगा। आप देखते ही हैं कि आप की कृपा का मैंने कैसा फायदा उठा लिया है। मैं उन सबके लिए आप से क्षमा चाहता हूँ और आप को फिर धन्यवाद देता हूँ।

: ३४ :

किस के लिए लिखें ?

'विशाल भारत' ने 'कस्मै देवाय' लेख में प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है—'जनता-जनार्दनाय' । जनता का स्पष्टीकरण भी उसने किया है, अर्थात्, वे जो अपने पसीने के बल रोटी खाते है,—किसान, मजदूर आदि । उनकी अपेक्षा मध्यवित्त लोग 'जनता' नही है, और सम्पन्न धनिकवर्ग तो है ही नही ।

मुझे तो वह लेख पसन्द आया । क्योकि उसमें हार्दिकता का ज़ोर है । पर मुझे लगता है, वह भ्रम मे डाल सकता है । साथ ही यह भी प्रगट है कि वह लेख स्वय भ्रम से खाली नही है । भावना मे उसके साथ होते हुए भी मै उस दृष्टिकोण से तीव्र मतभेद प्रकट करना चाहता हूँ जो उसमे प्रतिपादित है । क्या वस्तु-स्थिति यह है कि हम चुन ले कि हम 'क' के लिए लिखते है, या 'ख' के लिए ? और यदि 'ख' के लिए नही लिखते, तो हम उसके अपराधी बनते है ? और 'क' या 'ख' के लिए लिखना ही होगा क्योकि वह निर्बल है या प्रबल है, या ऐसा है या वैसा है ?

'विशाल भारत' वाले वक्तव्य का आधार यही है कि मनुष्यता मूल रूप से वर्गो मे बँटी है, और तुम्हारी सहानुभूति या तो एक वर्ग के साथ है और वह सब वही खर्च होती है, नही तो दूसरे वर्ग के साथ है और पहले वर्ग के तुम दुश्मन हो ।

इस दृष्टि को जब व्यवहार में उतार कर देखते है तो इसका रूप यह होता है कि, 'देखो जी, जिस दल में मै हूँ (और, क्योकि मेरी भावनाएँ और सहानुभूतियाँ वहाँ पुष्ट होती और व्यय होती है, इस

मैं निश्चय मानता हूँ कि जगत् का उद्धार उसी दल के भाग है। उसी के साथ तुम नहीं हो तो तुम नहीं कह सकते कि तुम हमारे दुश्मन नहीं हो । समझे ? अब सुन लो'' तर्कवादी तर्क से सिद्ध कर सकता है कि मेरा स्वार्थ अलग है तुम्हारा अलग. न केवल इतना ही. इससे आगे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि एक के स्वार्थ पर डाका डालकर ही दूसरे का स्वार्थ पुष्ट होगा अन्यथा नहीं। और इसी भाँति कहा जा सकता है कि मानव-सत्य भी स्वार्थ का परस्पर-संघर्ष ही है,—वर्ग-वर्ग के स्वार्थ और हित भिन्न हैं. विरोधी हैं, और अमुक एक वर्ग के प्रति सद्भावना. आवश्यक रूप में, दूसरे वर्ग के प्रति द्वेष-भावना के बल पर ही साधी जा सकती है । तो मैं कहूँगा कि तुम्हारे तर्क का सत्य यह है तो हो,—साहित्यिक का सत्य यह न हो सकेगा।

साहित्यिक का सत्य तो यह है कि मनुष्यता एक है। वह उसी सत्य को निरन्तर खोजता है और निरन्तर, अपनी भावना और रचना से, वह उसको निकट लाता है। यदि मनुष्यता कहीं एक नहीं है. और तत्त्व यहाँ विग्रह है. कलह है, विच्छेद है,—तो वह मिथ्या है। और इस मिथ्या के साथ लड़ाई ठाने रखना साहित्यिक का धर्म, उसका सत्य-आग्रह बन जाता है। वह उस मिथ्या को स्वीकार न कर सकेगा। कारण प्रतिक्षण वह उसे तोड़ने और ढाने में लगा है।

जो कुछ मनुष्य ने बनाया है उसको ही दृष्टि में प्रधान रख कर हम यदि देखते हैं तो दीखता है कि मनुष्यता असंख्य स्वार्थों में बँटी हुई है। यहाँ दूसरे पर एक का हावी हो जाना ही उसकी सिद्धि है. और शक्ति ही न्याय है. और 'अहम्' ही सत्य है। जीवन में विधि-निषेध और राग-द्वेष की आवश्यकता का जंजाल-सा फैल रहा है। इसने यह किया है, इसे फाँसी दो; इसकी लाटरी का नम्बर ठीक निकल आया है, इसलिए इसे पाँच लाख रुपए दो। जीवन में यह विषमता हमें स्वादिष्ट लगती है।

फांसी से हम डरते है और सोचते है कि हाय-हाय, हमारे नाम यह लाटरी क्यो नही निकल आती।

मनुष्य ने यह जो बनाया है, जो समाज, सरकार और सभ्यता खडी की है, वह एकदम धता बताने लायक ही हो सो नही, पर जिसने मनुष्य को बनाया है और जिसके लिए मनुष्य बना है और मनुष्य के द्वारा जो व्यक्त और सम्पन्न हो रहा है, उसे भी ध्यान मे रख सके तो दीखे कि समता और एकता भी कही है। कही क्यो,—सभी कही है। और तब अनैक्य और वैषम्य मे प्रलोभन हमारे निकट नही रह जाय और हम स्पष्ट देखें कि हमारी स्थिति वही है जहाँ सर्वस्व भेद नही है।

मनुष्य ने एक वस्तु बनाई है, पैसा। धरती मे से धातु निकाली, उस पर मोहर ठोकी, और मनुष्य-मनुष्य के बीच वह आदान-प्रदान का सहज साधन बना। पैसे की उपयोगिता से इन्कार करना अपना अभिमत नही है। पैसे के अभाव में मनुष्य आपस में कोसो दूर बना रहता, पैसे से वह पास आया है।

लेकिन मनुष्य की बनाई कौन-सी चीज सम्पूर्ण है? पैसा जितनी तेजी से बढा, मनुष्य का हृदय उतनी तेजी से नही बढ सकता था। धीरे-धीरे उन हृदयो को फाडने के काम में वह आने लगा। उसने जमा होकर आदमी को आदमी कम रख के उसे अधिक गरीब या अमीर बना देना आरम्भ किया।

अब एक दृष्टि वह है जिसमें आदमी आदमी पीछे है, वह गरीब और अमीर पहले है। आदमी के बारे में जितना कुछ हमें ज्ञात होता है वह इसमें समाप्त हो जाता है कि वह पैसे वाला है या बेपैसा है। स-पैसा या अ-पैसा होना तो मात्र स्थिति है, एक ऊपरी पहरावन है, तथ्य-वस्तु तो व्यक्ति है,—यह भाव हम से खो जाता है। और हमारी मति मे मनुष्य तो उपलक्ष्य, गौण-मात्र हो रहता है, उसकी गरीबी-अमीरी ही केवल हमें जानने की वस्तु रह जाती है।

अमुक के पास पैसा नहीं है, क्या इसीलिए वह मनुष्य से कम है ? या इसीलिए वह मनुष्य से ज्यादा है ? जो कोई पैसे वाला है, इसी कारण देवता या राक्षस है ? ऐसा नहीं है क्योंकि मनुष्यता से अनपेक्षित रहकर गरीबी-अमीरी कुछ चीज नहीं है। मुझे भय है कि 'विशाल भारत' के लेख में गरीबी-अमीरी का पार्थक्य जरा जोर के स्वर में और जरा गहरे रंग में उभर आया है। और खुद उसकी खातिर निर्धनता और दीनता के पक्ष का प्रलोभन होना शायद अपनी खातिर धनाढ्यता के लोभ से कुछ कम भयावह वस्तु भले हो पर फलतः वे दोनों एक-सी अयथार्थ वस्तु हैं।

पर साहित्य, विशाल भारत' की ओर से मैं अपने से पूछूँ, क्या बिना चुनाव, झुकाव या पक्षपात के एक पग भी चल सकता है ? तब दुपहरी की धूप में पसीने से चुचुआता नंगा बदन लिए फावड़े से खेत खोदता हुआ और बीच-बीच में खुले गले से राग अलापता रमल्ला और इश्क की कहानी पढ़ती हुई बिजली के पंखे के नीचे अधढकी और अधलेटी रसीली रम्भा,—इन दोनों में से, बताओ, साहित्य किसको लेकर धन्य होगा ?

हाँ, मैं कहूँगा, स्रष्टा के लिए हेयोपादेय की तरतमता होनी होगी और जितनी स्पष्ट और पैनी हो उतना। अच्छा यहाँ तक कि उसकी धार इतनी सूक्ष्म हो कि वह व्यक्तियों में से पार होती चली जाय और व्यक्ति को दैहिक चोट तनिक न अनुभव हो। पर जिस तरह रमल्ला अधिक-से-अधिक ईमानदार और उद्यमी और त्रस्त होकर भी अपने ऊपर लिखी गई रचना को निकम्मी होने से नहीं रोक सकता, उसी तरह रम्भा अधिक-से-अधिक कुटिल होकर भी अपने ऊपर लिखी गई साहित्यिक रचना को अतिशय धन्य होने से नहीं रोक सकती। मेरे भाई, (मैं अपने से कहूँगा) किसी की भी आत्मा वेदना और स्वप्न से खाली नहीं है। अहंकार छोड़कर उसकी आत्मा में तुम तनिक झाँक सको,—चाँडाल हो

कि ब्राह्मण, वेश्या हो कि सन्त, राजा हो या रंक,—तो सब कहीं वह है जो तुम्हारी खोज की वस्तु है। किसी को तजने की आवश्यकता नहीं, किसी को पूजने की जरूरत नहीं। साहित्य के आदर्श की मूर्ति को 'रमल्ला' में स्थापित करने के लिए उसे 'रम्भा' में से क्यों तोड़ते हो? यों तो मूर्ति ही गलत है, क्योंकि मूर्ति से बाहर होकर भी साहित्य का आदर्श ठौर-ठौर अणु-अणु में व्यापा है। लेकिन यदि तुम मूर्ति चाहते ही हो, और रमल्ला में आदर्श-दर्शन तुम्हें सहज होते हैं, तो सहर्ष तुम उस मन्दिर में सर्वाङ्ग-मूर्ति प्रतिष्ठित करो। मैं तो कहता हूँ, यानी अपने से कहता हूँ, 'मेरे लिए तो सब कुछ मन्दिर है, मुझे तो सभी व्यक्तियाँ मूर्तियाँ भी है। लेकिन, तुम इस नये यत्न में 'रम्भा' को, या किसी और की मूर्ति या मन्दिर को तोड़ने की ज़िद रखना जरूरी न समझो। इससे तुम्हारा ही अपकार होगा।'

लेकिन, प्रश्न तो है,—हम किस के लिए लिखें? साहित्यिक उद्यमी होने के नाते क्या दिशा हम उसे दें? क्या सब अंधाधुन्ध चलने दें? हमारे युवक बिगड़ते है, स्त्रियाँ विपथगा होती है, भ्रष्टाचार फैलता है,—यह होने दें? और तब जब कि दुर्भाग्य से संपादक की जिम्मेदारी हमारे अनुद्यत कंधों पर रक्खी है, और हमें कुछ-न-कुछ बनाना होता है।

किस के लिए लिखें? यह सोचते हुए जब मैं यहाँ पहुँचता हूँ कि दुनिया की भलाई के लिए लिखो, तब मुझे आशंका होती है। ध्यान आता है कि हर मिनिट जीने के लिए मैं जिसका ऋणी हूँ,—आज उसका उपकारक, उद्धारक होने चला हूँ? और भलाई करूँ, इस विचार में से पर्याप्त प्रेरणा भी नहीं प्राप्त होती। अपने सुख के लिए लिखूँ, तो नहीं जानता कि लिखने में मुझे सुख होता है या नहीं। और मुझे सुख होता भी है तो तब जब पाता हूँ कि छपकर वह बात सैकड़ों के पास पहुँच गई है, और दो एक तारीफ भी कर रहे हैं। मुझे सुख भी तो 'मुझ से दूसरे

सुख पा रहे हैं' यह जानकर ही आता है। अच्छा, पर जो किसी ने तारीफ नहीं की, बल्कि मेरी रचना की कुछ बुराई ही हुई, तो क्या मैं न लिखूँ ? अपने सुख के लिए लिखूँ तो ऐसी हालत में मुझ में लिखने की प्रेरणा शेष नहीं रहेगी।

'अपने लिए लिखें, या पराए के लिए ?' जब यह प्रश्न इस भांति द्वि-मुखी होकर मेरे सामने खड़ा हो आया तब मुझे सूझा नहीं कि मैं उसपर चलूँ या इसपर, और दोनों में बच निकलने की राह कहां थी ? उस समय मालूम हुआ कि अरे, अपने अहंकार में भरा मैं यह क्यों नहीं सोचता कि एक वह भी तो है जहां पराया भी अपना है और अपना सब ही कुछ जिसमें समाया है। बस उसी के लिए तो यह सब रहना, करना, और लिखना है। यानी अपने भीतर और बाहर अधिष्ठित उसी एकमात्र सत्य की प्रतिष्ठा के लिए मैं लिखूँ।

'विशाल भारत' ने जो 'जनता-जनार्दनाय' लिखा है, वह ठीक। लेकिन क्या सिर्फ 'जनार्दनाय' मेरे निकट और भी ठीक न होगा ? कारण, 'जनता' में पशु-पक्षी कहां हैं, वनस्पति कहां है ? यह आकाश तारे कहां हैं ? और 'जनार्दन' में तो हमारा ज्ञात-अज्ञात सब है।

लेकिन 'जनार्दन' को आजकल कौन जाने कौन माने ? इससे आजकल की भाषा में कहना हुआ—सत्य की शोध, सत्य की चर्या सत्य की पूजा के लिए हम लिखें।

उसके बाद गरीब के लिए लिखें, अमीर के लिए लिखें, साधारण के लिए लिखें, असामान्य के लिए, दुराचारी या सदाचारी के लिए, स्त्री के लिए या पुरुष के लिए, मनोरंजन के लिए या साधना के लिए ?—ये बातें अधिक उलझन नहीं उपस्थित करतीं।

सत्य के प्रसार और अंगीकार के लिए हम लिखते हैं। सत्य में जो बाधा है वही गिराना सत्य का ऐक्य है। कुछ एक दूसरे के निकट अछूत है, गलत समझे हुए (misunderstood) हैं, आधे समझे हुए (half-

understood) है,—कुछ त्याज्य हैं, दलित है, त्रस्त है, अपराधी है, अभियुक्त है, दीन है, बेजुबान है, कुछ गर्वीले है, दर्पोद्धत है, दुष्ट है, निरकुश है—यह सब मन्य है। यह क्यो ? मनुष्य की अहकृत मान्यताओं में घुटकर जीवन एक समस्या बन गया है और अपने चारो ओर दुर्ग की-सी दीवारे खडी करके उनमे अपने स्वार्थ को सुरक्षित बनाकर चलने के लिए सब अपने को लाचार समझते है। वे दीवारे सब को अलग बनाये हैं,—हृदय को हृदय से दूर रखती है।

एक को दूसरे के हृदय के निकट देखे और सबको विश्व-हृदय के निकट देखें, और इस प्रकार विश्व के जीवन मे सत्योन्मुख एकस्वरता उत्पन्न हो। जिससे यह हो, वही तो हम लिखेंगे। और यदि इस प्रकार कुलटा नारी के प्रति कट्टर पति का हृदय हम ने अपनी रचना से पिघला कर आर्द्र कर दिया, प्रेमिका को मारने को उद्यत प्रेमी का खड्ग-सिद्ध हाथ रोक लिया, रोते को हँसा दिया, गर्वस्फीत को मुलायम कर दिया, 'विशाल-भारत' को 'रम्भा' के प्रति क्षमाशील कर दिया, तो यह उसी भाँति शुभ और आवश्यक है जैसे यह कि मजदूर के प्रति अफसर में, दीन के प्रति धनाढ्य में, कृषक के प्रति मालिक में, और शासित के प्रति शासक में सहानुभूति का उदय होना। जहाँ यह सत्यशील प्रेम-भावना नही, वहाँ ही असत्य है। उस असत्य के मुकाबले की अवश्य जरूरत है, पर सत्य-चर्या मे ही हर प्रकार के मुकाबले की शक्ति है और उसी में से स्वय खप जाने की राह भी प्राप्त होती है।

किसी के प्रति भी तिरस्कार या बहिष्कार का भाव रखने के भाव को साहित्य मे मजबूत नही होने देना होगा। और न किसी को सीधे दबाने का लोभ होना चाहिए। अपने भीतर की प्रेम-शक्ति का अकुठित दान ही साहित्य के पास एक अस्त्र है, जो अमोघ है।

लेखक के प्रति

यह तत्त्व लेखक बनने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक महाशय को जान

लेना चाहिए कि रामचन्द्रजी को भव्य रूप में प्रस्तुत करने में ऋषि वाल्मीकि ने अपनी पवित्रतम भावनाएं और उच्चतम विचार और श्रेष्ठतम यत्न का दान दिया। वाल्मीकि में जो सर्वोत्कृष्ट है, वही राम है। लेखक की महत्ता यही है कि जो उसमें सुन्दर है, शिव है, सत्य है,—जो उसमें उत्कृष्ट है और विराट् है उसी को वह सबके अर्थ दे जाय। उसे अपना और अपने नाम का मोह न हो, वह अपने आदर्श के प्रति सच्चा हो, स्वप्न के प्रति खरा हो। उसका आदर्श ही अमर होकर विराजे, पूजनीय हो—इसी में लेखक की सन्तुष्टि है, सफलता और सार्थकता है।

मेरी इच्छा है जो लेखक बने वह पाठक को वह दे जो उसके पास अधिक-से-अधिक मार्मिक है स्वच्छ है और बृहत् है।

: ३५ :

लेखक की कठिनाइयाँ

मुझे ख्याल न था कि लेखक की कठिनाइयो पर कुछ कहना होगा। कठिनाइयाँ जिन्दगी मे जरूरी चीज है। उनके सहारे आदमी अपने को जानता है और वस्तुस्थिति को जानता है। दुनिया में जो परस्पर का सम्मिलन आवश्यक है, वह किन सिद्धान्तो पर होगा, इसका पता पारस्परिक रगड से ही होता है। मेल कुछ ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ति का व्यक्तित्व भी बना रहे और समूह की समुदाय-शक्ति भी कम न हो। व्यक्ति मे और परिस्थिति में जब मेल नही होता तभी कठिनाई उपस्थित होती है। और कठिनाई के कारण यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि व्यक्ति कैसे वर्तन करे कि स्थिति मे उन्नति भी हो और अशान्ति भी न बढे।

इसलिए यदि यहाँ मैं कुछ अपने सम्बन्ध का अनुभव लिख भी रहा हूँ तो सिर्फ इतने के लिए कि हम घर वाले वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर ले और स्थिति बोध के आधार पर फिर उन्नत हो।

कोई क्यों लिखता है ?

अपनी ओर देखकर जब मैं अपने से पूछता हूँ कि कोई क्यो लिखता है, तो मुझे मालूम होता है कि असमर्थ होने के कारण व्यक्ति लिखता है। जो बचपन से चपल है, तेज है, जिनको सहज प्रशसा और सफलता प्राप्त होती है, वे लेखक नही बनते। जो क्लास मे पढने में होशियार होते है, जो स्पोर्टस में अथवा क्लब मे सर्व-प्रिय होते है, उनके लेखक बनने की सम्भावना उतनी ही कम होती है।

हर बात पर हमारे मन में कुछ चिन्ताएँ चला करती है। वे या तो

दर्द होती रहती है, नहीं तो जमा होती रहती है। उस व्यक्ति के भीतर वे अनिवार्य रूप से जमा होती है जिसे उन्हें अपने से बाहर खर्च डालने का सुभीता नहीं है।

संचित होते-होते वे उनमें क्लेश तक उपजाती हैं। व्यक्ति उनके बोझ से त्रास पाता है। उस त्रास से छुट्टी तो मिलनी चाहिए। नहीं तो वह त्रास आत्मा को दबाए रहता है।

लिखना भी जाने-अनजाने उस त्रास से छुटकारा पाने की एक युक्ति है।

कुछ विशेष प्रकार की प्रकृतियों के पुरुष होते हैं, जो इस सारे घुटते हुए भावना-संचय को न जाने किस प्रक्रिया से आनन्द में परिवर्तन कर लेते हैं। उनमें सबके प्रति प्रसन्नता लहरा चलती है। आपदाओं के प्रति उनमें वैर-भाव नहीं रहता। न उनके लिए कोई शत्रु रहता है, न कोई भयकारक वस्तु। अपनी ही परिस्थितियों में वह मुक्त-सम होते हैं। इच्छाएँ उनकी अशेष हो रहती हैं। यदि कुछ करते हैं तो स्वयं नहीं करते, वह उनसे सहज भाव से होता ही है। यह अवस्था संत की है। जो इस पद्धति से अपने को वश में करता है, वह निश्चय सर्वथा मुक्त बनता है।

ऐसी प्रकृति का व्यक्ति लेखक नहीं होता। यह नहीं कि वह लिखेगा नहीं, किन्तु उसमें द्वन्द्व न होगा। जहाँ द्वन्द्व है, लेखक वहीं तक है। उस संत से लगाकर नीचे उस व्यक्ति तक जो बस अपनी नानाविध इच्छाओं के ताल पर जीवन में नृत्य करता दीखता है; जो क्षणों पर रहता है; जिसमें गति है तो अंधी, अन्यथा गति ही नहीं है; जिसमें आत्म-चिन्तन की अभी इतनी आवश्यकता नहीं उपजी है कि उसे वह स्वरूप दे—संत से उतर कर इस धरातल तक लेखक की अनेकानेक कक्षाएँ हैं।

वह अपने पर काबू पाना चाहता है। वह काबू सहज उसे मिलता

नही । पूर्ण सामजस्य अभी उसके व्यक्तित्व मे हो नही मका है । पर जाग्रत तो वह है । इस भांति शका उसकी सबसे बडी व्याधि है और वेदना सबसे बडी निधि । शकाओ पर शका करके और उनके उत्तरो पर उत्तर देकर वह उन्हे टालना चाहता है । पर एक शका टलती है, तो आगे फिर प्रश्न विद्यमान मिलता है ।

प्रश्न उससे पूरी तरह हल नही होता । न वह स्वय विश्व-नियम मे पूरी तरह हल हो पाता है । अपने-आप मे कुछ एक अलग गाँठ-सी उसे बने रहना पडता है । इसलिए उसके सामाजिक शक्ति बन उठने की कम ही सम्भावना होती है । समग्र के विरोध मे वह भीतर से अपने को सशक्त भी अनुभव करता है, किन्तु अपनी अशक्ति का भान भी उसे होता ही है । इसी अशक्ति की अनुभूति का अभाव प्राप्त करने के लिए उद्यत हो कर वह कल्पना और भावनाओ से तरह-तरह की सृष्टि करता है। मानो अपने भीतर उठती हुई शकाओ के मुँह पर फेकने के लिए वह ये सृष्टियाँ रचता है ।

लेकिन मै ज्यादा कह गया । मुझे याद पडता है कि सन् '२८ में मैंने पहले-पहल लिखा । लिखना मेरे लिए स्वप्न की ही बात थी । जब पढता था, लिखने से घबराता था । परीक्षा मे छोडकर शायद ही कभी कोई निबध क्लास में लिखकर मैने दिया होगा । सूझ ही न पडता था क्या लिखा जाय, कैसे लिखा जाय ? भाषा शुद्ध कैसे लिखी जायगी और 'आज्ञा-पालन पर' क्या कहूँ, क्या न कहूँ ? अगर लाचार होकर कुछ लिखकर भी दिया है, तो इधर-उधर की निबंधमालाओ से कुछ पैराग्राफ़ इकट्ठे करके उन्हे ऐसे आगे-पीछे लगाकर और बिगाड़कर दे दिया है कि पता चले बिना न रहे कि यह अनाडी आदमी की चोरी है । मेरी तो कोशिश यही रहती थी कि मेरी बुद्धिमत्ता प्रकट हो, लेकिन अब मै जानता हूँ कि किस भाँति उसमें से मुझ अनाडी की चोरी का हाल खुला-खुला प्रकट हो जाता होगा । कालिज तक मेरा यही हाल रहा ।

जिन्दगी का मन्त्र क्या है ? मेरे ख्याल में वह मन्त्र है, प्रेम। सूरज धरती को, धरती चाँद को, शत्रु-शत्रु को, पिता पुत्र को, जन्म मृत्यु को, 'मैं' 'तू' को, स्त्री पुरुष को, परस्पराकर्षण में कौन थाम रहा है ? वही प्रेम। विराट् की शाश्वत अनन्त महिमा और हमारी क्षणजीवी अपारलघुता,—जो इन दोनों को परस्पर सह्य और सम्भव बनाता है वही प्रेम है। मुझे जान पड़ता है कि साहित्य का भी दूसरा कोई मन्त्र नहीं है। प्रेम से बाहर होकर साहित्य के अर्थ में कुछ भी जानने योग्य बाकी नहीं रहता। 'ढाई अच्छर प्रेम के पढ़े सो पण्डित होय' यह बात निरी कल्पना मुझे नहीं मालूम होती, सबसे खरी सच्चाई मालूम होती है। एक जगह कबीर ने बालक प्रह्लाद के मुँह से गाया है—

> मोहे कहा पढावत आल-जाल,
> मोरी पटियापै लिख देउ 'श्रीगोपाल'।
> ना छोड़ूँ रे बाबा रामनाम,
> मोकों और पढ़न सों नहीं काम।

कबीर की बानी में उसी प्रेम के माहात्म्य का गान मुझे सुन पड़ता है। न ऊपर की उक्ति का और न कबीर-बानी का यह आशय समझा जाय कि सब पढ़ना-लिखना छोड़ देना होगा। पर यह मतलब तो जरूर है कि जो प्रेम-विमुख है, ऐसा पढ़ना हो या लिखना, सब त्याज्य है। जिसमें केवल बुद्धि का विलास है, जिससे अपने भीतर सद्भावना नहीं जागती और जगकर पुष्ट नहीं होती, वैसा पढ़ना-लिखना वृथा है। और यदि वह पठन-पाठन निरुद्देश्य है, तो वृथा से भी बुरा है, हानिकारक है।

गलत समझा जाऊँ इस खतरे को भी उठाकर मैं यह प्रतीति अपनी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जो जानता है कि वह विद्वान् है, ऐसे महा-पंडित को सम्भालने की शक्ति शायद साहित्य में नहीं है। साहित्य जिस तरल मनोभावना के तलपर रहता है, ऐसे महापंडित का स्थान उससे कहीं बहुत ऊँचे पर ही रह जाता होगा।

जान जान कर जितना जो मैंने जाना है वह ऊपर कह दिया है। वह एकदम कुछ न-जानने के बराबर हो सकता है। ऐसा हो, तो कृपापूर्वक आप मुझे क्षमा कर दें। शायद आप की कृपा के भरोसे ही उसका दुर्लाभ उठाकर ऊपर कुछ अपने मन की निरर्थक-सी बात कह गया हूँ।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की समीक्षा में मैं नहीं जा सकूंगा। वह अधूरा है, अपर्याप्त है। पर यह भी निश्चित है कि वह सचेत है और यत्नशील है। वह बराबर बढ रहा है। गद्य के क्षेत्र में वह तेजस्विता की ओर भी बढ चला है। पद्य में सूक्ष्मता की ओर अच्छी प्रगति है। हिन्दी साहित्य में चहुं-मुखता बेशक अभी नहीं है। वह इसलिए कि जीवन ही अभी चहुँ-ओर नहीं खुला है। पराधीन देश में राष्ट्रीयता इतनी जरूरी-सी प्रवृत्ति हो जाती है कि वह समूचे जीवन को उसी ओर खींचकर मानो नुकीला बनाने का प्रयास करती है। स्वाधीनता की जरूरत है तो मुख्यत इसलिए कि जिन्दगी सब तरफ की मागो के लिए खुले और फैले। अनिवार्यतया राष्ट्रीय भाव की प्रधानता अपने साहित्य में रही और अब, जब कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है, सम्भावना है कि उस प्रकार की साहित्य का एकांगिता दूर होने में कुछ और भी समय लगे। आधुनिक समाजवाद भी साहित्य की सर्वाङ्गीणता को सम्पन्न करने में विशेष उपयोगी नहीं हो रहा है। उपाय इसका यही है कि साहित्यकार व्यापक और विस्तृत जीवन की ओर बढ़े,—नगर से गाँव की ओर, गाँव से प्रकृति की ओर, प्रकृति से परमात्मा की ओर बढे। हमारे साहित्यकार को प्राण-वायु, शुद्ध जीवन और आसमान की अधिक आवश्यकता है। वह नगर-जीवन की कृत्रिम समस्याओं से घुटता जा रहा है। उसको शहर की तग गलियो और सटी दीवारो को लाँघकर, न हो तो तोडकर, खुले मैदान में साँस लेने बढना चाहिए। उससे फेफडे मजबूत होंगे और सबका भला होगा।

हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में बात करते हुए यह कहना भी जरूरी मालूम होता है कि जैसे सुचारुता के लिए व्यक्ति में विविध वृत्तियो का

सामंजस्य आवश्यक है, उसी भांति साहित्य में आदर्शोन्मुख भावनाओं और परिणामों के सामंजस्य की ओर हमें ध्यान देना होगा। ऐसा न होने से साहित्य जब कि रोमांटिक (कल्पना-विलासी) हो उठता है तब उसकी ओट लेने वाला जीवन संगतिहीन और उथला हो चलता है। कल्पना का विलास तथ्य वस्तु नहीं है। इस प्रकार जो अध्यात्म का अथवा दर्शन-ज्ञान का वातावरण बनता है वह भ्रामक होता है, प्रेरक नहीं होता। वह छल में डालता है, बल नहीं देता। स्वप्न खूब मनोरम हो, पर वह स्वप्न ही है तो किस काम का ? उसी स्वप्न की कीमत है जिस के पीछे प्रेरणा, उत्सर्ग भी है। और ऐसा स्वप्न स्वप्न कम, संकल्प अधिक हो जाता है। साहित्य के मूल में यदि कल्पना है तो वह श्रद्धामूलक है; अन्यथा विवेक-वियुक्त कल्पना धोखा दे सकती है, निर्माण और सर्जन नहीं कर सकती।

यूरोप के साहित्य को जो बात प्रबल बनाती है वह उस की यही प्रेरक शक्ति है। स्वप्न उनके ऊँचे न हों, और नहीं ही है, लेकिन उनके संकल्पों और उन स्वप्नों में इतनी दूरी भी नहीं है कि विरोध मालूम हो। मन-वचन-कर्म का यह सामंजस्य,—यह ऐक्य ही असली तत्त्व है। इस समन्वय से मन की भावना अधिक प्रेरक, वचन अधिक सफल और कर्म अधिक सार्थक बनता है। इस एकता के साथ तीनों (भावना, शब्द, कृत्य) अलग-अलग भी अपने आप में सत्यतर बनते हैं। उस एकता के अभाव में तीनों झूठ हो जाते हैं। तभी तो प्रमत्त का स्वप्न, दम्भी के मुख का शास्त्र-वचन और पाखण्डी का धर्म-कर्म अपने आप में सुन्दर होते हुए भी असत् हो जाता है। राजनीति से अधिक साहित्य के क्षेत्र में यह एकता जरूरी है। क्योंकि स्थूल कर्म का परिणाम तो थोड़ा बहुत होता भी है. पर शब्द में तो वैसी स्थूल शक्ति है नहीं, उस में उतनी ही शक्ति है जितनी अपने प्राणों से हम उसमें डाल सकते हैं। अतः साहित्यकार के लिए मन-वचन-कर्म की एकता-साधना जरूरी मानना चाहिए।

एक बात और, और बस। एक प्रकार से वह ऊपर भी आ गई है, पर उसको स्पष्ट कह देना भला ही हो सकता है। वह यह कि हम को सबके प्रति विनयशील होना होगा। अविनय जडता है। जीवन पवित्र तत्त्व है और साहित्य के निकट क्योकि सब कुछ सजीव है इससे साहित्य-रसिक के लिए सब कुछ पवित्र है। उस के मन में किसी के लिए अवज्ञा नही हो सकती। ऐसी अवज्ञा के मूल में अहकार और अपूर्णता है।

इस बात के सबन्ध मे अधिक-से-अधिक सावधानी भी इसलिए कम है कि आज चारो ओर राजनीतिक प्रचार के कारण सहानुभति की मर्यादा-रेखाएँ खीच दी गई है और प्रेम दलो में बँट गया है। इस भाँति अवज्ञा की भावना सहज भाव मे घर कर जाती है और वह उपयुक्त भी जान पडने लगती है। पर निश्चय रखिए कि अनादर की भावना में से कोई निर्माण नही हो सकता। मर्जन स्नेह द्वारा ही सम्भव है।

पर यहाँ भूल न हो। जीवन निरी मुलायम चीज नही है। वह युद्ध है। वह इतना सत्य है कि काल भी उसे कभी तोड नही सकता। निरन्तर होती हुई मृत्यु के बावजूद जीवन की धारा अनवच्छिन्न भाव से बहती चली आ रही है, बहती चली जायगी। सत्य को सदा ही असत् से मोर्चा लेना होगा। जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नही है, और कोई अन्त नही है।

पर युद्ध किस से ? व्यक्ति से नही, घनीभूत मैल से। पापी से नहीं, पाप से। क्योकि जिसे पापी माना है उसके भीतर आत्मा की आग है, और आग सदा उज्ज्वल है। वह पाप को क्षार करती है। यह पाप से अडिग भाव से जूझने की क्षमता पापी को प्रेम और उसके भीतर की आग में अचल आस्था रखने की साधना में से आवेगी।

मैने आप का बहुत समय लिया। इस समय में जो सूझा है मै

: ३५ :

किस के लिए लिखें ?

'विशाल भारत' ने 'कस्मै देवाय' लेख में प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है—'जनता-जनार्दनाय' । जनता का स्पष्टीकरण भी उसने किया है, अर्थात्, वे जो अपने पसीने के बल रोटी खाते है,—किसान, मजदूर आदि । उनकी अपेक्षा मध्यवित्त लोग 'जनता' नही है, और सम्पन्न धनिकवर्ग तो है ही नही ।

मुझे तो वह लेख पसन्द आया । क्योकि उसमें हार्दिकता का जोर है । पर मुझे लगता है, वह भ्रम मे डाल सकता है । साथ ही यह भी प्रगट है कि वह लेख स्वय भ्रम से खाली नही है । भावना में उसके साथ होते हुए भी मै उस दृष्टिकोण से तीव्र मतभेद प्रकट करना चाहता हूँ जो उसमें प्रतिपादित है । क्या वस्तु-स्थिति यह है कि हम चुन ले कि हम 'क' के लिए लिखते है, या 'ख' के लिए ? और यदि 'ख' के लिए नही लिखते, तो हम उसके अपराधी बनते है ? और 'क' या 'ख' के लिए लिखना ही होगा क्योकि वह निर्बल है या प्रबल है, या ऐसा है या वैसा है ?

'विशाल भारत' वाले वक्तव्य का आधार यही है कि मनुष्यता मूल रूप से वर्गो में बँटी है, और तुम्हारी सहानुभूति या तो एक वर्ग के साथ है और वह सब वही खर्च होती है, नही तो दूसरे वर्ग के साथ है और पहले वर्ग के तुम दुश्मन हो ।

इस दृष्टि को जब व्यवहार में उतार कर देखते है तो इसका रूप यह होता है कि, 'देखो जी, जिस दल मे मै हूँ (और, क्योकि मेरी भावनाएँ और सहानुभूतियाँ वहाँ पुष्ट होती और व्यय होती है, इस

मैं निस्संशय मानता हूँ कि जगत् का उद्धार उसी वर्ग के द्वारा है। उसी के साथ तुम नहीं हो तो तुम नहीं कह सकते कि तुम हमारे दुश्मन नहीं हो। समझे? अब सुन लो" तर्कवादी तर्क से सिद्ध कर सकता है कि मेरा स्वार्थ अलग है तुम्हारा अलग। न केवल इतना ही, उससे आगे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि एक के स्वार्थ पर डाका डालकर ही दूसरे का स्वार्थ पुष्ट होगा अन्यथा नहीं। और इसी भाँति कहा जा सकता है कि मानव-सत्य भी स्वार्थ का परस्पर-संघर्ष ही है,—वर्ग-वर्ग के स्वार्थ और हित भिन्न हैं, विरोधी हैं, और अमुक एक वर्ग के प्रति सद्भावना, आवश्यक रूप में, दूसरे वर्ग के प्रति द्वेष-भावना के बल पर ही साधी जा सकती है। तो मैं कहूँगा कि तुम्हारे तर्क का सत्य यह है तो हो,—साहित्यिक का सत्य यह न हो सकेगा।

साहित्यिक का सत्य तो यह है कि मनुष्यता एक है। वह इसी सत्य को निरन्तर खोजता है और निरन्तर, अपनी भावना और रचना से, वह उसको निकट लाता है। यदि मनुष्यता कहीं एक नहीं है, और तत्त्व यही विग्रह है, कलह है, विच्छेद है—तो वह मिथ्या है। और इस मिथ्या के साथ लड़ाई ठाने रखना साहित्यिक का धर्म, उसका सत्य-आग्रह बन जाता है। वह उस मिथ्या को स्वीकार न कर सकेगा। कारण प्रतिक्षण वह उसे तोड़ने और ढाने में लगा है।

जो कुछ मनुष्य ने बनाया है उसको ही दृष्टि में प्रधान रख कर हम यदि देखते हैं तो दीखता है कि मनुष्यता असंख्य स्वार्थों में बँटी हुई है। यहाँ दूसरे पर एक का हावी हो जाना ही उसकी सिद्धि है, और शक्ति ही न्याय है, और 'अहम्' ही सत्य है। जीवन में विधि-निषेध और राग-द्वेष की आवश्यकता का जंजाल-सा फैल रहा है। इसने यह किया है, इसे फाँसी दो; इसकी लाटरी का नम्बर ठीक निकल आया है, इसलिए इसे पाँच लाख रुपए दो। जीवन में यह विषमता हमें स्वादिष्ट लगती है।

फाँसी से हम डरते है और सोचते है कि हाय-हाय, हमारे नाम यह लाटरी क्यो नही निकल आती।

मनुष्य ने यह जो बनाया है, जो समाज, सरकार और सभ्यता खडी की है, वह एकदम धता बताने लायक ही हो सो नही, पर जिसने मनुष्य को बनाया है और जिसके लिए मनुष्य बना है और मनुष्य के द्वारा जो व्यक्त और सम्पन्न हो रहा है, उसे भी ध्यान मे रख सके तो दीखे कि समता और एकता भी कही है। कही क्यो,—सभी कही है। और तब अनैक्य और वैषम्य में प्रलोभन हमारे निकट नही रह जाय और हम स्पष्ट देखें कि हमारो स्थिति वही है जहाँ सर्वस्व भेद नही है।

मनुष्य ने एक वस्तु बनाई है, पैसा। धरती में से धातु निकाली, उस पर मोहर ठोकी, और मनुष्य-मनुष्य के बीच वह आदान-प्रदान का सहज साधन बना। पैसे की उपयोगिता से इन्कार करना अपना अभिमत नही है। पैसे के अभाव में मनुष्य आपस में कोसो दूर बना रहता, पैसे से वह पास आया है।

लेकिन मनुष्य की बनाई कौन-सी चीज सम्पूर्ण है ? पैसा जितनी तेजी से बढा, मनुष्य का हृदय उतनी तेजी से नही बढ सकता था। धीरे-धीरे उन हृदयो को फाडने के काम में वह आने लगा। उसने जमा होकर आदमी को आदमी कम रख के उसे अधिक गरीब या अमीर बना देना आरम्भ किया।

अब एक दृष्टि वह है जिसमें आदमी आदमी पीछे है, वह गरीब और अमीर पहले है। आदमी के बारे में जितना कुछ हमें ज्ञात होता है वह इसमें समाप्त हो जाता है कि वह पैसे वाला है या बेपैसा है। स-पैसा या अ-पैसा होना तो मात्र स्थिति है, एक ऊपरी पहरावन है, तथ्य-वस्तु तो व्यक्ति है,—यह भाव हम से खो जाता है। और हमारी मति मे मनुष्य तो उपलक्ष्य, गौण-मात्र हो रहता है, उसकी गरीबी-अमीरी ही केवल हमें जानने की वस्तु रह जाती है।

अमुक के पास पैसा नही है, क्या इसीलिए वह मनुष्य से कम है ? या इसीलिए वह मनुष्य से ज्यादा है ? या कोई पैसे वाला है, इसी कारण देवता या राक्षस है ? ऐसा नही है, क्योकि मनुष्यता से अनपेक्षित रहकर गरीबी-अमीरी कुछ चीज नही है। मुझे भय है कि 'विशाल भारत' के लेख में गरीबी-अमीरी का पार्थक्य ज़रा जोर के स्वर मे और ज़रा गहरे रग में उभर आया है। और खुद उसकी खातिर निर्धनता और दीनता के पक्ष का प्रलोभन होना शायद अपनी खातिर धनाढ्यता के लोभ से कुछ कम भयावह वस्तु भले हो, पर फलत वे दोनो एक-सी अयथार्थ वस्तु है।

पर साहित्य, 'विशाल भारत' की ओर से मै अपने से पूछूँ, क्या बिना चुनाव, झुकाव या पक्षपात के एक पग भी चल सकता है ? तब दुपहरी की धूप मे पसीने से चुचुआता नगा बदन लिए फावडे से खेत खोदता हुआ और बीच-बीच में खुले गले से राग अलापता रमल्ला और इश्क की कहानी पढती हुई बिजली के पखे के नीचे अधढकी और अधलेटी रसीली रम्भा,—इन दोनो में से, बताओ, साहित्य किसको लेकर धन्य होगा ?

हाँ, मै कहूँगा, स्रष्टा के लिए हेयोपादेय की तरतमता होनी होगी और जितनी स्पष्ट और पैनी हो उतना। अच्छा यहाँ तक कि उसकी धार इतनी सूक्ष्म हो कि वह व्यक्तियो मे से पार होती चली जाय और व्यक्ति को दैहिक चोट तनिक न अनुभव हो। पर जिस तरह रमल्ला अधिक-से-अधिक ईमानदार और उद्यमी और त्रस्त होकर भी अपने ऊपर लिखी गई रचना को निकम्मी होने से नही रोक सकता, उसी तरह रम्भा अधिक-से-अधिक कुटिल होकर भी अपने ऊपर लिखी गई साहित्यिक रचना को अतिशय धन्य होने से नही रोक सकती। मेरे भाई, (मै अपने से कहूँगा) किसी की भी आत्मा वेदना और स्वप्न से खाली नही है। अहकार छोडकर उसकी आत्मा में तुम तनिक झाँक सको,—चॉडाल हो

कि ब्राह्मण, वेश्या हो कि सन्त, राजा हो या रक,—तो सब कही वह है जो तुम्हारी खोज की वस्तु है। किसी को तजने की आवश्यकता नही, किसी को पूजने की ज़रूरत नही। साहित्य के आदर्श की मूर्ति को 'रमल्ला' मे स्थापित करने के लिए उसे 'रम्भा' मे से क्यो तोडते हो ? यो तो मूर्ति ही गलत है, क्योकि मूर्ति से बाहर होकर भी साहित्य का आदर्श ठौर-ठौर अणु-अणु में व्यापा है। लेकिन यदि तुम मूर्ति चाहते ही हो, और रमल्ला मे आदर्श-दर्शन तुम्हे सहज होते ह, तो सहर्ष तुम उस मन्दिर मे सर्वाङ्ग-मूर्ति प्रतिष्ठित करो। मे तो कहता हूँ, यानी अपने से कहता हूँ, 'मेरे लिए तो सब कुछ मन्दिर है, मुझे तो सभी व्यक्तियाँ मूर्तियाँ भी है। लेकिन, तुम इस नये यत्न में 'रम्भा' को, या किसी और की मूर्ति या मन्दिर को तोडने की ज़िद रखना जरूरी न समझो। इससे तुम्हारा ही अपकार होगा।'

लेकिन, प्रश्न तो है,—हम किस के लिए लिखें ? साहित्यिक उद्यमी होने के नाते क्या दिशा हम उसे दें ? क्या सब अधाधुन्ध चलने दें ? हमारे युवक बिगडते है, स्त्रियाँ विपथगा होती है, भ्रष्टाचार फैलता है,—यह होने दे ? और तब जब कि दुर्भाग्य से सपादक की जिन्मेदारी हमारे अनुद्यत कधो पर रक्खी है, और हमे कुछ-न-कुछ बनाना होता है।

किस के लिए लिखे ? यह सोचते हुए जब मै यहाँ पहुँचता हूँ कि दुनिया की भलाई के लिए लिखो, तब मुझे आशका होती है। ध्यान आता है कि हर मिनिट जीने के लिए मैं जिसका ऋणी हूँ,—आज उसका उपकारक, उद्धारक होने चला हूँ ? और भलाई करूँ, इस विचार में से पर्याप्त प्रेरणा भी नही प्राप्त होती। अपने सुख के लिए लिखूँ, तो नही जानता कि लिखने में मुझे सुख होता है या नही। और मुझे सुख होता भी है तो तब जब पाता हूँ कि छपकर वह बात सैकड़ो के पास पहुँच गई है, और दो एक तारीफ भी कर रहे है। मुझे सुख भी तो 'मुझ से दूसरे

सुख पा रहे हैं' यह जानकर ही होता है। अच्छा, और जो किसी ने तारीफ नही की, बल्कि मेरी रचना की कुछ बुराई ही हुई, तो क्या मै न लिखूं ? अपने सुख के लिए लिखूं तो ऐसी हालत मे मुझ मे लिखने की प्रेरणा शेष नही रहेगी।

'अपने लिए लिखे, या पराए के लिए ?' जब यह प्रश्न इस भाँति द्वि-मुखी होकर मेरे सामने खडा हो आया तब मुझे सूझा नही कि मे उसपर चलूं या इसपर, और दोनो से बच निकलने राह कहाँ थी ? उस समय मालूम हुआ कि अरे, अपने अहकार मे भरा मै यह क्यो नही सोचता कि एक वह भी तो है जहाँ पराया भी अपना है और अपना सब ही कुछ जिसमे समाया है। बस उसी के लिए तो यह सब रहना, करना, और लिखना है। यानी अपने भीतर और बाहर अधिष्ठित उसी एकमात्र सत्य की प्रतिष्ठा के लिए मै लिखूं।

'विशाल भारत' ने जो 'जनता-जनार्दनाय' लिखा है, वह ठीक। लेकिन क्या सिर्फ 'जनार्दनाय' मेरे निकट और भी ठीक न होगा ? कारण, 'जनता' मे पशु-पक्षी कहाँ है, वनस्पति कहाँ है ? यह आकाश तारे कहाँ है ? और 'जनार्दन' मे तो हमारा ज्ञात-अज्ञात सब है।

लेकिन 'जनार्दन' को आजकल कौन जाने कौन माने ? इससे आजकल की भाषा मे कहना हुआ,—सत्य की शोध, सत्य की चर्या, सत्य की पूजा के लिए हम लिखे।

इसके बाद गरीब के लिए लिखे, अमीर के लिए लिखे, साधारण के लिए लिखें, असामान्य के लिए, दुराचारी या सदाचारी के लिए, स्त्री के लिए या पुरुष के लिए, मनोरजन के लिए या साधना के लिए ?—ये बाते अधिक उलझन नही उपस्थित करती।

सत्य के प्रसार और अगीकार के लिए हम लिखते है। सत्य मे जो बाधा हैं वही गिराना सत्य का ऐक्य है। कुछ एक दूसरे के निकट अछूत हैं, गलत समझे हुए (misunderstood) है, आधे समझे हुए (half-

understood) है,—कुछ त्याज्य है, दलित है, त्रस्त है, अपराधी है, अभियुक्त है, दीन है, बेजुबान है, कुछ गर्वीले है, दर्पोद्धत है, दुष्ट है, निरकुश है—यह सब सत्य है। यह क्यो ? मनुष्य की अहकृत मान्यताओ मे घुटकर जीवन एक समस्या बन गया है और अपने चारो ओर दुर्ग की-सी दीवारे खडी करके उनमे अपने स्वार्थ को सुरक्षित बनाकर चलने के लिए सब अपने को लाचार समझते है। वे दीवारें सब को अलग बनाये है,—हृदय को हृदय से दूर रखती है।

एक को दूसरे के हृदय के निकट देखें और सबको विश्व-हृदय के निकट देखें, और इस प्रकार विश्व के जीवन मे सत्योन्मुख एकस्वरता उत्पन्न हो। जिससे यह हो, वही तो हम लिखेंगे। और यदि इस प्रकार कुलटा नारी के प्रति कट्टर पति का हृदय हम ने अपनी रचना से पिघला कर आर्द्र कर दिया, प्रेमिका को मारने को उद्यत प्रेमी का खड्ग-सिद्ध हाथ रोक लिया, रोते को हँसा दिया, गर्वस्फीत को मुलायम कर दिया, 'विशाल-भारत' को 'रम्भा' के प्रति क्षमाशील कर दिया, तो यह उसी भाँति शुभ और आवश्यक है जैसे यह कि मजदूर के प्रति अफसर में, दीन के प्रति धनाढ्य में, कृषक के प्रति मालिक में, और शासित के प्रति शासक में सहानुभूति का उदय होना। जहाँ यह सत्यशील प्रेम-भावना नही, वहाँ ही असत्य है। उस असत्य के मुकाबले की अवश्य जरूरत है, पर सत्य-चर्या मे ही हर प्रकार के मुकाबले की शक्ति है और उसी में से स्वय खप जाने की राह भी प्राप्त होती है।

किसी के प्रति भी तिरस्कार या बहिष्कार का भाव रखने के भाव को साहित्य मे मजबूत नही होने देना होगा। और न किसी को सीधे दबाने का लोभ होना चाहिए। अपने भीतर की प्रेम-शक्ति का अकुठित दान ही साहित्य के पास एक अस्त्र है, जो अमोघ है।

लेखक के प्रति

यह तत्त्व लेखक बनने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक महाशय को जान

लेना चाहिए कि रामचन्द्रजी को मूर्त रूप मे प्रस्तुत करने मे ऋषि वाल्मीकि ने अपनी पवित्रतम भावनाएँ और उच्चतम विचार और श्रेष्ठतम अंश का दान दिया। वाल्मीकि मे जो सर्वोत्कृष्ट है, वही राम है। लेखक की महत्ता यही है कि जो उसमें सुन्दर है, शिव है, सत्य है,—जो उसमें उत्कृष्ट है और विराट् है उसी को वह सबके अर्थ दे जाय। उसे अपना और अपने नाम का मोह न हो, वह अपने आदर्श के प्रति सच्चा हो, स्वप्न के प्रति खरा हो। उसका आदर्श ही अमर होकर विराजे, पूजनीय हो,—इसी में लेखक को सतृप्ति है, सफलता और सार्थकता है।

मेरी इच्छा है जो लेखक बने वह पाठक को वह दे जो उसके पास अधिक-से-अधिक मार्मिक है, स्वच्छ है और बृहत् है।

: ३५ :

लेखक की कठिनाइयाँ

मुझे ख्याल न था कि लेखक की कठिनाइयो पर कुछ कहना होगा। कठिनाइयाँ जिन्दगी मे जरूरी चीज है। उनके सहारे आदमी अपने को जानता है और वस्तुस्थिति को जानता है। दुनिया मे जो परस्पर का सम्मिलन आवश्यक है, वह किन सिद्धान्तो पर होगा, इसका पता पारस्परिक रगड से ही होता है। मेल कुछ ऐसा होना चाहिए कि व्यक्ति का व्यक्तित्व भी बना रहे और समूह की समुदाय-शक्ति भी कम न हो। व्यक्ति मे और परिस्थिति मे जब मेल नही होता तभी कठिनाई उपस्थित होती है। और कठिनाई के कारण यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि व्यक्ति कैसे वर्तन करे कि स्थिति मे उन्नति भी हो और अशान्ति भी न बढे।

इसलिए यदि यहाँ मै कुछ अपने सम्बन्ध का अनुभव लिख भी रहा हूँ तो सिर्फ इतने के लिए कि हम घर वाले वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लें और स्थिति बोध के आधार पर फिर उन्नत हो।

कोई क्यों लिखता है ?

अपनी ओर देखकर जब मै अपने से पूछता हूँ कि कोई क्यो लिखता है, तो मुझे मालूम होता है कि असमर्थ होने के कारण व्यक्ति लिखता है। जो बचपन से चपल है, तेज है, जिनको सहज प्रशसा और सफलता प्राप्त होती है, वे लेखक नही बनते। जो क्लास में पढने में होशियार होते है, जो स्पोर्टस में अथवा क्लब मे सर्व-प्रिय होते है, उनके लेखक बनने की सम्भावना उतनी ही कम होती है।

हर बात पर हमारे मन में कुछ चिन्ताएँ चला करती है। वे या तो

खर्च होती रहती है, नही तो जमा होती रहती है। उस व्यक्ति के भीतर वे अनिवार्य रूप से जमा होती है, जिसे उन्हे अपने से बाहर खर्च डालने का सुभीता नही है।

सचित होते-होते वे उनमे क्लेश तक उपजाती है। व्यक्ति उनके बोझ से त्रास पाता है। उस त्रास से छुट्टी तो मिलनी चाहिए। नही तो वह त्रास आत्मा को दबाए रहता है।

लिखना भी जाने-अनजाने उस त्रास से छुटकारा पाने की एक युक्ति है।

कुछ विशेष प्रकार की प्रकृतियो के पुरुष होते है, जो इस सारे घुटते हुए भावना-सचय को न जाने किस प्रक्रिया से आनन्द मे परिवर्तन कर लेते है। उनमें सबके प्रति प्रसन्नता लहरा चलती है। आपदाओ के प्रति उनमे वैर-भाव नही रहता। न उनके लिए कोई शत्रु रहता है, न कोई भयकारक वस्तु। अपनी ही परिस्थितियो मे वह मुक्त-सम होते हैं। इच्छाएँ उनकी अशेष हो रहती है। यदि कुछ करते है तो स्वय नही करते, वह उनसे सहज भाव से होता ही है। यह अवस्था सत की है। जो इस पद्धति से अपने को वश मे करता है, वह निश्चय सर्वथा मुक्त बनता है।

ऐसी प्रकृति का व्यक्ति लेखक नही होता। यह नही कि वह लिखेगा नही, किन्तु उसमे द्वन्द्व न होगा। जहाँ द्वन्द्व है, लेखक वही तक है। उस संत से लगाकर नीचे उस व्यक्ति तक जो बस अपनी नानाविध इच्छाओ के ताल पर जीवन मे नृत्य करता दीखता है; जो क्षणो पर रहता है, जिसमें गति है तो अधी, अन्यथा गति ही नही है, जिसमे आत्म-चिन्तन की अभी इतनी आवश्यकता नही उपजी है कि उसे वह स्वरूप दे—सत से उतर कर इस धरातल तक लेखक की अनेकानेक कक्षाएँ है।

वह अपने पर काबू पाना चाहता है। वह काबू सहज उसे मिलता

नही । पूर्ण सामजस्य अभी उसके व्यक्तित्व मे हो नही सका है। पर जाग्रत तो वह है । इस भाँति शका उसकी सबसे बडी व्याधि है और वेदना सबसे बडी निधि । शकाओ पर शका करके और उनके उत्तरो पर उत्तर देकर वह उन्हे टालना चाहता है। पर एक शका टलती है, तो आगे फिर प्रश्न विद्यमान मिलता है ।

प्रश्न उससे पूरी तरह हल नही होता। न वह स्वय विश्व-नियम मे पूरी तरह हल हो पाता है। अपने-आप में कुछ एक अलग गाँठ-सी उसे बने रहना पडता है। इसलिए उसके सामाजिक शक्ति बन उठने की कम ही सम्भावना होती है । समग्र के विरोध मे वह भीतर से अपने को सशक्त भी अनुभव करता है, किन्तु अपनी अशक्ति का भान भी उसे होता ही है । इसी अशक्ति की अनुभूति का अभाव प्राप्त करने के लिए उद्यत हो कर वह कल्पना और भावनाओ से तरह-तरह की सृष्टि करता है। मानो अपने भीतर उठती हुई शकाओ के मुँह पर फेकने के लिए वह ये सृष्टियाँ रचता है ।

लेकिन मै ज्यादा कह गया। मुझे याद पडता है कि सन् '२८ में मैने पहले-पहल लिखा। लिखना मेरे लिए स्वप्न की ही बात थी । जब पढता था, लिखने से घबराता था। परीक्षा में छोडकर शायद ही कभी कोई निबध क्लास मे लिखकर मैने दिया होगा। सूझ ही न पडता था क्या लिखा जाय, कैसे लिखा जाय ? भाषा शुद्ध कैसे लिखी जायगी और 'आज्ञा-पालन पर' क्या कहूँ, क्या न कहूँ ? अगर लाचार होकर कुछ लिखकर भी दिया है, तो इधर-उधर की निबधमालाओ से कुछ पैराग्राफ इकट्ठे करके उन्हे ऐसे आगे-पीछे लगाकर और बिगाडकर दे दिया है कि पता चले बिना न रहे कि यह अनाडी आदमी की चोरी है। मेरी तो कोशिश यही रहती थी कि मेरी बुद्धिमत्ता प्रकट हो, लेकिन अब मै जानता हूँ कि किस भाँति उसमें से मुझ अनाडी की चोरी का हाल खुला-खुला प्रकट हो जाता होगा। कालिज तक मेरा यही हाल रहा।

'पार्लमेंटेरियनों' या कूटनीतिज्ञो के ही विषेश प्रयोजन की वस्तु नही मानी जानी चाहिये। कुछ चुनिन्दा और प्रतिभावान लोगो का जीवन व्यवसाय या धधा भी हम उसे नही मान सकते। वह तो सब की चिन्ता और प्रयोजन का विषय होना चाहिए, ताकि मानव जाति एक कुटुम्ब का रूप ले सके, और यह जगत सबका एक घर बन जाए।

इस तरह राजनीति सबका समावेश कर लेती है और साहित्य भी समूचे जीवन-प्रसार को आश्लेषित कर लेता है। इन दोनो को एक-दूसरे से सर्वथा निर्वासित करके किन्ही विशिष्ट भिन्न-भिन्न विभागो में नही बाँटा जा सकता, कि वे अपने आप से सीमित हो रहें और एक दूसरे से अलग-अलग रक्खे जायें। निश्चित ही वे एक-दूसरे पर सीधा प्रभाव डालेंगें, क्योकि वे कोई ऐसी प्रवृत्तियाँ नही है जो जीवन के इस या उस क्षेत्र से ही सीमित और सम्बन्धित हो और शेष जीवन-क्षेत्रो से कोई सरोकार न रखती हो। हर आदमी को स्वतन्त्रता है कि मन हो तो वह लिखे और इस बात की भी स्वतन्त्रता है कि बढकर वह कही अपने-आपको चुनवाले। सच तो यह है कि भाषा सबके लिए है, वैसे ही प्रगति भी सबके लिए है। हम सभी अपने-आपको व्यक्त किया चाहते है और हम मे से हर आदमी एक-दूसरे से चढ-बढ जाना चाहता है। इस तरह साहित्य और राजनीति दोनो ही अनिवार्य रूप से, समूचे और सर्वसामान्य मनुष्य से सम्बन्ध रखते है। उसका मनुष्य होना ही इस बात के लिए पर्याप्त है कि वह दोनो मे अपना दखल रक्खे। सर्वसामान्य मनुष्य को आधार बनाकर ही दोनो पनपेंगे, इसी से दोनो को उसकी सेवा भी करनी होगी। मनुष्य से वियुक्त होकर भटक जाना साहित्य और राजनीति दोनो ही में गलत होगा।

जब साहित्य और राजनीति इतने निकट और सयुक्त है, तब जान लेना होगा कि यदि अपने-आपके प्रति सच्चे होना है और साथ ही

परस्पर एक-दूसरे की परिपूर्ति करना है, तो उन दोनो के बीच क्या सम्बन्ध रहना चाहिए।

हम जानते हैं कि दोनो अपने लक्ष्य-दर्शन मे भिन्न पड जाते हैं और दोनो का जोर जीवन के विभिन्न पहलुओ पर है। साहित्य के निकट मनुष्य अपने निज रूप में प्रस्तुत है। वहाँ उसकी सत्ता का ही मूल्य है, उसकी सम्पदा का नही। साहित्य के लिए मनुष्य साध्य है, न कि साधन। राजनीति की और बात है। वहाँ मनुष्य गौण है; वहाँ उसका मूल्य कूतते समय देखा जाता है कि उसके पास क्या है, क्या साधन-सम्पदा है, वह किस चीज का प्रतिनिधि है? वहाँ उसकी सम्पदा का प्राधान्य है और उसी के आधार पर उसका मूल्य-मान आँका जाता है। राजनीति में महत्त्व की बात यह है कि मनुष्य कितनी शक्ति, प्रभाव, धन या वस्तु-सम्पदा का स्वामी है; किसी पार्टी, सघ या तत्त्वावधान की सदस्य-सख्या के नाते वह कितने लोगो पर अपना प्रभुत्व रखता है, या वह कितने लोगो का प्रतिनिधित्व करता है। मूल्य उस मनुष्य का नही है जो अनुभव करता है, सोचता है, पर उसका है जो वोट देता है, जो काम करता है। वहाँ आन्तरिक, सारभूत मूल्य को नही, बाजार-दर को अवकाश है। मनुष्य को वहाँ गुण से नही, वस्तु से परखा जाता है। राजनीति के लेखे मनुष्य साध्य नही है वहाँ वह केवल साधन है। हर आदमी की उपयोगिता या अनुपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि वह कहाँ तक एक साध्य विशेष को प्राप्त करने में कार्य-क्षम और सुविधाजनक साधन बन सकता है। राजनीति में मनुष्य की स्थिति उतने ही अशो में न्याय्य है, जितने अशो में वह किसी सरकार या पार्टी का आज्ञाकारी सेवक हो रहता है। चूँकि साध्य वहाँ सरकार है और मनुष्य मात्र साधन है, और चूँकि साध्य ही वहाँ साधन की प्रमाणिकता के लिए पर्याप्त है, इसी से जो लोग वहाँ उस साध्य (यथा State) के साथ सगति नही साध पाते है, वे निरर्थक हो पड़ते हैं। उन्हे स्थानांतरित होने का हर अवसर दिया जाता है, या फिर सुरक्षा या किफा-

यत के विधान के अन्तर्गत उन्हे समाप्त भी किया जा सकता है। राजनीति के लिए यह एक नगण्य सी बात है। साध्य की प्राप्ति के लिए सकल्प-बद्ध राजनीति के लिए साधन पर रुकना जरूरी नही होता। वह तो सदा लडकर विजय प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध रहती है, और वस्तुत विजय का अर्थ होता है वहाँ बाधा को निवारण कर देना, विरोधी को, शत्रु को उखाड फेकना।

निश्चय ही प्रत्येक को सर्व के लिये जीना और रहना सीखना होगा। धार्मिक मनुष्य के लिये वही 'सर्व' भगवान है, नैतिक मनुष्य के लिये वही 'शिव' है, 'सत्' है, कलाविद के लिये वही सौन्दर्य और सुसवादिता है; और राजनीतिक के लिये वही 'सर्व' है—सर्वसत्ताधीश सरकार। पर यह जो सरकार है, यह अन्य आदर्शो की तरह सूक्ष्म नही है। सूक्ष्म, व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अपने को लादता नही है। सूक्ष्म होने के बजाय सरकार तो बेहद स्थूल है। वह मनुष्य को बधनो में जकड सकती है, उसे पचा जा सकती है, उसे मौत के घाट भी उतार सकती है। स्वायत्त अधिकार हाथ रखकर सरकार अपने शासित मानवो से अपने विधान और नियमो को पूरी तरह मनवा लेती है और उनसे उनका अचूक पालन भी करवा लेती है। अपने सघटन में ही वह इतनी कसकर सर्वसत्ताधीश हो उठती है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिये कोई अवकाश ही नही रहने देती। बलात् समानरूपता कायम करने के लिये वह कानून जारी करती है। अपनी ठोस सत्ता का पालन कराने के लिये वह हर सम्भव भिन्नत्व का गला घोट देती है और स्वस्थ मतभेद को इजन के रोलर की तरह कुचल देती है। राजनीति जब 'सर्व' के लिये 'प्रत्येक' के जीने के सिद्धान्त को प्रस्थापित करने की कोशिश करती है, तो वह कुछ ऐसी जीवन-व्यवस्था उत्पन्न करती है जिसमें जीवन उन्ही कुछ लोगो तक सीमित हो जाता है जो स्वय सरकार बन बैठते है। शेष के लिये वह जीवन नही होता है,

प्राय वह एक ठण्डी मौत होती है। यह राजनीति के कारण ही है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की यह समस्या उत्पन्न हो रही है और अनिर्वार वेग से आगे बढती जारही है। वह समस्या अनगिनत रूपो मे प्रस्तुत होती है। अल्पमत की समस्या, होडा-होडी और संघर्ष में पडे हुए समुदायो वर्गो और सगठनो की समस्या। राजनीति अधिक से अधिक इन समस्याओ के साथ खिलवाड कर सकती है और एक समस्या को हल करने की कोशिश में वह और भी दो नयी समस्याए खडी कर सकती है।

इस तरह देखता हूँ कि राजनीति निश्चित रूप से और ज्वलन्त रूप से विफल हुई है। यह जो अन्तहीन युद्धो की परम्परा निरन्तर मनुष्य को आतकित किये है, उसकी नितान्त विफलता का एक प्रकाण्ड प्रमाण है। और यह परिणाम उसमे अनिवार्य था, क्योकि राजनीति पूर्ण-सत्य के अर्ध भाग को, एक महत्वपूर्ण अर्धांग को छोडकर चलती है। और पूर्ण सत्य का वह अर्धांग है : यदि एक सर्व के लिये है तो सर्व भी एक के लिये हो।

अनुभव करता हूँ कि इस जगह राजनीति आवश्यक सशोधन के लिये साहित्य के पास आ सकती है। साहित्य में आदर्श बाधक नहीं हो पाते। यहाँ भगवान को यदि होना है, तो उन्हें मनुष्य में आ रहना होगा। और उनकी भक्ति को मनुष्य के वैयक्तिक आचार व्यवहारो के भीतर से व्यक्त करना होगा, नही तो साहित्य के लेखे भगवान ना-कुछ हो रहेगे। ऐसे ही अन्य धारणा-मूलक बाधाओ के लिए भी साहित्य में अवकाश नही है, और न विशेष समादर है। नीतिवादी का 'श्रेय', सौन्दर्यवादी का 'सुन्दर', समाजवादी के सपने का समाज और राजनीतिक की सर्व-सत्ताधीश सरकार, ये सब साहित्य के लिये नितात असम्बद्ध और हठात् कल्पित तत्व है। सर्जक तक इनकी गति नही है, उस पर इनकी शक्ति का प्रभाव और आतंक नही है। इन बड़ी-बडी आदर्शवादी निर्धारणाओ में

से प्रत्येक को नीचे उतर आना होगा, और टूटकर अपने आपको मनुष्य के 'प्रत्येकत्व' के भीतर विलीन कर देना होगा और तब पारस्परिक व्यवहारो की बुनावट में उन्हें बाहर आना होगा, तभी साहित्य मे वे अपना मूल्य और अर्थ बना सकेंगे। अन्यथा अपने आप मे उन्हें वहाँ कोई भी समर्थन या महत्व प्राप्त नही हो सकेगा। वहाँ साध्य होगा मनुष्य, शेष सब कुछ वहाँ साधन होगा। और इन साधनो का प्रामाण्य और सार्थकता इसी में होगी कि ये मनुष्य की सेवा करते है। जो निर्धारणायें एक सामग्रिक सम्पूर्णत्व का बलात्कारी दावा करती है, उन्हे साहित्य मनुष्य की सीमाए नही लाघने देगा। वहाँ मनुष्य की सत्ता अभग रहेगी।

यदि हम मानवीय सम्बन्धो में सुसवादिता लाना चाहते है और अपने बीच शाति स्थापित किया चाहते है, तो अपना विकास इस तरह करना होगा, जिसके फलस्वरूप 'एक' 'अनेक' के लिये और 'अनेक' 'एक' के लिये जीने लगे। वे सभी प्राणि-सत्तायें जो गिरोह या सामुदायिक जीवन की द्योतक है, उन्हे अपनी बारी से अपने सघटक अगो की सेवा करनी होती है। सगठन के लिए आवश्यक है कि वह मनुष्य की समग्रता को बाहर लाये, उसे उद्घाटित करे, बजाय इसके कि वह उसे अपना निश्चेतन अग होने को बाध्य करे। जबतक 'सर्व' फैलकर हममें से प्रत्येक को परिव्याप्त नही कर लेता, तब तक मानव के पारस्परिक व्यवहार और मिलन में शाँति नही आ सकेगी, सहयोग और सहकार की स्थापना नही हो सकेगी; तनाव सतत बढता ही जायगा और नयी-नयी समस्याए उत्पन्न करता जायगा।

साहित्य, जो 'सर्व' की 'प्रत्येकता' पर जोर देता है, और वैविध्य के वैलक्षण्य को हमारे लिये बनाये रखता है, वह राजनीति को आवश्यक सशोधन दे सकता है। अन्यथा राजनीति कभी नही जान पायेगी कि वह

दुश्चक्र से बाहर कैसे आये, जो उसकी एकान्तिकता ने उसके आस-पास निर्माण कर दिया है, और जिसके भीतर से उसे काम करने और आगे बढने को बाध्य होना पडता है।*

---

* वक्तव्य मूल अंग्रेजी में था : Literature : A Corrective to Politics. हिन्दी रूपांतर श्री वीरेन्द्रकुमार जैन ने किया।

: ३६ :

साहित्य का जन्म

प्रश्न—साहित्य क्या है ?

उत्तर—क्या साहित्य की परिभाषा चाहते है ? परिभाषा अनेक दी जा सकती हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रश्न का उद्देश्य परिभाषा माँगने अथवा लेने का नही है। साहित्य को हमें समझना चाहिए। समष्टि रूप में हम एक है, व्यक्तिगत रूप में हम अनेक है, अलग अलग हैं। इस अनेकता के बोझ से हम ऊपर उठना चाहते है। आखिर तो हम समय के अग ही है। उस समय के साथ ऐक्य न पालें तब तक कैसे हमे चैन मिले ? इसी से व्यक्ति में अपने को औरो मे और औरो को अपने में देखने की सतत अभिलाषा है। मनुष्य के समस्त कर्म का ही यह अर्थ है। मनुष्य के हृदय की वह अभिव्यक्ति जो इस आत्मैक्य की अनुभूति में लिपिबद्ध होती है, साहित्य है।

प्रश्न—साहित्य का जन्म कैसे हुआ ?

उत्तर—इसका उत्तर तो ऊपर ही आ जाता है। मनुष्य अपने आप में अधूरा है, लेकिन वह पूर्ण होना चाहता है। इस प्रयास में क्रमश वह भाषा का आविष्कार कर लेता है, लिपि भी बनाता है। तब वह उस लिपिबद्ध भाषा के द्वारा अपने को दूसरे के प्रति उँडेलता है। अपने को स्वय अतिक्रमण कर जाने की इस चाह को ही साहित्य की मूल प्रेरणा समझिए।

: ४० :

साहित्य, राष्ट्र और समाज

प्रश्न—साहित्य और समाज का सम्बन्ध कैसा होना चाहिए ?

उत्तर—साहित्य सामाजिक अवस्था मे आगे होकर चलता है। वह वर्तमान को ही प्रतिबिम्बित नही करता; भविष्य की सम्भावनाओ को भी धारण करता है। वह अग्रगामी है, अत. स्वाभाविक रूप मे तात्कालिक समाज की प्रगति के साथ उसका सम्बन्ध नेतृत्व का हो जाता है। लेकिन, एक बात तो स्पष्ट ही है; वह यह कि समाज की प्रगति धीमी होती है, विचार की गति क्षिप्र। इसलिए, विचारको मे और समाज की स्थिति मे खाई रहती है,—ऐसा होना अनिवार्य ही है। एक और भी बात है। कल्पना मे विचरने वाला विचारक साधनाशील से कल्पनाशील अधिक हो जाता है,—वास्तव से (स्थूलार्थ मे) अधिक अवास्तव में वह रह सकता है। इसलिए, समाज उसके अनुगमन मे खतरा भी देखता है। इस कारण, समाज अधिकतर साहित्य से अनुरजन ही पाया करता है, नेतृत्व नही। अधिकाश साहित्य होता भी ऐसा है जो लोगो को बहलाता है,—उनका मनोरजन किया करता है। ऐसे साहित्य पर समाज कृपाशील रहता है। किन्तु, लगन से भरे और सिरजनशील साहित्य पर समाज उतना कृपाशील नही हुआ करता। साहित्य भावना जीवी है, समाज अर्थ-जीवी। उनमे परस्पर आदान-प्रदान तो है ही, लेकिन, साहित्य और समाज के उन प्रतिनिधियो में परस्पर विरोध भी दिख पड़ता है जो, या तो, इस किनारे होकर अतिशय साहित्यिक है और स्वप्न लिया करते है, अथवा जो दूसरे छोर पर बैठ कर बेढब सामाजिक और घटना-जीवी और अतिशय व्यवहारवादी बन गये है।

प्रश्न—क्या साहित्य के बिना राष्ट्र और समाज का उत्थान असम्भव है ?

उत्तर—मैं पूछूँ कि क्या हमारे उच्च विचारो पर हमारा उत्थान निर्भर है ? क्या विचार बिना उच्च हुए हमारा उत्थान सम्भव है ? साहित्यिक और है ही क्या ? अपने सीमित अस्तित्व से हम उस असीम को छूना चाहते है, हम अपनी ही सीमाहीनता की अपने सीमाबद्ध अस्तित्व के भीतर अनुभूति पाते है,—वे ही क्षण तो साहित्य के जनक है । अब, उत्थान किस का नाम है ? समाज का उत्थान, राष्ट्र का उत्थान,—चीज क्या है ? व्यक्तित्व के इस विकास का ही नाम तो मै उत्थान मानता हूँ । समाज का उत्थान इस मे है कि वह अपने आप में स्वस्थ रह कर अपने से बाहर के प्रति स्नेहशील और सेवापरायण हो सके । राष्ट्र का उत्थान इस मे है कि वह स्वय स्वाधीन हो और विश्व के हित मे समर्पित हो । मै अहकार को उत्थान नही मानता । बडा साम्राज्य किसी राष्ट्र के उत्थान का लक्षण नही है । राष्ट्र के वासियो की अनथक नि स्वार्थ कर्मवृत्ति और स्वस्थ जीवन-शक्ति ही उस राष्ट्र के उत्थान का लक्षण है । साहित्य उस सबसे कोई अलग चीज नही है । मै आप से फिर कहना चाहता हूँ कि लाइब्रेरी का नाम साहित्य नही है । साहित्य यदि कुछ है तो वह उन भावनाओ का नाम है जो समष्टि के साथ व्यष्टि की सामजस्य-सिद्धि के साधक हो । इस तरह, क्या व्यक्ति और क्या व्यक्ति-समूह,— सब का उत्थान साहित्य के मार्ग मे से है । क्योकि साहित्य है ही उस उत्थान-मार्ग का नाम ।

: ४१ :

रोटी मुख्य है या साहित्य ?

प्रश्न—साहित्य का जीवन से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—जीवन की अभिव्यक्ति का एक रूप साहित्य है। कहा जा सकता है कि व्यक्ति-जीवन की सत्योन्मुख स्फूर्ति जब भाषा द्वारा मूर्त्त और दूसरे को प्राप्त होने योग्य बनती है, तब वही साहित्य होती है।

प्रश्न—क्या साहित्य के बिना जीवन अपूर्ण है ?

उत्तर—कहना पडेगा कि अपूर्ण ही है। अपूर्ण न होता, तो साहित्य जन्मता ही क्यो ? यह तो जाति की और इतिहास की अपेक्षा से समझिए। व्यक्ति की अपेक्षा से आप पूछ सकते है कि स्वप्न के बिना क्या व्यक्ति नही जी सकता ? असल बात तो यह है, कि स्वप्न के साथ भी व्यक्ति अपूर्ण है। क्या स्वप्न किसी क्षण भी सम्पूर्णता का आकलन कर सकता है ? पर वह सम्पूर्णता की ओर उडता तो है, उसे छूता तो है; फिर भी, स्वप्न के योग के साथ भी व्यक्ति क्या अपूर्ण नही है ? स्वप्न के बिना तो है ही। तब, आप उत्तर यही समझें कि साहित्य के साथ भी जीवन अपूर्ण नही है। इतना अवश्य है कि साहित्य के बिना तो वह और भी अपूर्ण है। अपूर्णता का आधार लेकर जो सम्पूर्णता की चाह प्राणी में उठती है, वही साहित्य की आत्मा है।

प्रश्न—रोटी मुख्य है या साहित्य ?

उत्तर—यह सवाल तो ऐसा है जैसे यह पूछना कि जब आप पानी पीते है, तो हवा की आप के लिए क्या जरूरत है ? आदमी सिर्फ पेट ही नही है। और मै यह भी कहना चाहता हूँ कि पेट भी वह चीज नही है जिसे सिर्फ रोटी की ही जरूरत हो,—हृदय बिना पेट का भी काम

नही चलता । जब आप ने रोटी के मुकाबिले में साहित्य रक्खा है, तो मै समझता हूँ आपका आशय किसी जिल्द बँधी पोथी से नही है । आशय उस सूक्ष्म सौन्दर्य-भावना से है जो साहित्य की जननी है । मैं तो उस स्थिति की भी कल्पना कर सकता हूँ जब रोटी छूट जायगी, साहित्य ही रह जायगा । जातीय आदर्श रोटी नही है—रोटी में नहीं है । रोटी तो जीवन की शर्त मात्र है । रोटी ही क्यो, क्या और प्राकृतिक कर्म नही है जो जीवन के साथ लगे है ? लेकिन, उनके निमित्त हम नही जीते और न उनके लिए हम मरते है । आदर्श रोटीमय नही है,—रोटी सा पदार्थमय भी नही है । वह चाहे वायवीय ही हो, लेकिन, उस आदर्श के लिए हम मरते रहते है,—उसी में से मरने की शक्ति पाते है । साहित्य उस आदर्श को पाने का, उसे मूर्त्त करने का प्रयास है । रोटी के बिना हम कई दिन रह लेंगे, हवा के बिना तो क्षणो में ही हमारा काम तमाम हो जायगा,—साहित्य उस हवा से सूक्ष्म, किन्तु, उससे भी अधिक अनिवार्य है । लेकिन, साहित्य और रोटी मे विरोध ही भला आप को कैसे सूझा ? वैसा कोई विरोध ही नही है । यह ठीक है कि जो रोटी को तरसता है उसके फैले भूखे हाथो पर साहित्य की किताब रखना विडम्बना है । लेकिन, यह भी ठीक है कि भारत के भूखे कृषक-मजदूर रामायण के पाठ में से रस लेते है । उनके उस रस पर प्रश्न करना, उसे छीन लेना, भी क्या निरा असम्भव नही है ? अन्त मे, मैं कहूँगा कि आप के प्रश्न में सगति नही है । साहित्य आदमी से सर्वथा अलग करके रखी जाने वाली चीज़ नही है । रोटी का अस्तित्व मनुष्य से अलग है, साहित्य का वैसा अलग है ही नही ।

: ४२ :

साहित्य और नीति

प्रश्न—साहित्य में मदिरा को स्थान होना चाहिए या नहीं ?

उत्तर—साहित्य कोई किसी का मकान तो है नही कि उस में रहने वाला चुन-चुन कर अमुक वस्तु को आने दे या अमुक को निकाल दे। मेरे मकान मे मेरी रुचि व्यक्त होगी, दूसरे के मकान में दूसरे की रुचि व्यक्त होगी । साहित्य किसी के भी एक मकान का नाम नही है। फिर एक और विचारणीय बात है। साहित्य का स्थल कागज है—कागज पर वह लिखा जाता है, या छापकर सग्रह किया जाता है। जब कि उस का स्थूल स्थान कागज है, तब मूल स्थान हृदय है। अब मै समझना चाहूँगा कि आपकी मदिरा क्या चीज है ? मदिरा क्या वह जो जरा लाल होती है और कॉच के गिलास में दी जाती है और पीते वक्त कण्ठ को पकडती मालूम होती है ? वैसी मदिरा तो आप खुद सोचिए कागज में कैसे समा सकती है ? इसलिए साहित्य में यदि कोई मदिरा है तो वह कोई और चीज है। अगर यही लाल कण्ठ पकडने वाली मदिरा है तो फिर वह साहित्य, साहित्य ही कैसा है ? नही तो अधिकतर साहित्य मे मदिरा शब्द रूपक के तौर पर आता है। मदिरा का एक गुण विशेष है कि वह आप को भुला देती है। महद्-भावनाओ में भी यह विशेषता पाई जाती है। वैसी ही किसी महद् भावना को व्यक्त करने के लिये अगर मदिरा की उपमा का उपयोग है, तो इसमें अन्यथा क्या है।

प्रश्न—क्या मदिरा को सामने रखकर ही महद्-भावना हो सकती है ?

उत्तर—नही, अधिकांश में महद् भावना सामने से हर चीज को हटा देने पर हो सकती है। वह लगभग आँख मीचने पर हुआ करती है। नही तो दृष्टि ऐसी चाहिए जो सब को भेदकर पार चली जाय। जब

आँखो पर पलकें बन्द हो जाती है तब उनमें सपने भरते है। यह तो हुई महद्-भावना के उदय और जागरण की बात। जब वह जाग गई तब क्या तो शराब और क्या और कुछ —सब के प्रति आँख खोल कर वह प्रीति वर्तन कर सकती है। महद्-भावना के वशवर्त्ती हुए कि जो शब्द और जो भी प्रचलित रूप प्रस्तुत मिलते हैं, उन्ही मे और उन्ही के द्वारा अपने को व्यक्त करने में आप को कोई घबराहट न होगी। आपको क्या चाहिए ? भोजन चाहिए या कि आप को यहाँ ही अटक रहना है कि बर्तन-मिट्टी का है या कलई का है ? पात्र मिट्टी का भी भला, पर उस में भोजन प्रीति का होना चाहिए। जिन में प्रीति का रस नही, वैसे स्वर्ण-थाल में भी भरे हुए व्यञ्जन किस काम के ? समीक्षको में मै इसी तीसरे नेत्र की दृष्टि चाहता हूँ।

प्रश्न—भोजन तो हमे चाहिए। उसके बिना गुजारा कैसे होगा ? पर साथ ही उसका बनानेवाला भी अच्छा होना चाहिए। आपने इस बात पर कोई प्रकाश नही डाला।

उत्तर—यह बात अंधेरे में कब है कि प्रकाश की प्रर्थिनी हो ? जैसे खराब मन का आदमी भी अच्छी मिठाई बना सकता है, वैसी बात साहित्य के मामले मे नही है। मिठाई मन से नही बनती, पर साहित्य मन से ही बनता है। लेकिन यहाँ पर एक बात याद रखने की है कि किसी को अच्छा या बुरा कह देने में हम हमेशा अपनी सम्मतियो से ही काम लेते हैं और हमारी सम्मतियो के तल में हमारा अहभाव भी होता है। यदि मै अमुक-पन्थी हूँ, तो जो उस पन्थ का नही है, वह कुछ न कुछ खराब है, ऐसा समझ लेता हूँ। हमारे अपने मत-विश्वास हमारी सहानुभूति का परिमाण बाँध देते है। परिणाम यह होता है कि जीवन में हम बहुधा अन्यायपूर्वक, आवेशपूर्वक और अहभावपूर्वक लोगो को बुरा-भला कह दिया करते है। साहित्य साहित्यिक की आत्मा को व्यक्त करता है। साहित्य और साहित्यिक इन दोनो में वैसा पार्थक्य नही है, जैसा कि

हलवाई और मिठाई में होता है। रचनाकार और रचनाकृति मे ऐक्य का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए आप यह निरपवाद मान लीजिए कि अच्छे साहित्य का कर्त्ता अच्छा ही होता है। अगर वैसा नही दीखता तो कही हमारे मत में अथवा मन में कोई गडबड अवश्य है। साहित्य कृतिकार के मन का प्रतिबिम्ब है। इसको अच्छी तरह जानकर साहित्य-रस प्राप्त करनेके लिए हमें अपनी ही मत-धारणाओ के बन्धन से तनिक स्वाधीन होना पडेगा।

प्रश्न—आपने जो यह गडबड की बात कही, वह कैसे हो सकती है—जबकि कृतिकार को तो जानते न हो, केवल उसकी कृति ही हमने पढी हो ?

उत्तर—ऐसी हालत में तो बेशक गडबड नही हुआ करती। कृतिकार कब सशरीर मानव-प्राणी नही है ? हो सकता है कि वह आपके ही कमरे में रहने वाला हो और एक दिन बाजार में आपकी आँखो के सामने पड जाय। अबतक रचनाओ मे आप उसके विचारो का और भावनाओ का परिचय पाते रहे है। अब आप देखते है कि वह फटा हुआ जूता पहिन रहा है, साधारण कपडे पहने है या सजधज में है, चुप है या बोल रहा है, मूँछे है या नही है। इस सबका आपके मन पर अजब प्रभाव पडता है। आपकी सहानुभूति गरीब के साथ है तो आपको चमकदार जूता बुरा लगेगा। आप नई पसन्द के आदमी है, तो शायद है कि उसकी अनसँवारी मूँछें आपको अच्छी न लगे। इसी तरह उसकी चाल-ढाल, कपडे-लत्ते—इन सबका अक्स आपकी धारणाओ पर पडेगा। और आपकी धारणाएँ उस अक्स के अमुक अश को अच्छा और अमुक को बुरा कह छोडेंगी। तब आप अक्सर देखियेगा कि कलाकृति का कलाकार और फटे-कि-चिकने जूते और बढ़िया-कि-मामूली कपड़े वाले उस आदमी में बहुधा पूरी तरह साम्य नही हो पाता है। ऐसी दृष्टियाँ

बहुत कम हैं, जो व्यक्ति को समग्रता में देखती हो। इसीलिए मैंने वह गडबड की बात कही है। ऐसी गडबड विलायतो मे भी है। सभी कही है और सब कालो में थी। किसी के बदन पर का फटा कुरता भिन्न मनुष्यो पर भिन्न प्रकार का प्रभाव डालता है। इसीलिए व्यक्तियो के अन्दाजो में अन्तर हुआ करता है। एक आदमी के दोस्त भी होते है, दुश्मन भी। अगर वह अच्छा है तो उसके दुश्मन क्यो है ? अगर बुरा ही है, तो दोस्त कहाँ से आये ? परिणाम निकला कि व्यक्ति का शुद्ध यथार्थरूप क्या है, इस तथ्य तक पहुँचना ही दुर्लभ है। इसी दृष्टि से मैंने गडबड की बात कही।

प्रश्न—अच्छा तो आपने मान लिया कि साहित्य में मदिरा का स्थान है—ठीक है, मैंने भी माना। परन्तु यह तो बतलाइए कि यह जो अश्लील साहित्य की रचना हो रही है, सो कहाँ तक ठीक है ? दुनिया में अच्छी घटनाएँ भी होती है और बुरी बातें भी। फिर उनको प्रकट करने में भलाई-बुराई क्यो ?—जबकि साहित्य का काम ही यही है।

उत्तर—अश्लील साहित्य अश्लील है। इसलिए उसकी रचना करना भी अश्लील है। 'अश्लील' शब्द में ही यह ध्वनि है कि वह अच्छा नही है। अच्छा होता तो हम अश्लील न कह पाते। जिसको एक भी व्यक्ति अश्लील कहता है, उस साहित्य में कुछ न कुछ खोट है।

जिस व्यक्ति का एक भी दुश्मन है, उसके व्यक्तित्व मे कुछ न कुछ कुछ खोट है। लेकिन जब आदमी को बुरा कहने वाला कोई नही रहता, तब आदमी मर चुका होता है। मरने पर दुश्मन कोई नही रहता। इससे पहले यह स्थिति प्राप्त नही होती। परिणाम निकला कि व्यक्ति मरने पर निर्दोष होता है। जीवन मे तो निर्दोषिता की ओर बढना ही होता है।

जन्म कर्म-बन्धन में से होता है। वैसे ही साहित्य असमर्थतामें से उत्पन्न होता है। किन्तु उसकी उत्पत्ति का प्रयोजन है कि सामर्थ्य दे, जैसे कि जन्म पाकर व्यक्ति का पुरुषार्थ है कि वह मुक्ति की ओर बढे।

इसलिए जिससे कोई विचलित नही होता ऐसा पुरुष और ऐसा साहित्य निर्जीव है।

यहाँ आपको लगेगा जैसे हम चक्कर में फस गये है। हाँ, वह चक्कर तो है। और इसी को समझ लेना बडी बात है।

दुनिया में बुरा-भला सब कुछ है। ईश्वर सबको देखता है, फिर भी वह अलिप्त रहता है। क्योकि वह अलिप्त रह सकता है और रह रहा है, इसलिए उसीको सामर्थ्य प्राप्त है कि वह अनादि इतिहास के सब पाप और सब पुण्य देखता रहे। सब पाप और सब पुण्य उसमें लय हो जाते हैं।

हम मे वैसी अलिप्तता नही है। इसलिए हम सब कुछ नही देख सकते। स्पर्द्धापूर्वक अगर हम अपने सामर्थ्य मे अधिक देखने जानने का यत्न करेंगे तो हमारी आँखें फूट जायँगी और हमारा सिर फिर जायगा।

ऐसा ही सिर-फिरा साहित्य अश्लील होता है।

जहाँ स्त्री को घृणापूर्वक (अर्थात् रसपूर्वक) वेश्या, व्यभिचारिणी आदि कहा जाता है वहाँ अवश्य अश्लीलता है, चाहे वहाँ कितनी ही चतुराई से काम लिया गया हो। घृणा अश्लील है।

जहाँ स्त्री में माता-भगिनी की बुद्धि है, वहाँ अश्लीलता नही है; चाहे वहाँ शारीरिक नग्नता का जिक्र भी क्यो न आ जाय।

सूरज के प्रति धरती क्या अप्रकट है? धरती है ही सूरज का भाग। इसलिए सूरज जब धरती को अपनी धूप का दान करता है और धरती उस दान को स्वीकार कर उजली होती और खिल पडती

है—तब क्या उस मे आसक्ति है ? तब क्या सूरज कोई मैला रस पा रहा होता है ?

इसलिए धरती तक सूरज की किरणे उसके तमाम वस्त्रो को भेद-कर पहुँच ही जाती है और वह धरती पाप के अगणित परमाणुओ से आवेष्टित होकर भी सूरज की आँखो के आगे सदा दिग्वसना है और वैसी होकर कृतज्ञ है ।

इसलिए प्रकट-अप्रकट का प्रश्न न कीजिए । बडा प्रश्न अनासक्ति के अधिकार का है । जहाँ प्रदर्शन है वहाँ आसक्ति है और जहाँ अनासक्ति है वहाँ अभिव्यजन-प्रकाशन ही हो सकता है ।

प्रश्न—दुनिया में हरेक तरह की घटनाएँ होती है, उनमें अश्लील भी होती है । क्या उनको प्रकट करने में साहित्य को आपत्ति है ?

उत्तर—घटना घटना होती है । अपने आप में न वह अश्लील होती है, न शिष्ट । हमारा उस घटना के साथ क्या नाता है, उसके प्रति क्या वृत्ति है,—अश्लीलता इस पर निर्भर करती है ।

प्रश्न—किसी लेखक ने यदि किसी अश्लील घटना का हूबहू वर्णन वर्णन कर दिया, तो साहित्य उस पर आपत्ति न उठाएगा ।

उत्तर—मैंने कहा तो कि घटना कोई अश्लील नही होती और किसी घटना का हूबहू वर्णन नही हो सकता । बाहरी जगत् का हमारे मन के साथ सम्बन्ध है और उस जगत् की वस्तु और घटनाओ के साथ हमारे चित्त के राग-द्वेष रुचि-अरुचि का आश्लेष लग जाया करता है । जैसा मैंने कहा, बहुत कुछ अथवा सब कुछ उस सम्बन्ध पर अवलम्बित है, जो वस्तु-जगत् के साथ लेखक अपना लेता है । इस तरह दो व्यक्ति कभी एक घटना का एक तरह वर्णन नही कर सकते । दावा दोनो कर सकते है कि उनका वर्णन हूबहू है, पर ऐसा हो नहीं सकता । साहित्य में तो ऐसा है ही नही । हाँ, विज्ञान में थोडा बहुत है । पर विज्ञान में अश्लीलता का प्रश्न ही नही उठता ।

: ४३ :

हिन्दी और अंग्रेजी

कुछ पहले यहाँ गुलामी शब्द का बहुत चलन था। हर कही सुन पड़ता था कि गुलामी की बेडियो को काटना और स्वराज्य पा लेना है। अग्रेजो ने देश को गुलाम बना रक्खा है। अब हम है कि स्वाधीन होगे और स्वराज्य लेंगे।

सुनता हूँ कि वह स्वराज्य ले लिया गया है और स्वाधीनता हमारे बीच विराजमान हो आई है। अग्रेज चला गया है और उसके साथ-साथ दासता भी चली गई है।

समाचार वह अवश्य सत्य ही है। उस सत्यता के अनेक प्रमाण है, लेकिन वह बात मेरे लिए उतनी साफ नही हो पाती है। मेरे अन्दर की हीनता जरूरी बनाती है कि मै गुलामी को और उसके छुटकारे को ठीक-ठीक समझूँ।

बहुत पहले की बात है। उन दिनो जीविकोपार्जन का प्रश्न मेरे लिए खुला ही था। बन्द वह अब तक नही हुआ है। लेकिन तब पहलेपहल अनुभव हुआ था कि तुम्हारी उमर इतनी अक्षम्य हो आई है कि तुम्हे अपनी सगी माँ पर और वसुधा माता पर बोझ न रहना चाहिए, बल्कि सहारा बनना चाहिए। तब की नौकरी पाने की कोशिशो का एक अलग इतिहास है। लेकिन खैर, कभी जाकर एक नौकरी मिलने की आस बँधी। आधार यह कि मै कुछ अग्रेजी जानता था। पर अग्रेजी लिखने का मौका आया तो प्रकट हुआ कि लिखावट मेरी बढिया नही है। इससे नौकरी मिलते-मिलते नही मिली। उस मिलने वाली सफलता को और मिली असफलता को समझने में मुझे अब तक कभी दिक्कत नहीं हुई। कारण, राज्य अग्रेजी था।

उसके बाद फिर एक हिन्दी मासिक पत्रिका के दफ्तर मे नौकरी हाथ आई । वह क्लर्की भी मिली इसलिए कि विज्ञापनदाताओ को भेजे जाने वाले एक गश्ती पत्र का ड्राफ्ट, जो अंग्रेजी में होना आवश्यक था, मुझ से ऐसा बन पाया कि सम्पादक को, जो मालिक भी थे, स्वीकार हुआ । वह मासिक पत्रिका हिन्दी की भले हो, पर दफ्तर अंग्रेजी का था । कहना अनावश्यक है कि महीने के आस-पास मेरा वहाँ गुजारा रहा, बाद छुट्टी मिल गई । कारण, उतने समय मे यह ज्ञात हो गया कि असल मे आवश्यक से मैं काफी कम अंग्रेजी जानता हूँ ।

तब से अब तक जी तो मैं जैसे-तैसे गया हूँ, और इस काल का काफी हिस्सा हिन्दी लेखक की हैसियत से जीना हुआ है । लेकिन हिन्द की भूमि पर सिर्फ हिन्दी बन कर जीने की सुविधा है, ऐसा मेरे अनुभव में पहले भी नही आया, अब भी नही आ रहा है । वह सुविधा यत्किंचित् मेरे लिए अंग्रेजी ने ही जुटाई है । वह अंग्रेजी तो उतरन के तौर पर ही मुझ पर टिकती है, मेरी अपनी हो कर साथ नही रह सकती ।

इस पर मुझे शिकायत नही है । जीवन एक दौड है और संघर्ष । उसमे अयोग्य गिरेंगे और निर्बल हारेंगे । यह तो अनिवार्य ही है । इससे शिकायत करना और सुनना दोनो व्यर्थ है । तिस पर दुनिया एक बन रही है और देश नजदीक आ रहे हैं । एक अमुक देश जो अपने को हिन्द कहता है अपनी भाषा हिन्दी समझे, यह अत्यन्त नगण्य बात है । हिन्द की हस्ती दुनिया से अलग कहाँ है ? और दुनिया की भाषा है अंग्रेजी ! अतः हिन्द को बढ-चढ कर दुनिया में आगे रहना है तो हिन्दी से अधिक क्यो न अंग्रेजी उसकी भाषा होनी चाहिए ?

मुझे इस सम्बन्ध में कुछ खास नही कहना है । अंग्रेजी गति और उन्नति की भाषा है । भारत को प्रगति और उन्नति करनी है । इससे अंग्रेजी के पल्ले को भी कभी-कभी उसे नही छोड़ना है ।

वह दृष्टि जो हमें ऐसा समझाती है एक दम स्पष्ट है । लेकिन मैं

गुलामी को समझना चाहता हूँ। उसी के सहारे फिर मै आजादी को समझना चाहता हूँ। हिन्द की धरती पर सुविधा-पूर्वक यदि वही जी सके जो अग्रेजी जानता है तो यह गुलामी है कि आजादी ?

मै अपनी हार मानता हूँ। किसी तरह मै नही कह पाता हूँ कि यह लक्षण आजादी का है।

अग्रेजी भाषा हीनतर नही है, लेकिन श्रेष्ठतर भी नही है। सिर्फ यह है कि अग्रेज (या अमरीकन) के लिए वह सहज है, उसकी वह मातृ-भाषा है। इतने से अन्तर के कारण एक पूरी जाति, पूरा देश, एक सभ्यता, एक रग ही विशिष्ट बन जाय, इतना विशिष्ट कि दूसरे को उसके सम्मुख निम्न और हीन बनना पडे, यह निश्चय ही स्वस्थ स्थिति का लक्षण नही है।

कहना चाहिए कि भारत को उस अर्थ में स्वस्थ नही बनने दिया जा रहा है, उसको बीमार रखा जा रहा है। यह नही कि भारत में जान नही है, या स्वास्थ्य की शक्ति नही है। लेकिन बीमारी को फैशन बनाकर पोसा जा रहा है और आज की सरकार इस अपराध से इन्कार नही कर सकती।

पहले घटी सारी घटनाओ को भुलाया जा सकता है। लेकिन अब की और हाल की बातो को बर्दाश्त करना गलत होगा। हमारे पास सार्वजनिक जीवन की दो धाराएँ है—एक सरकारी, दूसरी गैर-सरकारी। लोक-राज्य में सरकारी को जागृत लोक-मत का प्रतिनिधि होना चाहिए, गैर-सरकारी से उसे अलग होकर नही चलना चाहिए। गैर-सरकारी जीवन पर सरकारी जीवन का बडा प्रभाव पडता है। उस प्रभाव से सरकार अनजान नही रह सकती। इसलिए बाहर जो हो रहा है सरकार उसकी ओट नही ले सकती। यह उसके लिए अपनी जिम्मेदारी से बचना होगा। बाहर अग्रेजी और हिन्दी में फर्क किया जाता है। एक ही काम अगर अग्रेजी में होगा तो ऊँचे मूल्य का समझा जायगा। हिन्दी (या किसी

और देशी भाषा) मे होगा तो उसका मूल्य कम होगा। बाहर की स्थिति की आड लेकर सरकार इस सम्बन्ध मे अपने को निर्दोष नही मान सकती।

बाजार-दर बनती और बनाई जाती है। बाजार को मान मानकर अन्याय और शोषण को स्थायी नही किया जा सकता।

पिछले दिनो रेडियो में हिन्दी-अग्रेजी मे यही भेद था। अब भी वही हो तो मै जानता नही हूँ। लेकिन वह एकदम नही रहना चाहिए। सिर्फ इसलिए कि अग्रेजी की दर हिन्दुस्तान के बाजार मे ऊँची है इस तरह का भेद-भाव करना किसी तरह समर्थनीय नही हो सकता।

रेडियो के अलावा और विभागो की बात की जाय तो स्थिति दयनीय है। खास कर प्रकाशन-विभाग अभी जाने किस दुनिया में रहता है। इसके डायरेक्टर महोदय अपने को असमर्थ पाते है। ऊपर का इशारा मिले तो वह स्थिति को समझें और ऊपर के इशारे की प्रतीक्षा अनन्त काल तक की जा सकती है। क्योकि चालू हालत (स्टेटस को) से आगे का तर्क शासन को सुलभ ही कब होता है।

मै अनुभव करता हूँ कि हिन्दी लेखक की हैसियत से मै सरकार की कोई भी सहायता नही कर सकता हूँ, और सरकार मेरी सहायता नही कर सकती है। मानो ये अपने-अपने रहने के दो लोक है। सरकार जिस माध्यम से और जिन मूल्यो से चलती है वे एक है और जिनसे हिन्दी के लेखक को चलना पडता है वे दूसरे है। यह दोनो में किसी के लिये भी शुभ और स्वस्थ स्थिति नही है। लोक-राज्य में शासक कोई होता ही नही, लोकमत ही शासन पर अदल-बदल कर लोगो को बिठाया करता है। इसलिए लोक-शासन को उत्तरोत्तर आत्म-शासन के रूप में ढलते जाना होगा। आत्म-शासन वह जहाँ शास्ता और शासित में भेद नही है।

भारत की अनगिनत जनसख्या धरती से लग कर रहती है। इससे जनता की भाषाएँ धरती से टूट या बिछड नही सकती। मातृ-भाषा

सब वही है जो सीधी यहाँ की धरती और हवा में से हमको प्राप्त हुई है। भारतीय जीवन की सहज प्रतिभा का वास वहाँ है। भारतीयता की शक्ति भी वहाँ है। भारतीय प्रजा उसी मे बोलती और साँस लेती है। अंग्रेजी उस अपार जन-सागर की बूँद तक भी कठिनाई से पहुँचती है, उनके मन को छूने की तो बात ही दूर है। अंग्रेजी प्रजा के दु:ख-सुख की भाषा बन कर नही उठती, वह तो बस उस वर्ग के स्वार्थ की वाहन है जो या तो स्वय शासनस्थ है, या वहाँ पहुँचने या उसका सहारा पाने के जोडतोड में रहता है।

यह वर्ग कृत्रिम मूल्यो को थामता और बनाता है। इसने बाजार को औंधा कर रखा है। परिणाम यह है कि श्रम भूखो मरता है और धन सब पदार्थ-राशि को अपनी ओर खीच ले जाता है। इससे आज के बाजार को समर्थन देना या उससे समर्थन लेना अन्याय को पोषण देना है।

आज का लोक-राज्य कल गिर जायगा अगर वह अंग्रेजी से और अंग्रेजियत से उतर कर देश में चलने वाले सीधे-सादे चलन को नही अपनायगा।

जानता हूँ कि सरकार की कठिनाई बडी है। आलोचना आसान है, रचना मुश्किल है। जानता हूँ कि नई-नई आफतें और मुसीबतें राष्ट्रीय सरकार के माथे आ टूटी है और उलझनें उसकी कम नही है। लेकिन इसीलिए यह कहना और भी जरूरी है, क्योकि शायद आज की सब से बडी आफत और मुसीबत यह अंग्रेजियत है जो सरकार को अपने ऊपर लेकर ढोनी पड रही है। सरकार एक बडा सा व्यूह है जिसके ऊपर गांधी टोपी पहनने वाले चन्द देशी लोग दीखते है, लेकिन उसका मुख्य कलेवर बने हुए नाना अमलदारियो (सरविसेज) के वे (काले) साहब लोग है जिन्हे अंग्रेजी तौर-तर्ज में ढाला गया है। पहले उनका काम राजा और प्रजा के बीच खाई बनाये रखना था, आज भी काम वही है। उस गहरी खाई के पानी में पहले फाइलें चलती रहती थी, आज उन फाइलो की गिनती बढ

गई है। लेकिन वे डोगियाँ खूबसूरत लाल फीतो की पाल फहराए यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ विहार करती हुई घूमती रहकर नाना सुन्दर व्यूहो की रचना भले करे, वे राजा और प्रजा इन दो तटो के बीच किसी सद्भाव की सृष्टि कर उनमे अभेद लाने को सम्भावना को निकट नही लाती।

क्या यह सम्भव नही है कि शाही सर्विसो के अफसर लोग अग्रेजियत से उतरें और उनको कुछ भारतीयता पहनाई जा सके ? अग्रेजी एफीशियेन्सी भारतीय को भारी पड रही है। करदाता की उससे कमर टूट रही है। उसका तनाव सारे जीवन को भ्रष्टाचार की ओर खीच रहा है।

भारतीयता कुछ यहाँ के अनुकूल होगी, कम खर्चीली होगी। सम्भव है वह प्रजा पर आतक डालने के वजाय उसे आश्वासन पहुँचाए। क्या यह नही हो सकता कि पन्द्रह साल की अवधि की दृष्टि से आज ही से कुछ विभागो को और फाइलो को सर्वथा हिन्दी मे चलाए जाने का प्रयोग प्रारम्भ किया जाय और सर्विसो के लिए यथाशीघ्र आवश्यक हिन्दी जान लेना अनिवार्य हो जाय। भारतीय सर्विसो में प्राय. सभी प्रान्तो के लोग है। सबकी अलग-अलग मातृ-भाषाएँ हैं। 'हिन्दी होने से उत्तर भारत के लोगो को एक विशेष सुविधा मिलेगी, दक्षिण-भारतीय उससे बचित रहेगे, क्या यह अन्याय न होगा ? अग्रेजी माध्यम रख कर राज्य इस अन्याय से बचता है।' इस तरह का तर्क दक्षिण भारत की आड लेकर शासन की ओर से भी आता है तो कुतर्क ही है। क्योकि दक्षिण भारत मे इस सम्बन्ध की भीरुता न थी, न है; और यदि कुछ वहाँ मन का संशय है तो उसके कारण कृत्रिम हैं और आपसी है। उनकी ओट किसी तरह भी नही ली जा सकती है।

शासक का पहला दायित्व प्रजा के प्रति है। भारत की प्रजा गाँव में बसती है। शहरी वर्ग स्वयं शासन के भोग में हिस्सा बटाने वाला वर्ग है। जो उस शासन को अपनी कमर पर थामते है, देखा जाय तो वे देहाती ही राज्य के सच्चे मालिक है। उनकी बोली ही राज-काज की सच्ची भाषा

नही होगी तो शासन अपराधी ठहरेगा। मालिक की सेवा शासनपदासीन से कैसे हो पायेगी जब वह उसके ऊपर होकर अनजान बोली-बोलता हुआ अफसर बन कर आयगा।

राष्ट्रभाषा हिन्दी में भाषा सम्बन्धी कुछ आशय है तो यही कि यह वह भाषा है जिसमें यहाँ की अपढ करोडो जनता एक है।

हिन्दी के अधिपतियो द्वारा इस मूल आशय की छाती पर बहुतेरे विवाद और कलह कोलाहल की रचना हुई है। वह सुविधा-प्राप्त लोगो के मनोविनोद की क्रीडा रही है। हिन्दी के उर्दू से, या इन दोनो के हिन्दुस्तानी से, विरोध का अवकाश मूलाशय में नही रहा है। अंग्रेजी की गुलामी के प्रतिषेध की ही उसमें प्रधान ध्वनि रही है। भाषा कौन श्रेष्ठ है यह प्रश्न ही नही है। जनता को समझ आने वाली उनके मन तक उतरने वाली भाषा ही राष्ट्र और राज्य दोनो की भाषा है।

प्रश्न जनता और जनसेवा का न रहने देकर भाषा का और भाषा की श्रेष्ठता की तरतमता का जो बना दिया गया, उस कृत्रिमता के पीछे से अंग्रेजी को आ जमने के लिए फिर से अभिसन्धि का द्वार मिल गया। आपसी फूट पर पराये का शासन आप ही आ रहना हुआ।

अंग्रेजी के ज्ञान पर किसी को यहाँ विशिष्ट बन आने का अवसर हो तो इससे बडे दुर्भाग्य की बात दूसरी न होगी। जनता से अलग समझ कर शिक्षित अपने भाग्य को बिगाड ही सकता है, सच्चे अर्थों में बना नही सकता। अंग्रेजी में कितने ही महापुरुष हुए हो, लेकिन देश की जनता की भाषा वह नही है, तो वह देश के लिए मोह का कारण नही हो सकती।

जानता हूँ कि राज्य में बडो-बडो को वैसा मोह है। उन्नति उन्हें सब अंग्रेजी भाषा में और उस भाषा के देशो में दीखती है, अवनति सब यहाँ। वह मोह हमें रखना है तो गुलामी छोड़ने की जरूरत न थी।

यह गुलामी ही है जो उधर हमारी टकटकी लगवाए रखती है। गुलामी से छूटना है तो अपनी धरती से लग कर रहने वालो की ओर हमे मुँह मोडना होगा। जो उन्नत थे, समृद्ध थे, सम्पन्न थे, मालिक की जगह पर से हमने जान-बूझ कर उन्हे हटा दिया है। अमरीका के वैभव पर हम विस्मय कर लेगे, लेकिन मालिक की जगह उसे नही बिठाएँगे। क्या यह इसलिए नही कि हमने जान लिया है कि जो हीन है, दरिद्र है, भूखे हैं और नगे है—वे देशवासी हमारे सच्चे मालिक है। ऐसा यदि जान बूझ कर हमने किया है तो क्यो विलायती फैशन के तर्क अपनी दिशा से हमें मोडने के लिए हम ही अपने बीच पैदा कर चलते है।

हिन्दी का सम्मेलन इस काम मे पूरा काम नही आया और नही आ रहा है। असम्भव नही कि वह अनजाने अग्रेजी को ऊपर मजबूत बनाने मे सहायक हो गया हो। कारण, वह हिन्दी का इतना है कि हिन्द की जनता का होने की उसे आवश्यकता नही है। वह भाषा का है, सेवा का नही है। वह आन्दोलन का है, रचना का नही है। भाषा के विवाद की सतह पर से अग्रेजी यदि सर्वश्रेष्ठ और सर्व-सुलभ भाषा बनकर हमारे बीच विराजमान रहे तो इसमे फिर क्या अचरज होना चाहिए।

लेकिन हिन्दी का तर्क उससे अमोघ है। सम्मेलन नाम की सस्था के आचरण से उसका सम्बन्ध नही है। वह जन-जीवन और राष्ट्र-जीवन का तर्क है। उस पर आश्रित हिन्दी एक ही साथ हिन्दुस्तानी है। वह उर्दू से अविरोधी है। वह यहाँ की धरती-माता से उपजी है और हर मातृ-भाषा से उसका सग-साथ है। वह किसी भी तरह अग्रेजी का आधिपत्य अपने ऊपर नही ले सकती। उसमें अग्रेजी के साथ पूरी सहानुभूति है और उसके प्रति पूरी सराहना है। किन्तु सहानुभूति और सराहना गुण है जो आधीनता में नही स्वाधीनता में ही स्वस्थ-भाव से पनप सकते है।

समय है कि पद-प्राप्त अमलदार हकूमत, उसके लोक-प्राप्त नेता और अधिकारी अपने को टटोलें। यदि कही भी अग्रेजी उपयोगिता के कारण

नही प्रत्युत झूठी मान-प्रतिष्ठा के कारण हिन्दी को दबाती हो तो तत्काल उसका उपाय करे। क्योकि यह भाषा का प्रश्न नही, स्वय लोक-राज्य की परीक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी-भर अहमन्यो का बनकर शासन नही रहना है, तो उसे जनभाषा की सतह पर आकर रहना होगा। अन्यथा कुछ की अहमन्यता जनमत में विष पैदा करेगी, जो हिंसक उपायो पर विश्वास करने वाले राजनीतिक दलो के लिये बारूद का काम देगी।

: ४४ :

अपनी कैफ़ियत

मेरा कहानी लिखना कैसे शुरू हुआ, यह याद करता हूँ तो विस्मय होता है। विस्मय शायद इसलिए कि औरों की बात मैं नहीं जानता। मेरा आरम्भ किसी तैयारी के साथ नहीं हुआ। जब तक चाहता रहा कि कहानी लिखूँ, तब तक सोचता ही रह गया कि कैसे लिखूँ। और जब लिखी गई तब पता भी न था कि वह कहानी है।

बात यों हुई। वक्त खाली था और नहीं जानता था कि अपना क्या बनाऊँ। दुनिया से एक माँ की मार्फत मेरा नाता था। शेष दुनिया अलग थी और मैं अपने में बन्द अलग था। एक बूँद अलग होकर सूख ही सकती है। मैं भी सूख ही रहा था।

पर जिन्दगी अकेले तो चल नहीं सकती। आखिर खाने को तो चाहिए। उसके लिए कमाई चाहिए। तेईस-चौबीस वर्ष की उम्र हो जाए तो आदमी को कुछ करने की सुध लेनी चाहिए। सुध तो लेता था, पर जुगत कुछ न मिलती थी। नतीजा यह कि दिन के कुछ घण्टे तो लाइब्रेरी के सहारे काटता था, बाकी कुछ खामखयाली और मटरगश्ती में।

इस हालत में पहली जो कहानी लिखी गई, वह यों कि एक पुराने साथी थे, जिनका ब्याह हुआ। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्रिकाएँ पढ़ती थीं और चाहती थीं कि कुछ लिखें जिससे उनका लिखा छपे और साथ तस्वीर भी छपे। हम भी मन ही मन यह चाहते थे। दोनों ने सोचा कि कुछ लिखना चाहिए। तय हुआ कि अगले शनिवार को दोनों को अपना लिखा हुआ एक-दूसरे के सामने पेश करना होगा। शनिवार आया

और देखा कि उनकी कहानी तैयार थी, हमे कुछ बात पकड न आ सकी थी कि लिखा जाता । ऐसे एक हफ्ता दो हफ्ता निकल गए। भाभी तो भी कुछ-न-कुछ लिख जाती थी । यहाँ दिमाग दुनिया भर में घूमकर कोरा-का-कोरा रहता था । हम अपनी हार को लेकर मन-ही-मन ओछे पडे जाते थे । होते-होते हम जड हो गए और सोच लिया कि कुछ हमसे होने-हाने वाला नही है । यह हमारा निकम्मापन इस तरह तय हो चुका था कि एक दिन घटी एक दिलचस्प घटना को हमने ज्यो-का-त्यो कागज पर उतार डाला । जाकर सुनाया भाभी को। (घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी ।) भाभी लजाई, मगर खुश भी हुईं । मै मानता हूँ कि वह पहली कहानी थी जो फिर जाने क्या हुई ।

दूसरी-तीसरी और चौथी-पाँचवी कहानियो का बानक यो बना कि एक मित्र सन् २०-२१ की गर्मागर्म देश-सेवा के बाद सन् २६-२७ होते-होते खाली हाथ होगए । अब क्या करें ? जमने की जगह हो तो नेता-गिरी के काम की भी सुविधा है । यो आँधी के वक्त की बात दूसरी है और ठडे वक्त की दूसरी । सो मित्र—बडे विचक्षण, बडे योग्य—अन्त में शायद पचीस रुपये पर एक पाठशाला में मुख्याध्यापक हुए । पाठशाला छोटी थी, पर उनके खयाल बड़े थे । उन्होने तीसरी-चौथी क्लास के विद्यार्थियो को लेकर वहाँ एक हाथ लिखी पत्रिका निकालनी शुरू की । मुझे लिखा कि उसमें तुम भी लिखो। कही पता होता कि यह तो लेखक बनने का रास्ता खुल रहा है तो मेरा जी डूब जाता । सच कहता हूँ, मन ऐसी दुस्सम्भावना का बोझ तब नही उठा सकता था । सो मित्र का खत आता और मै जवाब लिख भेजता । जवाब जरा लम्बा होता और सूझ में जो उलझता आँक देता । इस तरह शायद छ. महीने हुए होगे कि मित्र का वहाँ से पत्ता कट गया । निकले तो साथ अपनी हथलिखी पत्रिका के अंक भी उठा लाए । उन दिनो एक हितैषी बुजुर्ग कभी-कभी

घर पधारते थे। ठाली उत्सुकता मे पत्रिका के अंक उन्होने देखे और-कही जा रहे थे कि साथ लेते गए।

चलो छुट्टी हुई। लेकिन दो-एक महीने बाद लाइब्रेरी मे बैठा हुआ देखता क्या हूँ कि 'विशाल भारत' मे 'श्री जिनेन्द्र' की कहानी छपी है, 'खेल'। वह 'खेल' तो जरूर मेरा है—तो क्या 'विशाल भारत' मे छपने वाला 'श्री जिनेन्द्र' मै ही हूँ ? बस तब की बात पूछिए नही। दिल उठता था और गिरता था। जाने किस घडी कथा लिखी गई थी वह 'खेल' कि अब जगह-जगह उसे छपी देखता हूँ और सुनता हूँ कि वह 'एक चीज' है। क्यो न हो, लोग कहते है तो जरूर होगी वह चीज। पर सच मानिए कि उसके 'चीज' होने का गुमान भी होता तो 'खेल' का वह खेल 'जैनेन्द्र' से न हो पाता।

कहानी का लिखना तो ऐसे शुरू हुआ; पर उसके कुछ काल जारी रहने का भेद दूसरा है। वह रहस्य यह कि शायद 'खेल' के ही पारिश्रमिक स्वरूप 'विशाल भारत' से चार रुपए का मनीआर्डर चला आया। मनीआर्डर क्या आया, मेरे तो आगे तिलिस्म खुल गया। इन २३-२४ बरसो को दुनिया में बिताकर भी मै क्या तनिक उस द्वार की टोह पा सका था कि जिसमें से रुपए का आवागमन होता है! रुपया मेरे आगे फरिश्ते की मानिन्द था जिसका जन्म न जाने किस लोक का है! अवश्य, वह इस लोक का तो है नही। वह अतिथि की भाँति मेरे 'खेल' के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा, तो एकाएक मै अभिभूत हो रहा। मेरी माँ को भी कम विस्मय नही हुआ। तो बेटे के निकम्मेपन की भी कुछ कीमत है! माँ से ज्यादा बेटा अपने निकम्मेपन को जानता था। पर 'विशाल भारत' के मनीआर्डर से मालूम हुआ कि आदमी अपने को नही जान सकता। दुनिया अति विचित्र है और जाने यहाँ किसका क्या मोल लग जाए। मोल यहाँ असली है नही, इसलिए मोल की तोल भी मनमानी है।

खैर, फिर तो कुछ और भी लिखा । इसी जमाने की एक बात याद आती है । उन पाठशाला वाले मित्र के पहले खत के जवाब में मैंने कुछ लिखना शुरू किया । उस कहानी में एक पब्लिक लीडर मच पर आते है जो भारतमाता की याद अग्रेजी में ही कर पाते हे । कहानी पूरी हुई तो मालूम हुआ कि अपनी भारतमाता की भक्ति तो खासी ऊँची अग्रेजी मे वह महोदय कर गए हैं—तीसरी-चौथी क्लास के बच्चो के मन वह कैसे उतरेगी ? इससे उस रचना को तो मेंने अपने पास रोक रखा, दूसरा कुछ और लिख भेजा । पहली रचना को शीर्षक दिया गया था—'देश प्रेम' । वह मेरा 'देश प्रेम' एक दिन दिल्ली के एक मासिक पत्र के कार्यालय मे मेरे हाथो से छिन गया । छिन तो गया, पर तीन-चार महीने हो गए, उसकी सूरत फिर उस पत्रिका में देखने मे नही आई ।

मै डरते-डरते कार्यालय में पहुचा । सम्पादक, जो मालिक भी थे, बोले, आपका लिखा हुआ साफ नही था और अशुद्ध भी था । सो हमारे सहायक गए तो उसे साथ ले गए । देखिए अभी इसी डाक से उसकी शुद्ध प्रतिलिपि उन्होने भेजी है । अब अगले अक में यह जा रहा है ।

मैंने रचना देखनी चाही तो सम्पादक ने मेरे हाथ में दे दी ।

मैंने खडे-खडे उसे उलटा-पलटा कि मस्तक हाथ में ले में कुर्सी मे आ रहा । देखता हूँ कि रचना सचमुच एकदम शुद्ध बना दी गई है ।

मैंने सम्पादक से कहा कि यह रचना मुझे ले जाने दीजिए, क्योकि निस्सन्देह वह शुद्ध तो है, पर वह मेरी नही रही है । अपने से अधिक शुद्धता मेरा नाम कैसे उठा सकेगा ?

सम्पादक हस कर बोले—"जैसी आपकी इच्छा । ले जाइए । लेकिन आपकी एक कहानी हमारी हो चुकी है । यह ले जा सकते है, लेकिन दूसरी देनी होगी, और कल शाम तक मिल जानी चाहिए ?"

मैंने कहा—"यह कैसे सम्भव है ?"

बोले—"तो रहने दीजिए। यह छप जाएगी।"

मैंने कहा—"इतनी शुद्ध होकर यह मेरे नाम से कैसे छप सकती है, क्योकि मै कहाँ उतना शुद्ध हूँ ?"

बोले—"तो कल दफ्तर के समय तक दूसरी रचना देने का वादा कीजिए।"

आप कहेगे कि क्या वह रचना खरीद ली गई थी ? नही, पर पैसे के अधिकार से बडा प्रेम का अधिकार होता है। सम्पादक जी का, जो मालिक भी थे, मेरी उस रचना पर यही अधिकार था।

मैंने कहा—"अच्छा, कोशिश करूगा।"

बोले—"कोशिश नही, वादा कीजिए। कल चार बजे तक पहुँचा देने का वादा करें तो यह ले जा सकते है।"

मेरी हालत दयनीय थी। लेखक को दयनीय होना ही चाहिए। उसका अधिकार केवल कर्त्तव्य है। लेकिन में अति परिशुद्ध अपना वह 'देश प्रेम' छपने के लिए वहाँ कैसे छोड सकता था ? उस 'देश प्रेम' को खासी अच्छी तरह काटा-छीला गया था। मुझे तो ऐसा लगा कि उस मरम्मत से जगह-जगह उस बेचारे 'देश प्रेम' मे लहू की लाली उभर आई है।

सम्पादक जी बोले—"कहिए, वादा करते है ?"

अपने 'देश प्रेम' की बेहद छिली और रदी दशा को देखते हुए नीची आखो से मैंने कहा—"अच्छा।"

सम्पादक जी बोले—"तो खुशी से ले जाइए।"

यह सुनते ही उस 'देश प्रेम' को मोड-माड कर जेब में डाल मै तत्काल कार्यालय से बाहर आ गया।

यह लगभग शाम का समय था। गर्मियो के दिन थे। घर आया। खाना खाया। कोठरी से निकालकर खटोली खुले खडहर पर बाहर डाली और सोचने लगा कि कल क्या करूगा ? मन एक बोझ से दबा हुआ था और कल्पना उड न पाती थी। रात हुई और उसी खडहर पर खटिया डाले ऊपर देखता मै पडा रहा।

मेरे और तारो के बीच केवल शून्य था। ऐसे समय मुझे नेपोलियन का नाम सूझा। नेपोलियन क्या सफल हुआ ? क्या उसका जीवन सार्थक हुआ ? क्या वह तृप्ति लेकर गया ? क्या उसमें अपने आदर्श का देखा जा सकता है ? .क्या आदर्श को अपने से बाहर रखना होगा ?... नही, आदर्श को अपने से दूर, अलग, किसी दूसरे मे आरोपित करने से नही चलेगा। ..

ऐसे खयाल पर खयाल आते रहे। इन्ही के बहाव में मन में उठा कि अच्छी बात है, एक पात्र बनाया जाए जो नेपोलियन में अपना आदर्श डालकर चले। दूसरा उसके मुकाबले में पात्र हो जो अपने आदर्श के बारे में मुखर न हो। ये दोनो फिर आपस में दूर न हो, बल्कि घनिष्ठ हो...पर सब विचार. आपस में ऐसे घुले-मिले धूमिल थे कि वे थे ही, यह भी कहना कठिन है।

इस हालत में शनै'-शनै नीद आ गई। सबेरे उठ कर निवृत्त होना था कि याद आया कि चार बजे तक कहानी पहुँचानी है। मन को झुझलाहट हुई। उसने विद्रोह करना चाहा। पर अपने से कोई बचाव न था, क्योकि मुझ में असली शक्ति नही थी। इसलिए वचनबद्धता की जकड मुझ से टूट न सकती थी। अत लिखने बैठना पडा। उस समय रात का उठा हुआ अस्पष्ट सा विचार सूझ आया। बस, उसका सहारा थाम मै लिख चला। अन्त में पाया कि 'स्पर्धा' कहानी बन गई।

वह कहानी शनै-शनै कैसे बनती गई और उसके उपकरण कैसे-कैसे लिखने के साथ-साथ मन मे और मस्तिष्क में जुटते गए—उस विषय को यहां छोडे देता हूँ, यद्यपि कहानी के अन्तरग के निर्माण को स्वय समझने की दृष्टि से वह विषय काफी सगत है ।

खैर, कहानी हुई और उसे गुडी-मुडी कर मैने जेब मे डाला । कहानी जैसा जो स्लिप आया—लम्बा, कम लम्बा, छोटा—उसी पर लिखी गई थी । इसमे वह लपेटी ही जा सकती थी, उसकी तह नही की जा सकती थी । उस रोज ठीक याद नही पडता कि क्यो, पर ५) की बेहद जरूरत थी । माँ से माँग नही सकता था । वे पाँच रुपए अपने लिए नही, किसी और ही जरूरी बात के लिए चाहिए थे । खैर, तीसरे पहर का समय और मै चला पैदल ।

फतहपुरी पर मुझे भाई ऋषभचरण मिले । बोले—"कहाँ जा रहे हो ?—ओ, यह जेब आज कैसे फूली हुई है ?" और देखते-देखते जेब में की लिखे कागजो की रील उन्होने निकाल ली ।

"ओफ्फोह, कहानी है ! तो कहानी लिखी है ? कहाँ ले जा रहे हो ?"

मैने बताया—"अमुक कार्यालय में ले जा रहा हूँ और पाच रु० की जरूरत है । सोचता हूँ कि कहूँगा कि उधार ही सही, इस कहानी पर पाच रुपए दे दें तो अहसान हो ।"

ऋषभ भाई की सलाह थी कि मै ऐसा न करू, क्योकि उससे कोई फायदा न होगा ।

खैर, पहुँचकर कहानी की रील सम्पादक जी को दिखलाई और पाच रुपए की अपनी गरज भी जतला दी । पर सम्पादक जी, जो मालिक भी थे, लेखको को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण में देना चाहते थे । बस, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे । तब तक मन पर पत्थर रखकर उन्हे अपनी असमर्थता प्रकट करनी ही पडेगी ।

मै नही जानता था कि तब ऐसी अटक मुझे क्या आ पडी थी। मैने कहा कि मै तो उधार चाहता हूँ। पर सम्पादक जी असमर्थ ही थे। उन्होने कहा—"आप चाहे तो कहानी ले जाइए, यद्यपि देखा जाए तो कहानी हमारी हो चुकी है। पर क्या कहूँ, कहानी पर पैसा देने की स्थिति तो बिलकुल नही है।"

लौट आया और वह कहानी फिर शायद एकाध महीने मेरे पास ही पडी रही। फिर एक दिन कमर से साहस बाँध के मैने क्या किया कि अपनी उस 'स्पर्धा' को प्रेमचन्द जी के पते पर रवाना कर दिया। साथ एक खत लिखा कि 'माधुरी'-सम्पादक को नही, कहानी सम्राट् प्रेमचन्द को यह भेज रहा हूँ, और छपने के लिए नही, बस कुछ जानने भर के लिए यह साहस बन पडा है।

डाक में डालकर धड़कते मन से जवाब का इन्तजार करने लगा। छः-सात दिन में छपा कार्ड आया, जिसमें लिखा था कि कहानी सधन्य-वाद वापस की जा रही है। कहानी की वापसी पर मन ने चाहे खिन्न ही होना चाहा, पर उसके 'सधन्यवाद' ने उसे पानी-पानी कर रखा। पत्र पर प्रेमचन्द जी के दस्तखत न थे।

चलो, बखेडा कटा। जिन्दगी की मुक्ति मौत मे है और आशा की सफलता निराशा मे। पर हाय राम, कागजो की सबसे पिछली स्लिप की पीठ पर फीकी सी लाल स्याही में अग्रेजी में क्या लिखा देखता हूँ ? हो न हो, यह प्रेमचन्द के अक्षर है। लिखा है—प्लीज आस्क वेदर दिस इज ए ट्रान्सलेशन (कृपा पूछिए यह अनुवाद है क्या ?)

कहना चाहिए कि प्रेमचन्द के परिचय का द्वार इस राह से मेरे लिए खुला। मैने इस पर उन्हें कुछ नही लिखा। सिर्फ कुछ दिन बाद एक दूसरी कहानी भेज दी। 'स्पर्धा' कहानी के पात्र विदेशी थे और रग विदेशी था। इसकी एक लाचारी ही हो गई थी। दूसरी कहानी

आसपास को लेकर थी । बस, उस 'अन्धे के भेद' से चिट्ठी-पत्री शुरू हो गई ।

यहाँ शायद आप प्रेमचन्द की कहानीकला पर कुछ कहने की मुझ से अपेक्षा रखते है । सचमुच मै अधिक नही कह सकता । प्रेमचन्द जी को मै कहानी की कला के विषय मे बात करने तक कभी न ला सका । यो तो कोशिश भी विशेष न की, पर जब उस तरह की बात आई वह उसे टाल ही गए । पर कहानी उनके लिए निर्जीव विषय न थी । इससे उसकी टेकनीक पर रस के साथ वह चर्चा भी क्या कर सकते थे । कहानी में मानव-चरित्र और मानव-हृदय उनके लिए प्रधान था और लेखन-सम्बन्धी कला एकदम गौण थी ।

एक बार प्रेमचन्द जी ने कहा—"जैनेन्द्र, उपन्यास लिखो ।" मैंने कहा—"कैसे लिखूँ ?" बोले—"अरे घर के नाते-रिश्तेदार जो हो बस उन्ही को लेकर लिख दो ।"

वह एक बात आज भी मुझे याद है । मै नाते-रिश्तेदारो को लेकर नही लिख सका, न ही लिख पाता हूँ, यह बात बिलकुल अलग है । लेकिन प्रेमचन्द जी की सलाह न सिर्फ पक्की है, बल्कि बिलकुल सच्ची है । यानी प्रेमचन्द को वह सही-सही व्यक्त करती है । प्रेमचन्द जी की कला का मूल उनकी उस नसीहत में बसा है । दूर कहाँ जाना है और चरित्र को भी कहाँ से खोज कर लाना है ? आस-पास के जीवन में ही जो जीते-जागते व्यक्ति तरह-तरह के स्वभाव लेकर तरह-तरह के कर्म करते हुए जी रहे हैं, उनमें ही तुम क्या नही पा सकते हो ? किसी परिवार को ले लो । तीन पीढियाँ तो मिल ही जाती हैं । उनके जीवन-व्यापार पर अकित है उन तीनो पीढियो का इतिहास । जीवन की गति के विकास को भी उसमे से शोधा जा सकता है । उन्ही के सश्लिष्ट जीवन-चित्र मे से नीति और दर्शन के निचोड को पाया जा सकता है ।

मेरा अनुमान है कि उनकी कहानियो के चौखटे आसपास के यथार्थ जीवन पर से उठाकर लिए गए है। उनकी कहानियो का प्राण व्यवहार-धर्म है। उनके पात्र सामाजिक है। उनके चरित्र महान् इसलिए नही है कि प्रेमचन्दजी ने उन्हे महान् बनने देना नही चाहा है। सब-के-सब गुण-दोषो के पुंज है। किसी का दोष विराट, अथवा कि इतनी सघनता से काला नही बन पाता कि उसी मे चमक आ जाए। न किसी का गुण हिमालय की भाँति शुभ्र और अलौकिक कान्ति देने वाला बन पाता है। औसत आदमी की सम्भावनाओ से परे उनके पात्र नही जाते। कल्पना को प्रेमचन्द उठने देते है, पर रोमास तक नही उठने देते। जैसे उन्होने अपने को एक कर्त्तव्य से बाँध लिया है और वह कर्त्तव्य उनका वर्तमान के प्रति है। मोक्ष से और भविष्य से उनका उतना सम्बन्ध नही है जितना कि मानव-समाज और उसकी आज की समस्याओ से है। वह समाज-हितैषिता से छूट नही सकते। यह उनकी शक्ति और यही उनकी सीमा है।

एक रोज बोले—"जैनेन्द्र, मुझ में प्रतिभा नही है। मैं तो प्लाड' करता हूँ। महीने में दो कहानी पूरी कर दूँ, तो समझूँ बहुत हुआ। मुझ में वह रौ नही है, जिसे प्रतिभा का लक्षण माना जाय।"

इस वक्तव्य को भी उनके व्यक्तित्व की दृष्टि से मै बहुत लाक्षणिक कह सकता हूँ। वह साधनापूर्वक साहित्यकार बने थे। साहित्य उनके लिए कभी विलास का रूप न था। वह कहानी गढते थे, तैयार करते थे। उसे निकाल नही फेंकते थे।

मैने उन्हे उपन्यास लिखते हुए देखा है। छोटी कहानी के बारे में तो नही कह सकता। शायद हो कि कहानी भी एक से अधिक बैठको मे वह लिखते हो। शायद उनके उपन्यास के लिखने की पद्धति से कहानी के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता हो। उनकी रफ (अपरिष्कृत) पाण्डु-लिपियो के शुरू में अक्सर उपन्यास के कुछ परिच्छेदो का मैने सिनोप्सिस

(सक्षिप्त रूपरेखा) देखा है। पात्रो के नामो की फेहरिस्त कही-कही अलग लिखी मिली है। फिर उन पात्रो के अलग-अलग चरित्रो की कल्पना को सागोपाग किया गया है। जैसे—

'दमयन्ती साधारण सुन्दर। शील का गर्व रखती है। कम पर तेज बोलने वाली। वात्सल्यमयी, पर ईर्ष्यालु'...इत्यादि।

इस प्रकार परिस्थिति से अलग और पहले पात्र की रूप-रेखा को निर्दिष्ट करके चलने मे शायद प्रेमचन्दजी सुविधा देखते थे। उसी भाँति प्लाट (कथानक) का भी एक खाका बना लेते थे। यानी पूर्व-परिस्थितियो में से ही परवर्त्ती स्थिति पैदा होने दी जाए, यह नही, बल्कि पूर्व और पर, ये दोनो स्थितियाँ पहले से निश्चित कर ली जाती थी। इसलिए उनकी रचनाओ मे वैसी तरलता नही है कि पात्र हाथ न आते हो; उनकी रेखाएँ काफी उभारदार है।

लेकिन जैसा कि पहले कहा, प्रेमचन्दजी में एक बडी विशेषता थी। वह यह कि वह कोई कथा-रचना का अपने पास साँचा नही रखते थे, न साँचे के होने पर विश्वास रखते थे। इसलिए यदि कभी मैंने नौसिखिए की भाँति चाहा भी कि हाथ पकडकर वह मुझे कहानी लिख चलना बताएँ तो इस दुराशा में कभी उन्होने मेरी सहायता नही की। और मै अब मानता हूँ कि इस मामले में मुझे अपने ऊपर निर्भर रहने देना और किसी तरह का आरोप मुझ पर न आने देना ही उनकी बडी सहायता थी।

अब मै नही जानता कि मुझ से अपने लिखने के बारे में पूछा जा सकता है। पूछा ही जाए तो मै उसका एक उत्तर नहीं दे सकता। कुछ कहानियाँ बाहर देखकर लिखी है, जैसे कि एक अन्धा भिखारी आया करता था। मेरी भानजी, जो अब आकर तबियत में मुझ से बुजुर्ग बन गई है, बोली कि मामा, इस अन्धे पर कहानी लिखो।

मैने कहा—"अच्छा।"

कहानी शुरू होने में तो दिक्कत न थी। यानी कि मेरी जिन्दगी चल रही है, उसका अपना दायरा और अपनी व्यस्तताएँ हैं—उस दायरे को आ छूता है एक अन्धा भिखारी। चलो, यहाँ तक तो जो घटा वही लिख दिया गया। आगे क्या किया जाय ? आगे जो कुछ हो, वह कल्पना के बल पर ही किया जा सकता है। इसलिए कुछ तो कल्पना को उस अन्धे के अतीत की ओर बढने दिया, और तनिक भविष्य की भी ओर। कल्पना की आँखो से मैंने देखा कि उसके दो बच्चे है, पत्नी भी है, और एक छोटी-सी कोठरी मे रहता है, और जैसे-तैसे बच्चो का पेट पालता है। स्त्री...वह साथ नही है...क्योकि बच्चो के लिए भीख की रोटी काफी नही होती। पेट के लिए हो भी जाय, पर पढाई के लिए क्या हो ? इससे स्त्री को भी कुछ कमाई करनी चाहिए। और वह माँ-बेटो के लिए वेश्या बन जाती है। ...और हाँ, उसी ने तो पति की आँख फोडी है ...इससे वेश्या बनाकर अपने को नर्क में डाले, यही उसने अपने लिए दण्ड चुन लिया है। ...इत्यादि-इत्यादि। बस, इस तरह वर्तमान पर जो वह अन्धा आया था, उसको तनिक अतीत और जरा अनागत की ओर फैलाकर देखा कि कहानी हाथ आ गई। कहानी इतिवृत्त ही तो है। यानी उसमें स्थिति से स्थित्यंतर, अर्थात् जीवन-गति होनी चाहिए। काल का कुछ स्पन्दन, कुछ तनाव अनुभव हो, वही तो कहानी का रस है। यह घटना द्वारा अनुभव कराया जाय, या चाहे तो बिना घटना के ही अनुभव करा दिया जाय। चुनाचे ऐसी भी सफल कहानियाँ है जिनमें खोजो तो घटना तो है नही, फिर भी रस भरपूर है।

ऊपर 'अन्धे का भेद' कहानी के उदाहरण में यथार्थ घटना या यथार्थपात्र से कहानी आरम्भ हुई। पर मेरे साथ अधिकाँश ऐसा नही भी होता है। जैसे कि पहले 'स्पर्धा' का जिक्र आ चुका है। वह एकदम खयाल में से बना ली गई है। समूची कहानी जैसे इस दृष्टि के प्रतिपादन के लिए है कि आदर्श को किसी बाहरी वस्तु मे डालकर और फिर उसके प्रति अपना रोमाटिक सम्बन्ध बनाकर चलना, सफल नही होगा। वरन

आदर्श की तो मौन एव तत्पर आराधना ही फलदायक हो सकती है। इस धारणा से ही पात्र बन खडे हुए और उनके घात-प्रतिघात से कुछ घटनाक्रम भी बन गया। मेरे मत से उसमें चरित्र प्रधान नही, बल्कि परिणाम और भाव प्रधान है।

मै नही कह सकता कि इस प्रकार लिखी हुई कहानियो को सोद्देश्य कहना गलत होगा, या कि सही है।

कुछ कहानियाँ है जो मानो न वस्तु पर और न व्यक्ति पर ही लिखी गई है। एक बार मुझे खयाल है कि सध्यानतर अकेले सूने मैदान में से जाते हुए मुझे अपनी चेतना पर एक अजब तरह का दबाव अनुभव हुआ था। था कही कुछ नही, तो भी एक डर लगा। बाहर का 'न कुछ' ही जैसे जाने 'क्या कुछ' हो गया था और उसकी सीधी प्रतिक्रिया मेरे अन्तर मानस पर होती थी। मै तेज चलने लगा था और साँस फूलने लगी थी। छाती धक्-धक् कर आई थी। वह एक ऐसा अनुभव था कि कुछ देर टिकता और अधिक तीव्र होता तो उसके नीचे जान ही सूख पड गई होती। कोरे डर से जाने कितने मर गए है। यह डर, जिसे कोरा कहते है, क्या है ? वह कुछ है अवश्य। और मानो उसी का सचेतन भाव से पुन स्पर्श पाने के लिए मैने एक कहानी लिख दी। उसमें तो पात्र भी नही है, घटना भी नही है, केवल मात्र वातावरण है। उसमे प्राणी है तो प्रेत के मानिन्द, जिनमे देह है ही नही और वे निरे बहम के बने है। ऐसी कहानियो में सोते पेड, बिछी घास, बहता पानी, सूना विस्तार, रुका वायु, टिका आस्मान, मटमैला अधियारा, यही जैसे व्यक्तिगत सज्ञा धारण कर लेते है। ऐसे मे धरती आसमान से बातें करने लगती है और जो अचर है वह भी मनुष्य की वाणी बोलने लगता है।

क्या मुझे मानना होगा कि जहाँ पेड और पौधे और चिडियाँ आदमी की बोली में बोलते है, वह कहानी अयथार्थ है ? क्या वह एकदम

असम्भव, इसलिए एकदम व्यर्थ वस्तु है ? हो सकती है वह असम्भव और अयथार्थ। और किसी के लिए एकदम व्यर्थ भी हो सकती है। पर डर भी तो अयथार्थ ही है। पर जो डर के मारे मर तक गया है, उसकी मृत्यु ही क्या उसके निकट उस डर के अत्यन्त यथार्थ होने का प्रमाण नही है ?

इसलिए मै मानता हूँ कि वातावरण-प्रधान कहानियाँ अनिष्ट और अनुपयोगी नही है। बल्कि चूँकि उनमें हाड-माँस की देह नही है, इसलिए हो सकता है कि उनकी उम्र भी शायद अधिक ही हो। देह मर्त्य है, अमर आत्मा है। इससे जिसमें दैहिकता स्वल्प और भावात्मकता ही उत्कट है, उन कहानियो में स्थायित्व भी अधिक होगा, ऐसा मानने को मेरा जी करता है।

तभी तो जो असम्भव की रेखा को छूती है और जो स्थूल भौतिक जगत् की सम्भवता की सीमाओ से पराजित नही है वह कथा जाने काल के कितने स्थूल पटल को भेदती हुई शताब्दियो से अब तक जीवित बनी हुई है। पुराणो की देवता और राक्षस वाली कहानियाँ, जातक की कथाएँ और ईसप की पशु-पक्षियो की वार्ताएँ फैलकर हमारे नित्य-प्रति के जीवन में घुल-मिल गई है। अत यथार्थता का आबन्धन और अवलेप जिस पर जितना कम है, वह कहानी समय की छलनी मे छनती हुई उतनी ही श्रेष्ठ भी ठहरे तो मुझे अचरज न होगा।

: ४५ :

मैं और मेरी कृति

मैने लिखा यह अनहोनी ही बात हुई। कारण, लिखना मेरे लिए कभी सहज न था, न अब सहज है। सपने में भी न सूझता था कि कभी लिखूँगा और लेखक समझा जाऊँगा। जब तक पढा, लिखने से बचता ही रहा। इम्तहान अलग, [यो क्लास मे शायद ही कुछ लिखा हो। निबन्ध लिखने के नाम मेरा दम टूटता था। हाथ मे कलम लेता कि भाषा दिमाग से उड जाती और काम का एक भी शब्द मेरे पास आने को तैयार न दीखता।

किताबो में बडे-बडे आदमियो की बातें पढने को मिलती। पढते मन उठता, फिर गिर भी जाता। पूत के पाँव पालने में नज़र आ जाते है। यह सोचता और अपने पाँव की ओर देखता। वे मैले दीखते और बे-डौल। देखता कि जिन्दगी मेरी हर-तरह नीची और मामूली है, हौसला एकदम गायब है। जिस उमर में लोग प्रख्यात हो गये है उसमें मेरा हाल हर तरह से बेहाल है। यहाँ तक कि जीना दूभर हो रहा है। इस पर मन बैठ-सा जाता था।

ऐसे मै बाईस-तेईस वर्ष का हो आया। हाथ पैर से जवान, वैसे नादान। करने-धरने लायक कुछ भी नही। पढा तो अधूरा और हर हुनर से अनजान। दुनिया तब तिलिस्म लगती, कि जिसके दरवाजे मुझ पर बन्द थे। पर जहाँ-तहाँ झरोखो से झाँकी देता दीखता कि उस दुनिया में खासी ले-दे, धूमधाम और चहल-पहल मची है। इशारे से वह मुझे बुलाती मालूम होती। पर उस रगा-रग सैरगाह की चारदीवारी से बाहर हो कर पाता कि मै अकेला हूँ और सुनसान, सुनसान और अकेला।

समय तब, खाली और ठोस, सिर पर ऐसा खडा मालूम होता कि किनारा ही न हो। सूझ न पडता कि इसका एक-एक पल कैसे काटूँ, और अपना क्या बनाऊँ। जितना बन सकता, समय लायब्रेरी में बिताता। इधर-उधर के अखबार पढता, किताबे पढता, और लायब्रेरी बन्द होती तो मन मार घर आ जाता। घर भी किताब का साथ न छोडता। वह काम न देती तो नीद को सग लेकर समय को अपने ऊपर से गुजार डालता।

आप देख सकते है कि जिन्दगी ऐसे तो कोई जीई नही जाती। दिमाग पर कौन रह सकता है ? रहना धरती पर होता है, और सिर को धरती पर लाया नही जा सकता। प्रार्थना मे ही वह झुकता है, नही तो सिर स्वभाव से आसमान की तरफ सतर तनना चाहता है। जीने के लिए कुछ ठोस, कुछ जीता-जागता चाहिये, जिससे लेन-देन और रगड-झगड हो सके। इसलिए खयाल से दुनिया के साथ वास्ता नही बनता, और बे-वास्ते चला नही जाता।

उस दुनिया मे निश्चय ही बहुत-कुछ हो रहा था। आन्दोलन हो रहा था, और छोटे-बडे पैमाने पर यहाँ और वहाँ लडाइयाँ हो रही थी। पर मै अखबार में से उनको देखता और किताब मे से उनको जानता था। नतीजा यह कि वही-का-वही रह कर मै अपने में घुल और घूम रहा था।

ऐसी दशा में एक दिन अखबार मे पढा कि 'अवारी' गिरफ्तार हो गया है। 'ई' की मात्रा काट कर लोग जैसे उसे अवारा ही समझना चाहते थे। मै उसका साथी रहा था। वह नही, तो मै तो अवारा था ही। खबर पढ कर मन सुस्त हो आया। खाली मन यो ही भारी रहता था, इस खबर ने और बोझ डाला। कुछ रोज बाद पढा कि उसे दो साल की सख्त सजा सुना दी गई है। यह चीज आखिरी तिनका बन उठी। उस अनुभव को शब्दो मे नही दे सकता। उस भारी भार के तले जैसे

मै रह ही न गया। पिच-दबकर मानो मै मिट गया। एकाकिता का भान न रहा, न अपनी हीनता का। मन का त्रास ही जैसे मै हो गया। नशा कुछ इसी को कहते होगे। उस झोंक में पीले रद्दी कागज के टुकडे जमा कर उन पर कुछ लकीरे काढ गया। होने पर पढा तो लगा कि उनमे तो कुछ अर्थ और भाव भी आ गया है। यानी कुछ वह अच्छा और अपना लगा। इससे साफ कागज पर स्याही से नकल कर उन पन्नो को लेकर मै चला श्री चतुसेरन शास्त्री की तरफ।

तब तक नशा था। चलते-चलते वह टूटा। पाँव नीचे से काँपने लगे। यह तो खैर हुई कि शास्त्रीजी घर पर नही मिले। चलो, जी में जी आया। नही तो जाने दहशत में क्या हो जाता। शास्त्री जी जैसे नामी-गरामी लेखक के घर मे कदम रखते मै पीले पत्ते-सा काँप रहा था। आखिर उनके पीछे कागज वही मेज पर छोड मै चुपचाप चला आया। फिर तो डर के मारे तीन रोज तक नही गया। चौथे दिन पहुँचा तो इधर-उधर की तमाम चर्चा हुई, पर उन कागजो की बात नही छिडी। होते-होते वही बोले—जैनेन्द्र, जाने कौन मेरे यहाँ कागज छोड गया! जिसने लिखा है, अच्छा लिखा है।

उन्ही दिनो मैने शास्त्री जी की एक किताब पढी थी। उसका असर सिर पर था। अचरज नही उस लिखत में उनकी शैली कुछ उतर आई हो। उनसे अच्छा सुना तो हिम्मत बधी। बताया कि वह तो मेरा ही लिखा है, आपके पढने के लिये छोड गया था। फिर कहा कि लेख अवारी को लेकर है, मध्य प्रान्त के किसी साप्ताहिक मे निकल जाय तो पक्ष मे लोकमत कुछ जगे। उन्होने श्री माखनलाल चतुर्वेदी के नाम पत्र लिख कर उसे 'कर्मवीर' मे छपने भेज दिया। पर वह नही छपा। मै था अधीर, सो उसी रग में दूसरा लेख लिख डाला। उसे शास्त्री जी ने शायद 'विश्वमित्र' मे छपने भेजा। पर वह भी नही छपा। आरम्भ का यह असगुन याद रहता है। शुरू के उन दोनो

लेखो को भी याद करता हूँ कि मिलते तो उनके दर्पण में तब की अपनी तस्वीर तो देखता !

ऐसा लगता है कि बाहर का सब-कुछ आदमी के लिये तब तक बेकार है, प्रपच है, जब तक कि वह किसी अपने मे होकर मूर्त न हो जाय। अवारी के उपलक्ष से जैसे बाहर होता हुआ आन्दोलन, वहाँ का घात-प्रतिघात मुझे उपस्थित हो सका। अन्यथा वह था, लेकिन मुझे न छू रहा था। देखता हूँ कि व्यक्तियो की मार्फत ही सत्य हम तक आता या हम उस तक जा सकते है। व्यक्ति-निरपेक्ष हो कर जैसे वह शून्य ही हो जाता है, जिसमें अपने को खो तो सकते है, पा नही सकते।

यह सन् '२८ की बात होगी। समय उतार का था और राष्ट्रीय आन्दोलन देश में ऊघ चला था। सन् '२१ के कई सरगर्म काम करने वाले अब पैरो तले धरती पाने की टोह में यहाँ-वहाँ फिर निकले थे। ऐसे ही एक मित्र घर आए। असहयोग में प्रतापी जन-नेता थे, उससे पहले विस्फोटक क्रान्तिकर्ता। बहुत योग्य, कई हुनर के माहिर। मगर आए तो कहते हुए कि कोई नौकरी बताओ। मासिक साठ रुपये मजूर हो जाएँगे। साठ नही तो चलो पचास सही। तुम्ही देखो पचास से कम क्या हो सकता है। आखिर दौड-धूप का फल निकला। एक प्राइमरी की चालीस रुपये की हैडमास्टरी उन्हें हाथ आई। मैने शायद कहा कि मित्र में प्रतिभा थी। पर प्रतिभा के पैर में चक्कर ही होता है क्या ? क्योकि छ: महीने न हुए होगे कि वहाँ से उनकी डोर कट गई। आए मेरे यहाँ, तो देखता हूँ 'ज्योति' के चारो-पाचो अक साथ लेते आए है। वहाँ चटसाल के बालको को लेकर हजरत ने एक मासिक पत्रिका निकाल डाली थी। अपने हाथो उसे खूब सजाते सवारते थे। अस्तु, अपनी अनिवार्य भटकन में वह तो मेरे यहाँ से आगे बढ गये, उनकी 'ज्योति' पीछे छूट गई।

अब इसी को कहते है सयोग, कि जिससे जिन्दगी बनती बताई जाती है। समझदार कहते है कि जिन्दगी आदमी अपने आप बनाता है। ठीक-ठीक मै कुछ जान नही पाता। लेकिन मै अपने को बना सकता हूँ, या किसी तरह कुछ भी बना सका हूँ, ऐसा आश्वासन कही से भी मुझे नही मिलता है। तर्क बहुत मिल जाता है, पर उससे किसी का मुँह भले भर जाय, अन्दर का भूखा जी तो तनिक भी नही भरता। पर छोडिये वह बात। सो, हुआ यह कि स्वामी (अब स्वर्गीय) आनन्द भिक्षु सरस्वती आए और जिल्द के अन्दर बन्द उस 'ज्योति' को उठा कर साथ लेते गए। अब बात यह कि मास्टरी के जमाने में मित्र आए महोनें कार्ड में तार की सतर का एक तीर तान मारा करते कि 'ज्योति' के लिये कुछ लिख भेजो। बच्चो की बात ठहरी। सो मन मे दुविधा न होती। कुछ-न-कुछ लिख जाता और चला जाता। मै न जानता था कि इस करनी में से काटे फूटेगे। वह करनी 'ज्योति' की उन किरणो मे दर्ज थी।

आप अनुमान न कर सकेंगे तब की हालत को कि जब लायब्रेरी में बैठा 'विशाल भारत' खोलता हूँ और किसी श्री जिनेन्द्र का लेख वहाँ विराजमान पाता हूँ। समझ न आता था कि आँखो का विश्वास करूँ, या क्या ? क्या लेख के ऊपर छपा बैठा जिनेन्द्र मै ही हूँ ? मै नही तो कौन है वह जो मेरा ही लिखा लिख गया है ? उस लेख को मैने कई बार पढा। हर बार मानना पडा कि है तो वही जो मुझ से भी लिखा गया था। तो क्या छपने पर भी वह है जो लिखा था! मन मानने की हिम्मत ही न करता था कि छापे में कुछ हो सकता है जो सम्पूर्ण ब्रह्माड में किसी भी और का नही, इस बिचारे-से मुझ 'जिनेन्द्र' का लिखा हुआ है। मुझ पर सच गाज गिरी। यह तो पीछे पता चला कि उस गाज ने चोट देकर कुछ गिराया था, तो वह अहँकार का ही अश था और शायद अन्दर से उसका कुछ गिरना जरूरी भी होता हो।

उस दिन के बाद से एक तरह के अचरज मे और हठ मे मै जी रहा हूँ। खबर मिलती रही है कि मै लेखक हूँ। तस्दीक भी उसकी है। यानी नाज जो खाता हूँ वह पैसे से आता है, कपड़ा पहनता हूँ, सामान जो उपयोग में लाता हूँ, सब पैसे से आता है। और पैसा लिखने के और लिखे हुए के एवज मे मुझ तक आता है। यह प्रमाण अन्तिम नही तो क्या है ? फिर आलोचक है, तत्त्वज्ञ है। उनकी बात न मानी जाय तो मानने की मर्यादा क्या रह जाय ? लेकिन इस छापे के सयोग से और चाहे कुछ फर्क पडा हो, अन्दर किसी तरह का कोई लाभ नही मिला। लाभ, यानी किसी ज्ञान का लाभ—कुछ प्राप्ति जो अलग से मेरे साथ न हो, मुझ में ही रम कर खो गई हो।

ऐसा भी लगता है कि अन्दर की प्राप्ति के रूप ही बाहर का जितना जगत प्राप्त होता है उतना ही वास्तव बनता है। अन्यथा वह अलग है और वास्तव अलग है। अपने अनुभव मे आने वाले सुख-दुख के मार्ग से चल कर हम मे जो नही उतरता वह प्रेत की तरह भ्रमता रहता है, आत्मा पाकर वह सत्त्व या सत्य नही बन पाता।

अन्दर की अपेक्षा में ही बाहर को मानने की लाचारी जैसे रोग की तरह शुरू से मुझ में बसी हुई है। जानता हूँ इसमें कारण मेरी शारीरिक और मानसिक कमजोरी है। लेकिन क्या कमजोरी को स्वीकार ही नही कर लेना चाहिए।

'विशाल भारत' मे अपना वह लेख पढने की बात सन् '२८–२९ की होगी। वह चीज बच्चो का 'खेल' ही थी। 'ज्योति' मे से ली हुई दूसरी कहानी 'फोटोग्राफी' छपी, जिसको बहुत हद तक एक अपने सग बीती घटना का फोटोग्राफ कह दें तो हानि नही। 'विशाल भारत' में गलत नाम से कुछ छपा, जिसमें नही जानता कारण क्या हुआ। अहिसा की चर्चा थी और गाधी इस शब्द के पीछे होकर अनबूझ पहेली बनते जा रहे थे। उसी अहिंसा के आमने-सामने होकर जैसे मैने पूछना चाहा

कि देवी, तुम कौन हो ? क्या हो ? माया तुम्हारी दीखती है जो बडी रगीन है, पर मरीचिका न होकर क्या कुछ सत्य भी तुम में है ? यह कहानी न थी, क्योकि उसमे कोई व्यक्ति न था । यह एक ख्याली चीज थी जो हल्की और हवाई थी, फिर भी मेरी अपनी तकलीफ से जुदा नही थी ।

उन्ही दिनो एक अन्धा फकीर गली मे भीख मागता फिरता था । मेरी भानजी तब एक हिन्दी के ऊँचे इम्तहान की तैयारी कर रही थी । बोली, मामा, इस अन्धे पर कहानी लिखो । सो उसी रूप में अन्धे को लिया और कल्पना से कुछ उसका अतीत रच डाला । उस अतीत मे बिठा कर सामने ऐसे पेश कर दिया कि उसके आगामी भाग्य में आपकी उत्सुकता जगी रहे । यह 'अन्धे का भेद' हुआ ।

उन्ही दिनो की बात है कि लायब्रेरी में बैठा मै एक पत्रिका पढ़ रहा था लेख मे कुछ वैवाहिक नीति-अनीति की चर्चा थी । पढते-पढते कान में कई बार ठुक-ठुक की आवाज पडी जो बुरी लगी । आँख ऊपर हुई तो देखता हूँ कि सामने की आलमारी पर बढई ठोक-पीट कर रहा है । मैने कहा, देखता हूँ । लेकिन आँखे सचमुच देखती थी, यह कहना मुश्किल है । आँख और उसके साथ मै दोनो जैसे बधे रह गये थे । कोई तास सैकिड इस तरह जड़ीभूत मै बैठा रहा हूँगा फिर उठा, घर आया कागज लिए और कहानी लिखी गई 'ब्याह' । उस कहानी में एक खूब पढी-लिखी खानदानी लडकी, अपनी जरा बहक मे सहृदय, आई० सी० एस० अंग्रेज युवक प्रेमी को छोड कर एक बूढे बढई के साथ भाग जाती और दूर सरहद मे जाकर उसके अपढ देहाती लडके से ब्याह रचा बैठती है । इतना ही नही वह इस स्थिति मे बडी मगन है और उसके प्रेमी और अभिभावक वहाँ पहुँचते है, तो आगे बढकर उनका ऐसा निश्छल स्वागत करती है कि उन्हे कुछ नही सूझता, और वे हठात उसके आनन्द में शामिल हो जाते है ।

यह तफसील से अपनी कुछ कहानियो की बात इसलिए की कि आप देखे कि मेरा और मेरी कृति का सम्बन्ध दूरी का नही है। एक तरह वह सम्बन्ध अभिन्नता का है। लेकिन जो तार हम दोनो को जोडे हुए है वह एक दम अदृश्य है। इस तरह उसे असत कहना चाहें तो कह सकते हें। रोमाटिक होना मुझे स्वीकार है। इसमें कर्ता और कृति का सम्बन्ध आत्मीयता का ही रहता है। रोमास का सम्बन्ध सजीव है, कृत्रिम नही। कोरा दिमाग का सम्बन्ध जरूर कृत्रिम हो जाता है। उसमें लेखक और उसके लेख के बीच मे अनात्मीयता का फासला पड सकता है।

लेकिन कृति कर्ता में बन्द तो नही। वह कर्ता में अन्तर्भूत हो कर स्वतन्त्र भी कुछ है। इससे कृति का श्रेय कर्ता को है, यह मुझे नही लगता। सच तो यह है कि सोचने पर कोई कृतित्व ही मुझे अपने में नही प्रतीत होता। लोग कहने वाले मिलते हे कि वह कृतित्व परिस्थिति में है। जैसे परिस्थिति अपने में भी कुछ चीज होती हो! किन्तु अपनी कृति का कर्ता मैं अपने को मानूँ तो यह भी मानना पड जायगा कि मेरे मरने के साथ उन्हें भी नही जीना है। यह मानना घोर अहकार होगा। यानी मेरा कृति मेरी ही नही, जगत और जगदाधार का उसमें हाथ है। आप कहेगे यह मै निषिद्ध क्षेत्र में जा रहा हूँ। आपकी बात सही है और मै उधर आगे नही बढ़ूँगा। कहना यही है कि कर्ता-कृति के सम्बन्ध-विषय पर शोध वैज्ञानिक रीति से होना जरूरी है।

: ४६ :

मैं और मेरी कला

'मै और मेरी कला' इस शीर्षक पर बोलने के लिये मुझ से कहा गया तो एकाएक तो मे चकित हुआ। इच्छा हुई कि हँसू और माफी मांग लूँ। लेकिन वैसा मैने नही किया और अपनी कला पर बोलना स्वीकार कर लिया। स्वीकृति में यह तो आ ही जाता है कि मे मानता हूँ कि मेरे पास कुछ है जिसको कला कहा जा सकता है। पर सच यह है कि वह बात झूठ है और अगर यह मौका मैने अपनाया है तो असल में इसीलिये कि मे कह दूँ कि जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे अपने अन्दर किसी भी कोने में कोई कला नही मिली है और यह भी कि मेरा उस बडभागिन से दूर का भी रिश्ता नही है।

कला शब्द बहुत दिनो से और बहुत दिशाओ से सुनता आया हूँ। लेकिन अपने बारे में उस शब्द का प्रयोग पाता हूँ, तो जी बिगडता है। और कला से तो चलो मै अनजान रहूँ, तो कुछ हरज नही, लेकिन मुझ में ही जो बताई जाती है, उस से जब अपने को अनभिज्ञ पाता हूँ तो सहना मुश्किल होता और प्रतिकार आवश्यक जान पडता है। मेरा निवेदन है कि मै अपराधी नही हूँ। 'आई प्लीड नाट गिल्टी'।

कहानियाँ कुछ लिखी है और शायद उन्ही में कहीं कला देख ली गई होगी। पर मेरी ओर से उनमें कला के नाम पर भी कुछ डाला गया है, यह सूचना लाछना है।

तो सवाल होगा कि कहानियाँ लिखना क्या कला नही है? क्या उसमें किसी कला की आवश्यकता नही है? कला न हो, तो हर लिखने वाले की हर कहानी क्यो न अच्छी उतरे? और वैसा नही है, तो स्पष्ट

है कि कहानी की एक विशिष्ट कला है। नही तो बताइये, कि अन्तर क्यो ?

इस तर्क का उत्तर मुझ से न बनेगा। एक फूल जैसा सुन्दर होता है, दूसरे फूल ठीक वैसे नही होते। तो क्या इस कहने में अर्थ देखा जायगा कि गुलाब (या चमेली) के पास गुलाब (या चमेली) होने की कला है ? मै सोचता हूँ कि उस भाषा में कोई खास अर्थ नही है। गुलाब की ओर से वह एक मजबूरी भी हो सकती है। गुलाब का यह कब वश है कि वह कुछ और हो जाय। अपने स्वभाव से बाहर वह जा नही सकता। तो क्या अपने स्वभाव में रहने को कला कहा जायगा।

कला शब्द मे ध्वनि है कि वह जैसे कोई हुनर हो। सीखा जाता हो, समझा जाता हो, उसके कुछ गुर हो और तरीका हो। चुनाचे फिर बाकायदा उस सब में कमाल हासिल किया जाता हो।

ऐसा होता हो तो मुझे पता नही। कम-से-कम मेरे साथ ऐसा कुछ नही हुआ। हर कहानी के साथ मैंने अनुभव किया है कि मैं निपट नया हूँ। पहिले लिखी जा चुकी कहानियाँ उस वक्त काम आने से साफ बच गई, ऐसा कभी मालूम नही हुआ ! आज भी कहानी लिखूँ तो उसी झिझक और द्विविधा का बोध होगा जो पहली कहानी लिखते समय हुआ था। लिखना मेरे लिये ऐसा चलना है जहाँ आगे राह नही है।

इससे मुझे ख्याल होता है कि कही ऐसा तो नही कि कहानी कला या शिल्प हो ही नही, बल्कि सृष्टि हो। हर शिशु अपना बनाव और अपना स्वभाव लेकर जनमता है। दो प्राणी कभी एक से हो नहीं सकते। कारण, वे सृष्ट होते है, बनते नही है। एक माता-पिता की सन्तति समान नही हो पाती। क्योकि सृष्टि माता-पिता की कृति नही है, केवल उनके द्वारा हुई अनन्य की अभिव्यक्ति है। यहाँ कला का प्रश्न नही है, यहाँ का रहस्य शायद दूसरा है। प्रत्येक सृष्टि पृथक गर्भ का

फल है। यानी अपना पृथक आनन्द, पृथक वेदना। एक फार्मूले और एक युक्ति में से जब जितनी चाहे एक नमूने की वस्तु निकाली जा सकती है और इस काम मे शायद कुछ हुनर भी दरकार हो। पर कहानी लिखने मे ठीक वैसा सुभीता होता है, यह मेरा अनुभव नही है।

दिमाग मे नाम और नक्शे जमा लिये जायँ और अमुक सिद्धान्त-ध्यान मे रख लिये जायँ, तो उन की मदद से साफ सुथरी कहानी क्यों नही उतर आनी चाहिए? इसका जवाब मेरे पास नही है। शायद सधी और सही तराश की चीज यो उतर भी आये। लेकिन फिर उस में जान कहाँ से आयेगी? जान, जो कहानी को धड़कन देती है, जो खुद जीती और दूसरे को जिलाती है। वह चीज भी क्या किसी हुनर या कला में से आ सकती होगी?

और अपने अनुभव से मुझे जान पडता है कि कहानी मे ध्रुव वस्तु वह जान है। अपने प्राणो के सिवाय कही और से वह चीज रचना में नही पहुँच सकती। भीतर प्राण हो, तब ऊपर रूप-सौन्दर्य की झलक का हो आना भी दुर्लभ नही रहता। असल में रूप-सौन्दर्य की प्राण से स्वतन्त्र स्थिति ही नही है। आकार-प्रकार की लाख साधन-सज्जा प्राण के अभाव में कहानी को चेता नही सकती। वह बल्कि तब उल्टे व्यग्य और विडम्बना बन जाती है।

शिल्प अनावश्यक नही है। कारीगरी को किसी तरह छोटी चीज नही समझा जा सकता। लेकिन उससे किनारे बनते है, नदी का पानी नहीं बनता। वस्तु और व्यक्ति जड और चेतन मे यही अन्तर है। कहानी का क्षेत्र वस्तु से अधिक व्यक्ति का और स्थिति से अधिक गति का है। पदार्थ को जैसे गणित के सूत्रों से साध-बाँध सकते है, ऋण या गुणित कर सकते है, सचेतन प्राणियो के साथ वैसा नही कर सकते। उनका गणित हो तो दूसरा है। उसके नियम अपने को बाद देकर घटाने से घटते ही नही है। असल में वास्तविक से अधिक वे हार्दिक होते है।

वे सहृदयता के है, इसलिए विज्ञान के नही है। अर्थात्, कहानी भी क्योकि जीवित व्यक्तियो की अवतारणा है इससे शायद उसकी कला भी जीवन की कला से अलग या भिन्न नही होती है। और जीवन की कला जानने मे नही, बल्कि होने मे है। वर्तन से अलग उसके ज्ञान का कुछ अर्थ ही नही।

यहा मुझे अपने शुरू दिनो की याद आती है। तब जीना मेरे लिये दूभर था और मै अपने आप को भारी था। लिखने की तो तब सोच भी नही सकता था। लिखना तो जीने की आवश्यकता मे से जैसे उग बैठा। उस समय जो लिखा गया वह अपने को लेकर। मै समझता हूँ कि अगर वह दूसरे को कुछ भी प्रिय हो तो उसका कारण यही रहा होगा कि मेरी अपनी निरीहता रचना में यत्किंचित फूट आई होगी।

यही सब से बडी उलझन है। आदमी अपने को दे तो कैसे दे? सचाई तो नाम और शब्द में आती नही। ज्यो की त्यो बात कही नही जा सकती। प्रथम तो घटना ज्यो की त्यो पकड मे नही आती। फिर उसको सर्वथा अपनी बेतैयार हालत में प्रकट कर देने से दूसरी दिक्कतें पैदा हो सकती है। यहाँ पर जैसे छल की आवश्यकता होती है। उसी को कहिये तो कला कह लीजिये—कला इसलिए कि उस छल में कोई दोष नही है। सत्य के आविष्करण में वह छल सहायक होता है, इस से वह स्वय सत्य बनता है। वास्तव में देश-काल के चौखटे में से देखी-भोगी गई घटनाएँ अपने आप में सत्य है भी तो नही। वे तो अनित्य हैं, क्षणिक है। इससे उनमें फेरफार कर देन से सत्य की क्षति नही होती है।

मेरी पहली उपन्यास-पुस्तक है "परख" और उसकी नायिका का नाम है "कट्टो"। यह तो सही है कि उस पुस्तक में भावोद्रेक के क्षण है तो वह अनभूति में से ही आये होगे। लेकिन क्या यह आवश्यक

कहा जायगा कि नायिका का नाम 'कट्टो' न होकर वह होता जो यथार्थ में था। यथार्थ को ओट मे रखकर काल्पनिक कट्टो को समक्ष करने मे सत्य का कोई अपलाप नही देखता हूँ। फिर भी यथानाम और यथातथ्य तो वह है नही। इसीलिए शायद उसे कला कहा जाता हो तो मै समझ सकता हूँ। नामधाम जहा केवलमात्र उपलक्ष रह जायँ जहाँ उन की पृथक प्रतीति ही मानो विस्मृत हो जाय, और अपने ही मनोराग पुस्तक के पट पर चित्र-लेख से प्रत्यक्ष हो जायँ, वहाँ कहा जा सकता है कि रचनाकार का छल एक कौशल है और इस माया-सृष्टि द्वारा सत्य की किंचित साधना और सेवा ही होती है।

तो जिसको कहते है सचाई, वह इस कला की पहिली आवश्यक शर्त हो जाती है। सचाई बाहर के प्रति नही, क्योकि बाहर तो सिर्फ अक्स है और वह प्रतिक्षण बदल रहा है। इसलिए उस बाह्य यथार्थ के साथ तो मनचाही स्वतन्त्रता लेने में कला के लिये कोई बाधा नहीं है। वह तो प्रकृत मे यथार्थ को रूप में चित्रित और वस्तु में जडित देखने की सुविधा करने वाली वास्तविकता है। कोई आवश्यक नही कि आपकी प्रेयसी की आँखे हरिणी की तरह कनपटी पर हो, सामने न हो। फिर भी पुस्तक में बडी आसानी से वह मृगलोचनी बन आती है। सोलह वर्ष की उम्र में आठवीं कक्षा में फेल होकर मास्टर की कमची और माँ-बाप के झिडकी खाने वाली लडकी किसी कवि की आँखो में अप्सरा बन झूमे तो इसमें तनिक भी दोष नही है। सत्य की साधना मे ही यथार्थ को स्वप्न की ओर उठना होता है।

जगत ऋणी है तो उस कल्पना और उस पुरुषार्थ का जो उस को अपनी ऐंद्रियिक प्रतीति से उत्तीर्ण करके सत्यानुभूत सकल्प की ओर उठाती और इस प्रकार उसे परिपूर्णता प्रदान करती है।

'परख' पुस्तक के सत्यधन, बिहारी, कट्टो और गरिमा ऐसे यथार्थ में से आकर भी उस यथार्थ का यथाशक्य परिहार करके बने है। ठीक

उतने ही अश में वह कला-सृष्टि अथवा कलाकृति कहे जा सकते है। कला है तो सिर्फ इसमें कि वह झूठ-मूठ होकर भी आपका स्वय, सच-मुच और अपने जान पड़े। मूल में झूठ होकर वे सच्चे प्रतीत नही हो सकते। सच्चे प्रतीत होगे तो लेखक के भीतर की सचाई के जोर से। बाहर से उतार कर ली जाने वाली कोई यथार्थता चरित्र की सच्ची प्रतीति पाठक को नही पहुँचा सकती।

प्रश्न होगा कि लेखक के लिये आवश्यक यह सचाई क्या है? सोचता हूँ तो उसके दो रहस्य हाथ लगते है। एक अपने प्रति आत्यन्तिक निर्ममता, दूसरा, शेष के प्रति आत्यन्तिक सहृदयता।

अपनी तरफ की ईमानदारी हमें लाचार करेगी कि दोष हमे अपने ही दीखें और दूसरे के गुण ही दीख सकें। रचना आलोचना-परायण न होकर, प्रीतिपरायण हो। अपने मत अथवा रुचि-अरुचि के साथ चिपकने का अवकाश वहाँ कम रहेगा। प्रचार की आकाक्षा शून्य हो जायगी। अहता के दर्प की जगह व्यथा का भार होगा जो प्रेरणा बनेगा।

दूसरो की मानरक्षा, उनके प्रति सम्पूर्ण क्षमा और करुणा, एव अपना विसर्जन, यानी कठोर से कठोर अपना विश्लेषण और आलोचन। ईमानदारी हम से हमारी महत्वाकाक्षाओ को हर लेगी और हमारी निरीहता को उजागर कर देगी।

कला यदि कुछ होती है तो मेरे लेखे लगभग वह इस एक सूत्र में समा जाती है कि अपने प्रति कलाकार सच्चा रहे। इस प्रयत्न में बाहर के प्रति सच्चा रहना असम्भव और सहज अनावश्यक होता जायगा। अत उस बाहर के प्रति विनयशील और स्नेहशील रह कर ही कलाकार का धर्म पूरा हो जाना चाहिए। संसार पकड मे नही आता, इससे उसको पकड़ने का मोह ही वृथा है। कला उस मोह में पड़ कर केवल फैशन

और आडम्बर में भटकती है। अपनी सार्थकता ऐसे वह नही प्राप्त कर सकती।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मै अपने लिखने मे स्वैराचार के दोष मे मुक्त नही हूँ। जो शब्द आया मैने स्वीकार किया है और वाक्य जैसा बना बनने दिया है। प्रेमचन्द जी ने एक बार मुझे कहा था— "जैनेन्द्र, हिन्दी में तो चलो, तुम जो चाहो लिख दो। साँझ लिखो, कि सझा लिख दो। पर यह मनमानी तुम्हारी उर्दू में नही चल सकती।" मै उर्दू की बात नही जानता। लेकिन वह भाषा दरिद्र है जो जिन्दगी का साथ देने के बजाय उस पर सवारी कसती है। जो हो, अपने अज्ञान को अपने से उतार कर मै अलग नही रख सका हूँ। सदा उसे साथ रख कर मुझे चलना पडा है। इसमे कला बनी है कि बिगडी है, मुझे ज्ञात नही। लेकिन ईमानदारी यदि आत्मा के प्रति होगी तो देखता हूँ कि किसी भी दूसरी वेदी पर, शास्त्र पर या देवता पर, उसका अर्घ्य नही चढ सकता है।

तब जो कुछ मेरे पास रहा है—बाहर का दीखना, बुद्धि का विचारना और मन का चाहना—सब-कुछ घुल-मिल गया है और किसी एक अनुभूति के कण के चारो ओर जुड कर वह कहानी की रचना कर देता रहा है।

काफी पहिले की बात है। मेरा विवाह नया ही हुआ था। घर पर एक अधा भिखारी चला आया करता था। वह आया, सब ने उसका तमाशा बनाया और अच्छा दृश्य जान मुझे भी वहाँ बुलाया गया। काम के अभाव में मैं तब हराम मे और आराम में रहता था। चलो, खासा मनोविनोद हुआ, रूखा-सूखा कुछ उसे दे डाला गया, और अधा चला गया। उसके चले जाने पर विदुषी में पढने वाली मेरी भानजी ने कहा—"मामा! इस अन्धे पर कहानी लिखो—"

अंधे की कहानी जो बनी उसमे खासा गुस्सा मैने अपने ऊपर उतार लिया। वेश्या को मेरा मन उतना बुरा न कहता था, जितना अपने को कहना चाहता था। न उस अंधे भिखारी को निम्न मानने की मुझे हिम्मत होती थी। यह है मेरे अन्दर के मन की बात। क्योकि यो तो मेरे घर से बासी-से-बासी टुकडा और फटे-से-फटा चीथडा ही उस अंधे पर फेंका गया था और मै बाधा में कुछ नहीं बोला था। यह भी सच है कि वेश्या, मुझे सामाजिक व्यक्ति से, प्रकट रूप मे असम्मान के सिवाय कुछ नही पा सकती। लेकिन कहानी बेकार है और सारा साहित्य बेकार है, अगर मन को यहाँ की पिटारी में बन्द रहना पडे। साहित्य में अवश्य ही उस मन की क्रीडा को अवकाश है उसको निमत्रण है, कि जो बाहर की सधी-बधी जिन्दगी में खुल नही पाता है। उस कल्पना-क्रीडा के पीछे अवश्य ईमानदारी की वृत्ति, जो सदा विधायक होती है, होनी चाहिये।

और भी दूसरी जगह अपने लिखने में मैंने यही किया है। दीखे या भुगते तत्त्व को लिया है, अपनी भावना का उसे मेल दिया है और कल्पना से गढकर फिर सब को ऐसे प्रस्तुत कर दिया है कि जिज्ञासा खुले और सहानुभूति फैले। ऐसे आदमी व्यवहार की दीवारो से बाहर आकर खुली हवा पाता और परिणाम मे स्वास्थ्य का लाभ करता है।

कहानी का इसमें कैसे तो आदि होता, कैसे कथावस्तु का निर्वाह और परिपाक हो जाता और फिर किस प्रकार समाहर हुआ करता है, इस सम्बन्ध में कोई नियम मेरे पास नही रहा है। इतना ही जानता हू कि मैंने मन-बुद्धि को अपने पास रोका नही है और भीतर में से प्राप्त उद्भावना के साथ अपने को चलने दिया है।

साहित्य और धर्म

प्रश्न—साहित्य मे धर्म का क्या स्थान है ?

उत्तर—'साहित्य में धर्म का क्या स्थान है?' के स्थान पर प्रश्न यों कर दिया जाय कि 'धर्म मे साहित्य का क्या स्थान है ?' तो मुझे अधिक उपयुक्त जान पड़े। हम सब को, जो भी है उस सभी कुछ को, जो धारण किये हुए है, वह अतीन्द्रिय तत्त्व है—धर्म। साहित्य मानव की उन अनुभूतियो का सग्रह है जो शब्दो में, भाषा में, व्यक्त हुई है। मैं समझता हूँ धर्म से आपका तात्पर्य किसी मत-वाद से नही है—जैसे हिन्दू धर्म, बौद्ध-धर्म, इस्लाम-धर्म आदि। ऐसे मत-वादो से साहित्य का सम्बन्ध बेशक नही है। पर मूलभूत धर्म को तो साहित्य पोषण ही देता है।

प्रश्न—अच्छा तो हिन्दू-धर्म में साहित्य कौन-सा साहित्य है ?

उत्तर—इस प्रश्न का ठीक-ठीक आशय मै नही पकड सका। हिन्दू लोग जिन्हें आगम-प्रमाण मानते है ऐसे ग्रन्थ उनका पहला साहित्य है। फिर कुछ वह ग्रन्थ आते है जिनमें व्यावहारिक जीवन के नियमन के लिये विधि-निषेधो का प्रतिपादन है। वे है आचार-ग्रन्थ। उन से उतर कर तरह-तरह के ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ है। क्या आप यह चाहते है कि उन सबके नाम गिनाये जायँ? मेरे खयाल में इतना जान लेना काफी है कि एक हिन्दू, यहाँ हिन्दू होने से भी पहले आदमी है। इससे हिन्दू-समाज के जीवन में विविध प्रकार का वैसा सब साहित्य मिलेगा जैसा इतर जन-समाजो के जीवन में मिलता है। अत्यन्त गम्भीर और प्राथमिक तत्त्वो की जिसमें गवेषणा होती है वह साहित्य धार्मिक हो जाता है। उसकी अवस्था भी अधिक होती है, उसमें स्थायित्व भी अधिक होता है। इससे उतर कर केवल मनोरजन और व्यसन का साहित्य भी होता है। मनुष्य की उत्तरोत्तर

उर्ध्व वृत्तियो को जो जितनी ही स्फूर्ति दे, वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ माना जाना चाहिए। वह श्रेष्ठता एक विशेष स्थल पर आकर धार्मिक हो ही जाती है।

प्रश्न—क्या इन मत-वादो का साहित्य भी कोई अलग होता है ?

उत्तर—हाँ, होता ही है। सत्य यद्यपि एक है, पर हमारी बुद्धियाँ अलग-अलग है। मनुष्य काल-परिमाण से घिरा है। इससे वह सत्य का आंशिक आकलन ही कर पाता है। परिस्थितियो के अनुसार उस आकलन के रूपो में भी विभिन्नता होती है। यही धर्मों की अनेकता का कारण है। ऐसा भी लगेगा कि उनमे विरोध भी कही-कही है। पर विरोध असल आत्मा का नही है। वह दीखने-भर का है। गहराई में जाकर तो सबके प्राणो में करुणा ही है।

प्रश्न—किसी एक सम्प्रदाय को उत्तेजना देने वाले साहित्य को आप क्या कहेगे ?

उत्तर—मेरा जी होता है कि मै उसे साहित्य ही न कहूँ। पर मै डिक्टेटर तो हूँ नही। एक और भी बात है। दुर्बल प्रकृतियो को उत्तेजना चाहिए ही चाहिए। उनमे जागृति होती है तो वासना को लेकर। अन्यथा जडता ही उन पर छाई रहती है। तमाशा तो आज यही है कि अच्छे-अच्छे सिद्धान्तो के नाम पर बुरे आदमी बुरे बनने का मौका पा लेते है। आप तो जानते है कि धर्म के नाम पर कितनी लडाइयाँ लड़ी गई है। आमने-सामने दो भाई एक दूसरे का गला काटने को चलते हैं और उनमें से एक आदमी जोर से चिल्लाता है 'परमेश्वर' और दूसरा चिल्लाता है, 'अल्ला हो-अकबर'। 'अल्लाह' और 'परमात्मा' क्या दो है ? पर ये दोनो आदमी एक ही ईश्वर को याद करते हुए, एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते है। इस आदमी के मन के पागलपन को देखकर हम को अधीर नही हो जाना होगा। आदमी की लड़ाई में परमात्मा का कसूर नही है। परमात्मा शब्द डिक्शनरी (कोष) में से

मिटा दीजियेगा तो लडाई मिट जायगी, ऐसा मुझे नही मालूम होता। मनुष्य के मन में लडाई की जड जहाँ है वहाँ परमात्मा तो है ही नही। वहाँ तो मनुष्य की ही क्षुद्रता है। उस क्षुद्रता की जडें जब तक वहाँ से नही उखडेंगी, तब तक अच्छे शब्द बुरे काम मे आते रहेंगे। सम्प्रदायान्धो को अच्छे धार्मिक ग्रन्थो में से भी उत्तेजना का मसाला प्राप्त हो जाता है, यह मै जानता हूँ। इसीलिए मैंने ऊपर की बाते कही। जो सकीर्ण साम्प्रदायिकता को भडकाता है और जो उसका शिकार होता है उन दोनो के मनो से बद्ध-मूल क्षुद्रता उखड गई है, ऐसा नही मानना चाहिए। धार्मिक-साहित्य का जन्म क्षुद्रता में से नही होता है। वह तो प्रेम के उत्स में से ही खिलता है। मेरी चले तो मानसिक सकीर्णता का विष फैलाने वाली पुस्तकों का प्रचार ही मै निषिद्ध ठहरा दूँ। उनसे समाज का बडा अकल्याण होता है।

प्रश्न—मुगल-काल में राजपूतो को उत्साह दिलाने के लिए उस समय के कवियो ने जो साहित्य रचा, वह भी क्या आप की ऊपर कही गई व्याख्या में आ जाता है।

उत्तर—इस प्रश्न में एक भूल मालूम होती है। उपयोगिता की दृष्टि से आपके लिए उपयोगी वस्तु वही हो सकती है, जो कल या परसो अनुपयोगी हो जाय। जिसमे अनुपयोगी होने का सामर्थ्य नही वह वस्तु उपयोगी ही नहीं। जिसने शूरता और बलिदान का ओज-दान किया वह साहित्य निर्जीव नही रहा होगा। उस की सजीवता असदिग्ध है। किन्तु यदि उसके साथ यह भी मिलता हो कि यवन को मारो और आज उस यवन शब्द की ध्वनि में एक विशिष्ट जाति का बोध समाविष्ट रहता है तो कहना होगा कि वह अश गलत है। आज वह ओज-संचारी भी नही हो सकता। अमुक को विरोध में रखकर यदि हम अपने भीतर शक्ति पाते है, तो वह शक्ति नही है, वैर है। साहित्य प्रेमोत्सर्ग की शक्ति देता है। द्वेष और घृणा की शक्ति

देने वाला उतने ही अश मे असाहित्य है । तब की परिस्थितियो में विशिष्ट रूप से उपयोगी पडने वाले साहित्य का हक है कि वह आज के लिए अनुपयोगी हो जाय । उस जमाने का बहुत-सा साहित्य हमारे बढते हुए जीवन का अब भी साथ नही दे पा रहा है और छूटता जा रहा है ।

प्रश्न—तो क्या आपका मतलब यह है कि उस समय के साहित्य को निकाल दिया जाय ? यदि यही मतलब हो तो भूषरणादि कवियो की बहुत सी कविताएँ निकल जायँगी ।

उत्तर—यह मतलब कैसे हो सकता है कि एक जादू से सबको साफ कर दिया जाय । हाँ, यह तो ठीक ही है कि पुराना सब-कुछ जीवन की गति के साथ-साथ निभ नही सकता । निकाल देने की बात तो शासन-प्राप्त लोग करे । मै तो यही कहने योग्य हूँ कि जो लेने और पाने योग्य है उसको लेने और पाने मे, जो छटने योग्य है वह स्वयमेव छूट जायगा । आज अगर हिन्दी में भी भूषरण से अधिक रवीन्द्र पढे जाते है तो क्या मैं इसको भूषरण का अपमान समझूँ ? दिन आ सकता है कि रवीन्द्र भी एक दिन न पढे जायँ । लेकिन इन बातो में मानापमान का प्रश्न ही कहाँ से उठता है ? यदि आज, आज हा रात के बारह बजे खत्म हो जायगा, कल के दिन बिलकुल शेष न रहेगा, तो क्या किसी प्रकार भी यह इस 'आज' की अवगरणना है ? ऐसा नही है । 'आज' का तो अर्थ ही यह है कि वह कल न रहेगा और यह उस 'आज' को भी मालूम होना चाहिए । उसके पक्ष में यह दावा पेश करना कि नही, इस आज के 'आज' को हम तो सनातन तत्त्व का भाति सदा कायम रखेंगे—यह दावा पहले से ही अपने आप में हारा हुआ है । भूषरण आदि के ग्रन्थ मैंने समीक्षा-बुद्धिपूर्वक नही देखे है । वस्तुत देखे ही नही है । बस, जहाँ-तहाँ कुछ देखा है । उनके किस अश को रखकर किस अंश को अपने साथ से छूटने देना है, यह तो किसी हिन्दी के ज्ञाता विद्वान से पूछने की बात है ।

प्रश्न—तो आप शायद शिवा-बावनी को उडा देने के पक्ष में है ?

उत्तर—मैने कहा न, इस बारे में कुछ कहने का मै अधिकारी नही हूँ। मोह-पूर्वक न मुझे कुछ रखना है न निकालना है । इस प्रश्न का निर्णय निर्मोही वृत्ति से जो हो, कर लेना चाहिए।

: ४८ :

स्थायी और उच्च साहित्य

प्रश्न—आदमी क्यो लिखता है ?

उत्तर—मै अपने भीतर देखू कि आदमी क्यो लिखता है। अगर वह एक हो, अकेला हो, कोई भी और कुछ भी दूसरा न हो, तो क्या वह लिखेगा ? ऐसी हालत मे मेरे ख्याल में लिखना तो क्या, और किसी भी प्रकार के मानवी व्यापार की कल्पना नही हो सकती। मनुष्य जीता है, खाता-पीता, हँसता-बोलता, पढता-लिखता है तो तभी जब कइयो के बीच मे वह एक है।

मानवी व्यापार एक से दूसरे का आदान-प्रदान सम्भव बनाने के लिए सृष्ट होते है। मानव अपने आप मे समाप्त नही है। वह सबका अंश है। वह सब है। सब हुए बिना उसकी मुक्ति नही। मुक्ति बिना तृप्ति नही। उसी तृप्ति की राह मे लिखना भी आता है। 'स्व' अपने को नाना सम्बन्धो द्वारा 'पर' से जुडा हुआ पाता है। इन सम्बन्धो की अपेक्षा उसमे नाना भावनाएँ उत्पन्न होती है। भावनाएँ उसके भीतर समाती नही, वे फूटने के लिए बेचैन होती है। न फूटने दें तो वे हमें ग्रस्त कर छोडती है। वे हमें प्रभावित किये बिना तो रहती नही। व्यक्त वे होगी और होकर रहेगी। कृत्य में व्यक्त होगी, वाणी में होगी, नही तो शरीर में ही आधि-व्याधि के रूप मे फूट बैठेंगी। इनका अतिरेक सह्य नही होता। जो उन्हे सम्पूर्णता से झेलकर आत्म-निष्ठ होता है, वह योगी है। योगी में भी भावनाएँ मरती हो, सो नही, वे आत्मा में रम जाती है। वैसा सन्त योगी साहित्यातीत अर्थात् द्वन्द्वातीत है। पर योगी की उस अवस्था के नीचे जब उन भावनाओं का व्यक्ती-

करण शब्दो मे अंकित होता है, तब हम कहते है, साहित्य रचा गया। मनुष्य अपने को मुक्त करने के लिये और दूसरे में अपना दान करने के लिये लिखता है।

प्रश्न—क्या जो लिखा जाता है वह सब साहित्य है ?

उत्तर—नही, सब साहित्य नही है। मनुष्य विचित्र प्राणी है। न जाने कितनी साधना से उसने स्वर पाया। फिर न जाने कितनी मुद्दत बाद उसने भाषा पाई, शब्द पाये। फिर बडे परिश्रम से उन शब्दो को अक्षरो में बाँधने की पद्धति का आविष्कार किया। जब यह हो गया, तब वह धीमे-धीमे भाषा का महत्त्व भूलने लगा। जो आत्म-दान का साधन था, वह आत्म-वचना का वाहन बना। व्यक्ति उसमें भावना से अधिक अपना अहकार गुजारने लगा। जहाँ यह है, वहाँ भाषा का व्यभिचार है। वैसा लिखना केवल लिखना है। वह साहित्य नही है।

जो हमारे भीतर की अथवा किसी के भीतर की रुद्ध वेदना को पिंजरबद्ध भावनाओ को, रूप देकर आकाश के प्रकाश में मुक्त नही करता है, जिसमें अपने 'स्व' का सेवन है और दान नही है, वह भी साहित्य नही है।

साहित्य का लक्षण रस है, रस प्रेम है। प्रेम अहकार का उत्सर्ग है। इससे साहित्य का लक्षण ही उत्सर्ग है।

प्रश्न—लेकिन स्थायी साहित्य कौन-सा ? उच्च साहित्य कौन सा ?

उत्तर—स्थायी साहित्य वह जिसमें मानव की अधिक स्थायी वृत्तियो का समर्पण हो। जिसमें जितना ही रूप का दान है, शरीर-सौन्दर्य का दान है, उस का आनन्द उतना ही अल्प स्थायी है। ऐन्द्रिकता की अपीलवाला साहित्य क्षणस्थायी है।

हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थायी है। इससे भी ऊपर है अपने सर्व-स्व का उत्सर्ग। जहाँ अपने प्रिय को पाने की कामना का भी उत्सर्ग है,

जहाँ सर्वस्व-समर्पण है, वहाँ सर्वाधिक स्थायी तत्त्व है। उसी तत्त्व के माप से हम लोग मरणशील अथवा अमर इन सज्ञाओ मे साहित्य का विवेक किया करते हैं।

इसी प्रकार जहाँ हमारे जितने ऊँचे अश का उत्सर्ग है वहाँ साहित्य मे उतनी ही उच्चता है।

प्रश्न—क्या साहित्य समयानुसार बदलता रहता है।

उत्तर—साहित्य का रूप तो समयानुसार बदलेगा ही, पर उसकी आत्मा वही एक और चिरन्तन है। मानवाय सब कुछ बदलता है। पर मरणशील मानवो के बीच मे एक अमर सत्य भी है। क्षण-क्षण ` जैसे एक निरन्तरता है, वैसे ही खण्ड-खण्ड मे एक अखण्डता है। उसी निर तरता की अभिव्यक्ति क्षणो मे होती है। क्षण स्वय तो क्षणजीवी ही है, पर वे क्षणातीत को भी धारण कर रहे है। यही बात साहित्य के मामले मे भी समझनी चाहिए। उसका सब कुछ बदलेगा, वह हर घडी बदल रहा है, पर उसका तत्त्व अपरिवर्तनीय है।

प्रश्न—यहाँ आप का रूप से क्या मतलब है ? क्या रूप का मत-लब साहित्य के बाह्य कलेवर से है ?

उत्तर—हाँ, रूप से मेरा वही भावार्थ है। उस मे भाषा, शैली, मुहा वरे, व्यञ्जना के और साधन, सब आ जाते हैं। इधर एक नई चीज़ पैदा की जा रही है, जिसको कहते है 'टेकनीक'। वह आत्मा से तोडकर साहित्य को नियमित शास्त्र का रूप देना चाहती है। उसको भी मै साहित्य के परिवर्तनीय रूपो मे गिनता हूँ।

प्रश्न—साहित्य का तो शायद आत्मा से सम्बन्ध है और रहना ही चाहिए, फिर यह 'टेकनीक' का साहित्य से आत्मा को अलग करना ठीक है ?

उत्तर—इसको समझने के लिए आप अपने को लीजिए। आपका

आत्मा से सम्बन्ध है या नही ? और आप शरीर मे भी है या नही ? अब अगर मै यह कहूँ कि जितने अधिक आप आत्मा है और जितने अधिक उस आत्मा के अविरुद्ध आप का शरीर है उतने ही अधिक आप महान् हैं—तो क्या ऐसा कहने मे कुछ अयथार्थ होगा ? इस जगत मे कुछ प्राणी है जो सिर के बालो को तरह-तरह के लच्छो मे काढते है, अगोपागो को प्रकार-प्रकार से सुसज्जित रखते है और शरीर को आभूषित रखने मे पर्याप्त चिन्ता व्यय करते है। उस शरीर-सज्जा का योग लगभग आत्मा से होता ही नही। मै उसको क्या कहूँ ? क्या मै यह न कहूँ कि उस साज-सज्जा मे जीवन की शुद्ध कला अभिव्यक्त नही होती। वहाँ जो है वह कुछ नकली-सा है। साहित्य मे भी ऐसा हो सकता और हुआ करता है। मूल भाव के प्रति अपेक्षाकृत उदासीन होकर हम उस के अगोपागो की परिसज्जा में लुभा पडेगे तो हम साहित्य के नाम पर ठेठ असाहित्यिक हो चलेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है । देखिये न आज, नायिका-भेद की चर्चा मे कहाँ तक औचित्य रह गया है ! वह क्या व्यसन की हदतक नहीं पहुँच गई थी ?

साहित्य को एक शास्त्र अथवा एक विद्या बनाना इस खतरे से खाली नही है। आजकल स्पेशलाइजेशन की (विशषीकरण की) प्रवृत्ति बहुत है । हर-बात का एक अलग शास्त्र है। इस से फायदा तो होता है। आविष्कारो की सूझ इसी पद्धति से हाथ आती है। लेकिन जब कि पदार्थ-ज्ञान को इस तरह भेद-विभेदो में विभक्त करके देखने में कुछ लाभ भी है, तब यह नही भूल जाना चाहिए कि वास्तव जीवन में वैसे खण्ड है नही। जीवन एक समूचा तत्त्व है। साहित्य के हर विभाग में साहित्यकता उतने ही अश में है, जहाँ तक कि उसमे जीवन-स्पन्दन है। विज्ञान के नाना शास्त्रो की भाँति साहित्य को भी विविध शास्त्रो मे विभक्त करके चलना बहुत सही बात नही है।

यो हर ज्ञान को विज्ञान का रूप देने से उस ज्ञान के सम्बन्ध मे

अ. का अधिकार उस पर मनुष्य का पभुत्व, बढ जाता है और इसमें कोई हरज भी नही है। यह प्रक्रिया अनिवार्य भी है। लेकिन जब वह अपन आप म महत्त्वपूर्ण समझ ली जाती है तब पाखण्ड हो जाती है।

शरीर की एक-एक हड्डी को जोडकर उन का इकट्ठा ढाँचा खडा कर दने से मनुष्य नही बन जायगा। इस तरह जो चीज बनेगी वह ठठरी ही होगी। मनुष्य मे जो धधकते हुए प्राण होते है—मनुष्य का असली लक्षण तो वह है। ऐसे ही शिल्प-कौशल की विद्वत्ता अपने आप में साहित्यिकता नही हो सकती। यदि विद्वान के भीतर सहानुभूति से भरा सा आता हुआ हृदय नही है तो वह विद्वत्ता साहित्य की दृष्टि से कुछ बेजान सी चीज है।

'टेकनीक' उस ढाँचे के नियमो का नाम है। पर ढाँचे की जानकारी की उपयोगिता इसी मे है कि वह सजीव मनुष्य के जीवन में काम आये। वैसे ही 'टेकनीक' साहित्य-सृजन मे योग देने के लिये है।

शरीर-शास्त्र-विद् हुए बिना भी जैसे प्रेम के बल से माता-पिता बनकर शिशु-सृष्टि की जा सकती है, वैसे ही बिना 'टेकनीक' की मदद के साहित्य सिरजा जा सकता है।

प्रश्न—तो चिरस्थायी साहित्य कौन-सा है?

उत्तर—शरीर और आत्मा की एकता जिस मे जितनी सिद्ध हुई है वह उतना ही चिरजीवी साहित्य है, यानी जिसमे यदि शरीर है तो मात्र आत्मा को धारण करने के लिए है। जो साहित्य जितना ही उन भावनाओ को व्यक्त करता ह, जो सब देश-काल के मनुष्यो मे एक समान है, वह उतना ही चिरस्थायी है। ऐसा वही कर सकता है जिसने अपना अह समष्टि में खो दिया है। पर जो सम्पूर्णत' अशेषतः ऐसा हो, वह व्यक्ति न तो हुआ, न होगा। इस से जब हम साहित्य की अमरता की बात करते हैं तो वह बात एकान्तिक ही समझनी चाहिए। सब को एक

दिन मिट जाना है । इसलिए चिरस्थायित्व मे तरतमता ही हमारे कहने का अभिप्राय हो सकता है । जिन ग्रन्थो मे युग-युगानुमोदित जातीय आदर्शो को स्वरूप मिला है, जिनमे लक्ष-लक्ष मानव-प्राणियों की आकाँक्षाओ को, उन वेदनाओ को मूर्त्ताकार प्राप्त हुआ है वे ग्रन्थ उस जाति, उस देश के व्यक्तियो के मनो मे गहरे घुसकर पैठ जाते है। वे फिर उनके जीवन से कठिनाई से अलग किये जा सकते है । महाभारत और रामायण को भारतवर्ष के प्राणों मे से खीच कर अलहदा कर सकने की कोई कल्पना कर सकता है ? ये ग्रन्थ अमुक व्यक्ति ने अमुक-स्थान पर बैठकर नही लिख दिये। ये तो भारतवर्ष के पूर्वजो में श्रुति-स्मृति द्वारा गहरे अकित होते गये और प्राणो मे बस गए ।

: ४६ :

राष्ट्रभाषा

प्रश्न—भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही क्यो हो ?

उत्तर—और कौन सी भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है ? हिन्दी के साथ प्रान्तीयता सब से कम है। उसे हम किस विशेष प्रान्त की भाषा कहे ? यो तो वह किसी प्रान्त अथवा प्रान्त-खण्ड की ठेठ भाषा नहीं है। साहित्य में जिसे खडी बोली कहते है, वह एक दृष्टि से किसी की भी घरेलू भाषा नही है । सब जगह कुछ हेर-फेर के साथ वह बोली जाती है । ब्रज मे वह ब्रज है, अवध मे अवधी, मिथिला मे मैथिल। इसी भाँति और भी उस बोल-चाल की भाषा के रूप है । पजाबी को भी हम एक तरह की हिन्दी क्यों न कहे ? मारवाडी तो हिन्दी है ही। इस भाँति हिन्दी तनिक प्रादेशिक सशोधन के अवकाश के साथ अब भी भारत के बृहत् भू-भाग की भाषा है। उर्दू और हिन्दी में तो फर्क ही क्यों किया जाय ? मुसलमान लोग भारतवर्ष भर में फैले है, सब कही वे उर्दू समझते और बोलते है। उनके कारण और सब जगह घूमते हुए साधु-सन्तो के कारण, हिन्दी का अजनबीपन सब प्रान्तो से मिट-सा चुका है। अब भी हिन्दुस्तान में कही जाइए, हिन्दी से आपका काम निकल ही जायगा। फिर नाम भी तो उसका 'हिन्दी' है अर्थात्, हिन्द-देश की, सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की । हिन्दी न कहना हो तो उसे हिन्दुस्तानी कह लीजिए। बात वही है। ऐसी अवस्था मे हिन्दी हिन्द की राष्ट्रभाषा हो, यह परिस्थिति अनिवार्यता ही समझनी चाहिए। इसमे किसी प्रकार का भारत के प्राकृतिक विकास पर आरोप नही समझना चाहिए। भारत के राष्ट्र का ऐक्य तो सम्पन्न होना ही है । तब वह किसके माध्यम से हो, इसे किसी बाहरी तर्क से निर्णय करके देखने की जरूरत ही नही

रहती। पारिस्थिति का तर्क ही बडा तर्क है । और हिन्दी राष्ट्रभाषा उतनी बनाई नही जा रही है, जितनी कि वह बनी जा रही है। तब हम इस इष्ट के साधन में मददगार ही हो सकते है।

प्रश्न—क्या यह सच है कि हिन्दी के प्रचार से साम्प्रदायिक द्वेष-भाव बढेगा।

उत्तर—नही, सच नही है। अगर हिन्दी शब्द से उर्दू के पार्थक्य की गन्ध किसी को हठात् आती ही हो तो उसको सशोधन कर हम हिन्दुस्तानी कह सकते है। जो भाषा आम-तौर पर बोली जाती है उसे हिन्दी कह लीजिए, चाहे तो 'उर्दू' कह लीजिए। वह भाषा खास तौर से फारसी से लगाव रक्खे, अथवा सस्कृत के प्रति ही ऋणी हो, यह जरूरी नही है। फारसी और सस्कृत दोनो का मोह छोडा जा सकता है। वह मोह छोड देना चाहिए। फिर भी दोनो भाषाओ के साथ आदर और लेन-देन का सम्बन्ध रक्खा जा सकता है। जरूरी होने पर और भाषाओ के भी शब्द अपना लेने मे हमे हिचक क्यो हो ? इसका यह मतलब न होगा कि उन-उन भाषाओ के साथ अथवा उनके साहित्य के साथ हमने स्पर्द्धा ठान ली है। इस्लामी साहित्य, अरबी, फारसी और उर्दू में है। उस साहित्य में क्या सन्तो की अमरवाणी भी नही है ? जिस भाषा में मनुष्य की अमर अभिलाषाओ और भावनाओ का स्फुरण हुआ है, वह भाषा क्यो कभी क्षीण होने लगी ? एक भाषा के (अर्थात् हिन्दुस्तानी के) प्रचार मे यह अर्थ हो ही कैसे सकता है कि विविध भाषाओ मे जो ज्ञान-कोष है, वह कम होवे ? किसी को चोट देने अथवा पहुँचने की बात ही वहाँ नही है। उन-उन भाषाओ में जो कुछ श्रेष्ठ है, चिरस्थायी है, उसको विस्तृत और व्यापक बनाने ही की सुविधा भाषा-ऐक्य के साधन से बढती है, अहित किसी का भी नही होता। परस्पर के आदान-प्रदान को और घनिष्ठ बनाने के ही हेतु से हिन्दी को प्रचार में लाने की बात है। किन्ही के मनो को फाडने के लिए ऐसा थोडे ही कहा जाता है।

प्रश्न—हिन्दी की अपूर्णता राष्ट्रकार्य-सचालन मे बाधक तो नही होगी ?

उत्तर—शुरू मे दिक्कत तो होगी, लेकिन पूर्णता की राह ही और क्या है ? और पूर्णता तो आदर्श है। वहाँ पहुँचा कभी नही जाता, उस ओर तो चलते ही रहना होता है। जो कठिनाई होगी उसे सोचकर बढे नही, तो कठिनाई कभी पार ही न हो और उसके योग्य सामर्थ्य भी सचित होने का कभी भी मौका न आवे। आज अग्रजी बिना काम चलता नही दिखता। पर अग्रेजी न थी, तब भी हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान था और सभी तरह के काम भी तब चलते थे। अग्रेजी के प्रति बहिष्कार-बुद्धि रखने का उद्देश्य नही है, पर परवशता अनुभव करना और परावलम्बन को अनिवार्य बना लेना श्रेयस्कर नही है। परस्पर सहयोग होना चाहिए, निरा परावलम्बी बन जाने मे अहित है। किन्तु स्वाश्रयी बनने का बल ही कैसे आवेगा, जब तक कि अपना आश्रय स्वय उठाने का सकल्प ही हम नही बाँधेगे ? इसके बाद मुश्किले तो पडेंगी पर वे आसान हो रहेगी। और मुल्को ने देखते-देखते अपनी-अपनी भाषाओ को सर्व-सम्पन्न बना लिया है। एक बेर सोचा कि अपनी ही भाषा में अपने को व्यक्त करेंगे, और जब राष्ट्र-भर ने यह सोचा, तब राष्ट्र की राष्ट्रभाषा को समर्थ होने मे देर क्या लगेगी ?

प्रश्न—हिन्दी-साहित्य को पुष्ट और रुचिकर बनाने के लिए आप की राय मे कौन-कौन से उपाय होने चाहिए ?

उत्तर—मै तो एक ही उपाय जानता हूँ। यह मै लेखक की हैसियत से कहता हूँ, ऐडमिनिस्ट्रेटर की हैसियत से नही। और लेखक की हैसियत से जो मै उपाय जानता हूँ, वह यह है कि छोटे सकुचित स्वार्थ से मै बाहर निकलूँ, मेरी सहानुभूति का क्षेत्र व्यापक हो। कर्म से मै विमुख न रहूँ, जो सोचूँ पूरे हृदय से सोचूँ। अपने को बचाऊँ नहीं

और अपने जीवन मे अपने आदर्श को उतारूँ। मेरा प्रेम मेरे साहित्य को रुचिकर बनायगा। अपने विश्वासो के प्रति मेरी लगन और तत्परता मेरे साहित्य को पुष्टता देगी।

इस के अतिरिक्त आप के प्रश्न पर मैं किसी दूसरी दृष्टि से अभी यहाँ विचार नही करना चाहता।

५७ :

साहित्य-सेवी का अहंभाव

प्रश्न—हम साहित्य-सेवी कैसे बन सकते है ?

उत्तर—अच्छी बातो के सोचने और फिर उन अच्छी बातो के लिखने से। अपने को औरो मे खोने और दूसरो को अपने मे पाने से। प्रेम की साधना से और अहकार के नाश से।

प्रश्न—लेकिन साहित्यिको में तो अहभाव कुछ विशेष ही पाया जाता है।

उत्तर—यह तो मै मान लूँगा कि लेख आदि लिखने वालो में अहभाव हुआ करता है। उसकी पहली वजह यह है कि वे अपने को पाना चाहते हैं। वे दुनिया के प्रार्थी होकर नही जीना चाहते, खुद होकर जीना चाहते है। जो बनी हुई मान्यताएँ हैं, वे ही उनको मान्य नही होती। वे उन्हे स्वय बनाने का कष्ट उठाना चाहते है। जब तक उनकी वे मान्यताये बनती रहती है, तब तक लगभग आवश्यक ही है कि वे न झुकने की चिन्ता रक्खें। जो सत्य पा लिया गया है, उतने ही से उनकी पूर्ति नही होती अथवा कहो, वे अपनी निज की साधना द्वारा भी उसे अपने दिल के भीतर पाना चाहते है। वे गहरे में आप ही डुबकी लगाना चाहते है। इस प्रकार दुनिया से उनकी सहज अन-बन सी रहती है। उनकी भावनाएँ ज्यादा धारदार हो चलती है। छोटी बात भी उन्हें बडी लगती है। स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति व्यावहारिक पुरुष की तुलना में कुछ कम सहिष्णु दीख पड़ेगा। किन्तु ऐसा इच्छापूर्वक नही होता। मानो लेखन-प्राण व्यक्ति इस दुनिया के सघर्ष मे अपने को खोना नही चाहता। उसमें अपने व्यक्तित्व को अखण्डित रखन को चिन्ता जग जाती है। इसलिए अहकार-पूर्वक वह अपने को कायम रखता हुआ दीखता है।

पर यह सब ऊपर की बाते है। और जब तक साहित्यिक व्यक्ति वास्तव में साहित्यिक बनने की तैयारी में रहता है तब तक की यह बातें है। न तो असल में वह भीतर से अहकारी है, और न अपनी मान्यताओ को स्पष्ट और दृढ बना लेने के बाद उसमें अह का भाव दीख पड़ता है। हाँ, उसके चलन का नियम उसके भीतर ही रहता है। सामाजिक नीति के कोड (कानून) के अनुसार वह नही भी चलता दीखता है।

आप एक बात देखियेगा। जो होनहार बालक दीखते है, उनमें अह जल्दी पैदा हो जाता है। यह है तो बुरा ही, पर किसी भलाई को भी सूचित करता है। वह अहम् इसलिए नही है कि भीतर गड जाय। वह तो मात्र इतने के ही लिए है कि व्यक्तित्व सचित होता चले। समर्थ व्यक्तित्व ही व्यापक स्नेह को धारण करने में समर्थ होता है।

अत एक अहम् वह भी है, जो श्रद्धा में से बनता है, और स्नेह से पलता है। वह अहकार नही होता, वह मात्र बहाव में न बहने के सकल्प की द्योतक दृढता है। पर यदि दम्भपूर्ण अह दिखलाई देता है, तो आप समझ लीजिए कि वहाँ साहित्यिक श्रद्धा का अभाव है। मै मानता हूँ कि लेखको म सब देश और काल में, ऐसे लोग थोडे नही होते। किन्तु यह भी आप मान लीजिए कि दर्प के मूल मे सदा न्यूनता होती है। कुछ त्रुटि है तभी मन को हठात फुलाकर उसको भरने की यह प्रक्रिया है। भरा हुआ मनुष्य फलो से लदे वृक्ष जैसा नम्र होता है, बेचारे अध-भरे को छलकना पडता है।

: ५१ :

कहानी क्या ?

प्रश्न- हम कहानी क्यो लिखते है?

उत्तर—वह तो एक भूख है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश करते रहती है। हमारे अपने सवाल होते है, शकाएँ होती है, चिन्ताएँ होती है और हमीं उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का, पाने का, सतत प्रयत्न करते रहते है। हमारे प्रयोग होते रहते है। उदाहरणों और मिसालो की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नही दे देती पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उत्तर इस रास्ते से मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है, और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस सूझ को ले लेते है।

प्रश्न—'टेकनीक' के विषय मे आपका क्या खयाल है ?

उत्तर—टेकनीक तो होती भी है और नही भी होती। वह तो अपने आप ही जन्म लेती है। उसके लिये खास प्रयत्न नही करना पडता। कहानी-लेखक किसी घटना को, सत्य को या भाव को अनुभव करता और सहसा उसे पकड लेता है—वह उस के मन मे पैठ जाता है। बस, इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने आप ही बढती गई। जहाँ खतम होना है वहाँ खतम हो गई ... जहाँ उसे रोका टेकनीक बिगड गई ... उस समय तो हमें अपनी कलम का नेतृत्व एकदम मान लेना चाहिए, वह जहाँ ले जाय आँख मूँदे चल देना चाहिए। यदि हमारी अनुभूति सत्य है तो हम निस्सदेह सही रास्ते पर जायँगे।

प्रश्न—पश्चिमी कहानियो के विषय में आप की क्या सम्मति है ?

उत्तर—रूसी कहानी मे जोर है। भावना है, जान है, Passion है और खूब है, लेकिन व्यक्तीकरण की Felicity नही है, प्रमोद नही है, आनन्द नही है। रूसी कहानी में ध्येय भी होता है। लेकिन उसका तरीका मनोरम नही है। फ्रेंच कहानी मे बात ठीक इससे उलटी है। वहाँ प्रकट करने का तरीका बहुत ही सुन्दर, सुहावना है, हम उसके साथ बह जाते हैं, पर कहाँ बह रहे है नही जानते, क्योकि उनका कोई हेतु नही। वे न जाने क्यो लिखते है। बस लिखते है इसलिए लिखते है। रूसी कहानी की ताकत फ्रेंच कहानी में नही है।...सब-कुछ कह-सुन लेने के बाद रूसी कहानी अपने ढँग की एक है, यह मानना ही होगा।

: ५२ :

साहित्य-सृजन

जीविका की चिन्ता व साहित्य-सृजन

प्रश्न—आपकी राय मे क्या कोई ऐसी योजना बनायी जा सकती है कि हिन्दी-साहित्य के कुछ उदीयमान लेखको को जीविका की चिन्ता से मुक्त किया जा सके और केवल साहित्य के सृजन में लगाया जा सके ?

उत्तर—शायद बन सकती हो, शायद बन सकती है। लेकिन मेरा उधर ध्यान नही है। मै उस प्रकार के सारे प्रश्नो का हल, या उस हल का आरम्भ, इसमे देखता हूँ कि कोई साहित्यकार जन्मे, जो इच्छा और साधनापूर्वक अकिचन बने। रोटी भूख की ही ले अथवा स्नेह की ही ले और दुनिया पर अपना कोई दावा या अधिकार न जताये। कमाने के नाम एक पाई कमा सकने के अयोग्य अपने को बना ले। कमाई में अहकार है, कमाकर आदमी गरीब से भी गरीब नही बन सकता। प्रेम के आदमी को इस तरह शून्य बने बिना चैन कैसे आए ? ऐसा आदमी अपने प्रेम की वाणी को सब जगह गुंजारता और बिखेरता फिरे तो मुझ आशा होती है कि हमारे बहुत से सकटो का हल भी हमें दीखने लग जाय। बडा सकट है आज के दिन राजसत्ता का और सत्ताधिपो का मदासक्त हो जाना। उनकी ओर से लेखक के लिये रक्षण भी चाहा जा सकता है, लेकिन मुझे लगता है कि राजसत्ता की तरफ ताकने और लपकने वाले या उसका भोग करने वाले इस तरह विनाश की ओर जा रहे है कि उन्हे स्वय रक्षा की आवश्यकता है। वह रक्षा केवल एक ऐसे नि.स्व बन गये हुए अकिंचन व्यक्ति की ओर से ही प्राप्त हो सकती है। मुझे तो लगता है कि ऐसे सन्त साहित्यकार को समय जब

जन्म दे सकेगा तो समस्या उतनी विकट नही दीखेगी। उस गर्भ से ही अधेरे को उजला देने वाले प्रकाश की रेखा तब हमे दीख आयगी।

साहित्यकार की परिभाषा

प्रश्न—मै आपसे शून्य, अकिंचन और सन्त साहित्यिक की बाबत नही, बल्कि ऐसे साहित्यिक की बात पूछना चाहता हूँ जिसे जीवन के छोटे-बडे, ऊँचे-नीचे सब पहलुओ को देखकर जीवन को सच्चे रग मे रखना है। मेरी दृष्टि मे सच्चा साहित्यकार वही हो सकता है जिसने पूर्ण जीवन का अनुभव किया है, जीवन के नकारात्मक पहलू का ही नही। ऐसा साहित्यिक तो सन्त नही होगा।

उत्तर—सन्त और शून्य जैसे शब्दो के आप धोखे मे कृपया न आएँ। क्या आप नही जानते कि फकीर शाह होता है और असली फकीर शाहशाह होता है। सन्त से शायद आपने वह समझा जो गऊ और साधु से समझा जाता है। वे शब्द नकारात्मक लगते हो, पर मेरे सन्त में आपको समझ लेना चाहिए कि दुष्ट पूरा-का-पूरा समाया हुआ है। जिसे आसक्ति नही है उसे ही भय भी नही है। एक आदमी सच्चाई से डर सकता है, दूसरा आदमी बुराई से डर सकता है, पर जिसके पास डर जैसा कुछ है ही नही, जिसकी आँख सब ओर भरपूर खुल सकती है, जिसे खट्टा-मीठा और कडवा कुछ भी अग्राह्य नही है, सब अनुभव जिसके पास आते और अपनी विशेषता और एकातता को वही विसर्जित करके कृतार्थ होकर वापस लौट जाते है; जो इस तरह सज्जनता के एक खाने मे बन्द होकर नही रहता, बल्कि ईश्वर की इस खुली प्रकृति में सम्पूर्णता के साथ खुलकर घुल-मिल कर रहता है,—वही है जिसको शून्य विशेषण दिया जा सकता है। बाकी जो किसी मानी हुई सज्जनता और साधुता की धारणा में बन्द होकर बैठ रहता है, वह कैसा शाह? न वह सन्त है न ही वह शाह। मै आपको कहना चाहता हूँ कि जिस सन्त की मैने ऊपर बात की वह ऐसा शून्य होगा कि उसी कारण वह हमे विराट दीख पडेगा।

निजता की सीमा उसे ढके और ओढे हुए न रहेगी, बल्कि स्वय हमें अपना अपनापन उसमे अधिक झलकता और उभरता हुआ दीखेगा। वहाँ भाव की जगह सद्भाव दिखाई देगा। मैं नही जानता कि आपके सामने कुछ उस प्रकार के व्यक्ति का चित्र इन शब्दो से मै किंचित उभार सका या भीतर जगा सका हूँ। पर आप मान ले कि ऐसा सन्त रह-रह कर जगत् को मिलना रहा है और जगत् ने फाँसी दे कर, या गोली मार कर उसका सत्कार किया है। केवल मात्र भाव से निकला हुआ होता तो उस पर लोगो को तरस तो आता, रोष कभी नही आ सकता। ऐसी सद्गति ही प्रमाण है कि वे निरे भाव के नही, बल्कि समग्र सद्भाव के प्रतीक थे।

साहित्य का सृजनकर्ता

प्रश्न—मेरे ख्याल मे कुछ अपवादो को छोडकर जो व्यक्ति इतने पहुँचे हुए हो जाते है वे चुप हो जाते है और मौन मे ही प्रसन्न रहते है। वे आत्मनिवेदन की आत्माभिव्यक्ति से उदासीन हो जाते है। इसलिए साहित्य की रचना प्राय ऐसे व्यक्तियो से होती है जो सन्देह मे झूलते रहते है, लक्ष्य तक नही पहुँच पाते और सन्त नही बन पाते।

उत्तर—हाँ, साहित्य की रचना के लिए आदमी दोयम दरजे का चाहिए। जिसे पहुँचा हुआ कहे उस पर साहित्य लिखा जाता है, उसे नही लिखना पडता है। उसका चरित्र ही सामग्री होती है और उसकी वाणी अंकित होने पर साहित्य।

दूसरी बात को मै अपने शब्दो मे रखूँ तो यह कहना अधिक ठीक होगा कि पहुँचे हुए, यानी लगभग पहुँचे हुए पुरुष की वाणी या भाषा मौन होती है। अर्थात् मौन की शक्ति से आप्त पुरुषो की बाते प्रभाव डालती है। आँख देखती रहे, सब इन्द्रिया काम करती हो, मुँह को ही हठात् बन्द रखा जाय, इसी का नाम न मौन है? मौन इस तरह सहज

अवस्था नही है। जो व्यक्ति की अत्यन्त प्रकृत और आत्मगत अवस्था हो, उसमे नि शब्द और सशब्द स्थिति मे कोई जातिगत भेद नही रहता। वहाँ भाषा द्वारा कोई आग्रह नही दिया जाता है, बल्कि उसी पद्धति से स्नेह उससे बहता है जैसे आँखो की दृष्टि से स्नेह झलक कर दूसरे को प्राप्त हो जाता है। मौन का भी मोह वहाँ क्यो ?

: ५३ :

साहित्य की गतिविधि

प्रश्न—साधारणत यह समझा जा रहा है कि नये साहित्य के स्रष्टा मुख्यत प्रगतिवादी है और वे आदर्शवाद को पुरानी प्रणाली समझ चुके है। क्या यह सच है ?

उत्तर—नही, सच नही है। वाद के साथ लगी प्रगति या उसके साथ लगा हुआ आदर्श दोनो सामान्य भाषा के शब्द न रहकर कुछ सकीर्ण अर्थ के द्योतक हो जाते है। मेरा मानना है कि लेखक चाहे वह आज का भी हो, मन में बिना किसी प्रकार का ध्येय या आदर्श लिये चल नही सकता। न उसके लिये अपने आस-पास की घटनात्मक सामयिकता से नितान्त बचे रहना सम्भव है। यह मानना होगा कि जिस वाद का शोर अधिक है, इसलिए फैशन भी अधिक है, वह प्रगतिवाद कहलाता है। लेकिन उस फैशन से लेखन या लेखक का सम्बन्ध नही।

प्रश्न—यह भी धारणा घर करती जा रही है कि आज के लेखक पर फ्रायड या मार्क्स का प्रभाव अधिक है। अभिप्राय यह कि फ्रायड ने जो मनोवैज्ञानिक विचारधारा चलायी है उसके अनुसार ही नयी कहानियो की आयोजना बन रही है। फ्रायड का मत यह है कि उत्खनन प्रणाली से हम मनोविकारो को दूर कर सकते है, तो यह उत्खनन प्रणाली भी आज की कहानी का आधार बन गयी है। दूसरी बात यह कि अधिकाश साहित्यकार मार्क्सवाद से प्रभावित हुए है या वह व्यक्ति के साहित्य की अभिव्यक्ति के बजाय जनता के साहित्य की अभिव्यक्ति को साहित्य का ध्येय मान रहा है। यह दोनो फ्रायड और मार्क्स की विचार-धारा विदेशीपन लिये हुए है। क्या आप समझते है कि इसका प्रभाव हमारे आज के साहित्यिको पर है ? क्या इससे हमारे साहित्य को नयी

दिशा मिली है और यदि मिली है तो वह क्या भारतीयता के अनुकूल है ?

उत्तर—आपके प्रश्न मे कई प्रश्न आ गये है। साहित्य में देश-विदेश की सरहदें मैं नही देखता। फ्रायड और मार्क्स का प्रभाव है और काफी है। हो नही सकता था कि वह प्रभाव न होता। उस प्रभाव को जिसने ऊपर से लिया है उसके लिये अर्थात् उसके लेखन के लिए वह अनिष्टकर होगा। जिसने उसे अपने भीतर समाकर स्वीकार किया है वह उसमे से अभीष्ट सार भी प्राप्त कर सकता है। मार्क्स और फ्रायड दोनो का मथन और चिन्तन मनुष्य की बुद्धि के लिए सहायक होता है। बुद्धि बाहर की परिस्थिति और अन्दर की मन स्थिति दोनो मे गहरे पैठकर तल को पा लेना चाहती है। मार्क्स समाज के विश्लेषण और अन्वेषण मे दूर तक गये है और फ्रायड आभ्यन्तर के अवगाहन मे गहरे उतरे है। दोनो को एक दूसरे से विमुख मानकर भी देखा जा सकता है। फिर भी दोनो आधुनिक है और आधुनिक साहित्य पर, फिर वह भारत का हो या बाहर का, उनका प्रभाव असदिग्ध है। अभारतीय उसे कहने की आवश्यकता मेरे लिये इसलिए नही है कि मै भारत को एकदम अलग, बन्द, कटा हुआ दुनिया का खड नही मानता। जहाँ उनके प्रभाव को अनात्मीय भाव से लिया गया है, वहाँ वह अभारतीय भी हो गया है, किन्तु उस प्रभाव को भारतीय रूप में भी आत्मसात् करके साहित्य में अभिव्यक्त किया गया है, ऐसा मेरा मानना है। केवल भारत में जन्मे व्यक्ति मे से नही आया है इसलिए किसी प्रभाव को अनिष्ट और अभारतीय कहकर अपने से दूर रखने और अपने को उससे अस्पृश्य रखने की चेष्टा को मै असाहित्यिक और असास्कृतिक मानूँगा। सकीर्ण राष्ट्रीयता उस प्रकार की वृत्ति रख सकती है। साहित्यिक अभिवृद्धि के लिये वह रुख नितान्त अनावश्यक और अनर्थक है।

प्रश्न—आपकी राय मे अभ्यतर का मथन हमारे आत्मदर्शी ऋषियो

की प्रणाली से अधिक अच्छा हुआ है या आज के मनोवैज्ञानिक फ्रायड की प्रणाली द्वारा ?

उत्तर—अच्छा शब्द उत्तर मे ही मै बचाना चाहूँगा। फैसला देने का काम मै नही लेता। अपने प्राचीन अन्वेषण को मै अधिक भेदक, तलस्पर्शी और निरपेक्ष, अत स्थायी कह सकता हूँ। फ्रायड के अवगाहन को और उसके परिणामो के प्रस्तुतीकरण को अधिक वैज्ञानिक, तर्कशुद्ध, ब्यौरेवार और परिपूर्ण कह सकता हूँ। मेरा मानना है कि फ्रायड यदि अधिक सत होते यानी आजीविका के प्रश्न की ओर से अधिक मुक्त होते तो उनका अन्वेषण 'लिबिडो' के आविष्कार से और गहरा जाता। शायद आत्मा का या कहो परमात्मा का आविष्कार वह कर पाता। मेरी तो यह भी मानने की इच्छा होती है कि मार्क्स भी अपने वस्तु-सत्य के अन्वेषण में अधिक तटस्थ और तत्पर होकर चलते तो वह भी परमात्म-तत्त्व यानी द्वैत की जगह अद्वैत तत्त्व तक जा पहुँचते। अद्वैत वह जो कि अन्तर बाह्य सब कही एकरूप व्याप्त है। इसलिए बाहर खोजने चलो तो और अन्दर की ओर आँख मोडकर खोजो तो भी वही चरम तत्त्व के रूप में हाथ आता है। उससे पहले श्रद्धा कही टिक नही सकती और बुद्धि को आगे चलने के लिए सदा ही चुनौती और अवकाश रहता है।

प्रश्न—यह शिकायत आम सुनी जाती है कि पिछले कुछ वर्षों से अच्छे स्थायी साहित्य का निर्माण नही हुआ है। क्या आप मानते है कि यह बात ठीक है ? तो इसका क्या कारण है ? यदि ठीक नही है तो यह धारणा क्यो बन रही है ?

उत्तर—हा, मै जानता हूँ कि धारणा निराधार नही है। और बहुत अश मे ठीक है। कारण लगन की कमी है। लगन वह जो सत्य को पाने के लिये अपने को खोने को तैयार है। आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति को देखते आदमी अपने को बचाने, रखने और बढ़ाने की सोचने के लिये अधिक विवश है। इसलिए यदि बाहर

की ओर उसकी लगन बढती है तो वह राजनीतिक क्राति जैसी चीज के मोह मे पड जाता है और अपने स्वभाव से विवश होकर भीतर की ओर मुडता है। तो अहकार पर अर्थात् अहकृत धारणाओ पर आकर टिक जाता है। इसके परिणाम मे भला महान साहित्य कैसे मिल सकता है। जब तक अपने स्वतत्त्व को भी सत्य की शोध में विसर्जन करके तैयारी नही होगी तब तक वैसा साहित्य नही सिरजा जा सकेगा।

प्रश्न—जिस साहित्य की बात आप कहते है, वह व्यक्ति के अभ्यतर का साहित्य है या जनता का साहित्य? या एक साहित्यिक आत्मिक सत्य को दृष्टि में रखे या लोक-हित को?

उत्तर—प्रश्न में आत्महित और लोकहित ये दोही नही हो जाते, बल्कि जैसे वह परस्पर विमुख भी हो जाते है, वैसा मै नही मानता। सत्य व्यक्ति से अछूता तो नही है। अर्थात् व्यक्ति में अन्तर्भूत है। फिर भी वह निर्वैयक्तिक है। यानी जहाँ व्यक्ति अपनी ही निजता में डूब कर अपनी निस्वता के तट पर जा पहुँचता है, वहाँ वह उससे तत्सम हो जाता है। जो उसका आत्म होकर भी उसमें बन्द नही बल्कि उससे बाहर होकर भी तत्सम रूप में सब कही व्याप्त है, इसी को वस्तुपरक भाषा में यो कह सकते है कि वह तत्त्व लोक-व्याप्त होकर भी लोकाबद्ध नही, लोकातीत है। यह भाषा शायद कुछ अटपटी और अस्पष्ट लगती होगी, किन्तु जन में और जनता मे द्वैत देखकर चला जायगा तो मेरे ख्याल मे सत्य पर नही, बल्कि सघर्ष पर जा पहुँचा जायगा। जन और जगत्, मन और मिट्टी का ऐक्य ही हो सकता है। यानी सत्य उनके अद्वैत मे भेद देखकर और पहचान कर भी उनमे अभेद को पा लेने में है।

प्रश्न—आपकी दृष्टि में कोई ऐसा उपन्यास है जो सैक्स के बिना लिखा गया है या लिखा जा सकता है?

उत्तर—नही है, नही होना चाहिये। भगवान की ही कल्पना का

रूप अर्धनारीश्वर हो सकता है। सृष्टि के तल पर शष सब स्त्री-पुरुष द्वैत मे बँटा है। सैक्स शब्द मे जो एक हठात् विचिकित्सा और जुगुप्सा का आरोप है इसीलिए उससे बचने की बात सूझती है। पर परमेश्वर की प्रकृति मे उससे बचन की चेष्टा कही नही है। इससे कोई उपन्यास-कार जो जीवन का स्वीकार, सत्कार और पुरस्कार करना चाहता है उससे बचने का बहाना खोजने की आवश्यकता में नही रहता और नही रह सकता।

प्रश्न—केवल वर्णनात्मक साहित्य को, जैसा मध्यकाल में कालिदास, वाणभट्ट आदि का है जिसमे विशेप विश्लेषण भी नही और उद्बोधन भी नही, आप आज के साहित्य की दृष्टि की अपेक्षा किस कोटि का समझते है ?

उत्तर—केवल वर्णनात्मक मेरी समझ मे कोई साहित्य नही होता। कालिदास का भी नही था न और किसी का। उद्बोधन और विश्लेषण की 'अतिरिक्तता' अवश्य साहित्य के लिये खतरा है। उस अतिरेक की उपेक्षा में ही शायद हम मानते है कि अमुक वर्णनात्मक नहीं कुछ और आत्मक है। सच यह कि वह मन की कल्पना की लहरो की दृष्टि से अधिक वर्णनात्मक हो जाता है। इसीलिए उसमे उद्बोधन, विश्लेषण आदि की विशेषता दीखती है। साहित्य तो वह, जिसमे भावना उस तरह से भरी हो जैसे अगूर मे रस। फिर भी वह छिलके पर छलकता नही हो, छिलके के भीतर समाया हो, इसलिए ऊपर से हमे रस नही दिखता, छिलका दीखता है। लेकिन यदि साहित्य के नाम पर वह हमें रस देता हो तो हम मान ले कि वह वर्णन का छिलका नही है, बल्कि कवि के हृदय की भावना का केवल मात्र आवरण और उपादान है। वर्णन देने भर से कालिदास कालिदास नही है, बल्कि उस मनो-प्रकृति की वाणी मे से बोल कर ही वह अपने हृदयगत रस को सार्वकालिक भाव से हमारे निकट उपलब्ध कर गये है। इसीलिए वह कवि-शिरोमणि

कालिदास जो अपनी बात इस तरह कहता है कि जैसे वह समय मे कुछ कहता है। काव्यगत दृष्टि ही सब-कुछ उसकी ओर से कह देती है। वही सफल साहित्यकार है।

प्रश्न—आपकी राय में साहित्य-जीवी होकर अर्थात् साहित्य को जीविका का साधन मानते हुए कोई साहित्य का निर्माण कर सकेगा ? या उसे स्वतत्र होना होगा ?

उत्तर—साहित्य में से उपजीविका प्राप्त हो सकती है, लेकिन साहित्य-सृष्टि पर उसका बोझ पडे, इसको मै इष्ट नही मानता। मेरी धारणा है कि इसका परिणाम भी इष्ट नही हो सकता। मै सोचता हूँ कि यह हो सकता है कि कोई कुछ लिखे और उस लिखने का फल यह हो कि उसे अनेक-अनेक का प्रेम प्राप्त हो। इस तरह आजीविका आदि का प्रश्न उसके लिये कही रह ही नहीं जाय, लेकिन उसके मन की ओर से उसके साहित्य पर इस आजीविका के विचार का जिस मात्रा मे बोझ पडेगा उसी मात्रा में साहित्य की उत्तमता में क्षति आजानी चाहिए, ऐसा मै समझता हूँ।

: ५४ :

विविध

इन्दौर की साहित्यिक गोष्ठी में मेरी हवाई-सी बातो को सुनकर एक सज्जन ने मुझ से प्रश्न किया कि 'ज्ञान-विज्ञान में दक्षता प्राप्त करना बहुत आवश्यक नही है क्या ? और यदि यह आवश्यक है तो क्या आप इससे सहमत है ?' उन्हे शायद यह भ्रम हुआ होगा कि मै इसमे सहमत नही हूँ। पढने-लिखनेवाले छात्र विद्यालय से निकलने के बाद ऐसा अनुभव करते है कि सीखा हुआ नब्बे प्रतिशत उन्हे भूल जाना पडा है। ज्ञान के नाम पर वे जो कुछ प्राप्त करते है उसमें से दस-फी-सदी ही उनके साथ आवश्यक रूप में रह जाता होगा। जो कुछ हम उपार्जित करते हैं वह सब-का-सब रखा रहने लायक है भी नही, और ऐसा करना सम्भव भी नही है। उसे जीवन मे लीन करना ही लक्ष्य है। जो हमारे चेतन मे मिल नही जाता—वह लाभदायक कैसे ? वह हमारे ऊपर बोझ के मानिन्द रहता है।

आज हिन्दी-साहित्य के बारे में मुझे ऐसा लग रहा है कि साहित्य का पठन-पाठन इतना हो रहा है कि साहित्य की सृष्टि कम होती जा रही है। साहित्यज्ञ इतने बनते जा रहे है कि साहित्यकार कम होते जा रहे है। परिणाम-स्वरूप साहित्य के रूप में जो सृष्टि हो रही है वह भी कुछ उथली-उथली-सी लगती है, साहित्यकार गहराई तक पहुँच नहीं पा रहा है।

हिन्दी के ऊपर एक बोझ आ गया है। आधुनिक दुनिया की सारी बाते हिन्दी के माध्यम द्वारा हम भारतीयो को पानी है; उन्हे अपने साहित्य मे लाकर हमें सारे भारत को समृद्ध करना है—उसमें एकता लानी है। हिन्दी के प्रचार के साथ-साथ हम उसमें आत्म-सामर्थ्य डालें

इसके साथ ही साहित्य का ज्ञान हम इस प्रकार प्राप्त करें कि वह हमारे लिए शुष्क ज्ञान नही, चैतन्य ज्ञान हो और वह हमें समर्थ बनाये। हम बाह्य जगत् से अपनी इन्द्रियो द्वारा जो कुछ ग्रहण करते है वह ज्ञानततु के द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचता है। हमारे ऊपर जो ज्ञान का यह बोझ है वह तबतक झूठ है—मिथ्या है, जबतक वह हमारी चेतना से सम्बद्ध नही हो जाता। पीछे की चेतना के पट से सयुक्त हुए विना वह सब-का-सब बेकार है। ईंट, चूना, गारा प्रभृति वस्तुएँ मिलकर जब एक भव्य प्रासाद के रूप में प्रस्तुत होती है तभी उनकी सार्थकता है। मै मानता हूँ कि जगत् की सारी वस्तुएँ अपने-आप मे मिथ्या है, इसलिए सीधे रूप से जगत् को पकडना भ्रम है। जबतक हम अपने चैतन्य से उसका सम्बन्ध स्थापित नही करते तबतक वह सब-का-सब बेकार है। हम जो कुछ सीखें उसका सत्य इसी में है कि हम उसे अपनी आत्मता में लय कर दें—उसे ज्यो-का-त्यो सत्य नही मान लें, अपनी चेतना से सम्बद्ध कर ही उसे सत्य मानें।

साहित्य मे हमारे सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यह तरह-तरह के सिद्धान्तो और वादो के आरोपण से नही हो सकता। इन वादो को उसकी पीठ पर लादने से उसका अकल्याण ही होगा। हम बोझ तो दें, फिर भी पीठ न झुके। यह कैसी बात है! जो बाहरी है वही बोझ है और हमें झुकाता है। भीतरी तो बोझ रहता ही नही। माँ के लिए गोद का शिशु बोझ नही होता, धाय के लिए हो भी सकता है। हिन्दी पर आया बोझ बाहरी न समझा जाय। असल में उसका स्वधर्म ही व्यापक हुआ है और अगर उत्साह से, अहकार से नही, उसने राष्ट्र का दायित्व अपने ऊपर लिया, तो हिन्दी उससे बिगड़ेगी नही, सँभलेगी; झुकेगी नही, सीधा शीर्ष करके दुनिया की प्रमुख भाषाओ के बीच खडी हो सकेगी।

छात्र विद्यालय से निकलने के बाद जीवन से सीधा जो अनुभव प्राप्त

करते हैं वही उनके काम की चीज होगी, विद्यालय में पढ़ी गई अन्य चीजें उन्हें केवल सूचित मात्र करने के लिये हैं। जीवन से जो सीधा प्राप्त होता है वही टिकाऊ होता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—उपन्यासकार जैनेन्द्र समाज के बहिर्जगत् को छोड़कर व्यक्ति के अन्तर का कलाकार क्यो बने ?

उत्तर—बहिर्जगत् को भ्रमण करके चुका देना कठिन है। उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही। उसके लिए साधन का भी सवाल होता है जो अपने-आप मे कृत्रिम सवाल है। पैसा जिस ज्ञान की शर्त हो वह असल ज्ञान ही कैसे हो सकता है ? बाह्यजगत् की जानकारी को बढाने और फैलाने के लिए पैसे की दरकार होती है। बाहर से यो समझा भी क्या जाय ? मान लो, न्यूयार्क जाता हूँ और समझता हूँ, न्यूयार्क मैंने देख लिया और जान लिया, लेकिन वहाँ के ७० लाख मनुष्यो में से प्रत्येक का अध्ययन कर सकूँ, क्या यह सम्भव है ? वस्तुत बहिर्जगत् एक भुलावा है। बहिर्जगत् के नाम पर यदि कुछ रचनाएँ हुई हैं तो उनमें भी कलाकार बहिर्जगत् के उपलक्ष से अपने को ही खोजता या व्यक्त करता है, वह दूसरा कुछ कर नही सकता। अन्तर यही है कि अपने लिये मै इस अनिवार्यता को सहज स्वीकार कर लेता हूँ।

प्रश्न—आज के इस समाजवादी युग में, जब व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता के आगे नही के बराबर हो गई है तब, जैनेन्द्रजी के उपन्यासो का मूल्य आज क्या होगा ?

उत्तर—मूल्य पहले तो है वह जो किसी प्रकाशक से मुझे मिलता है। मेरे एक उपन्यास का मूल्य डेढ रुपया है। मूल्य तो घटता-बढता रहता है। मूल्य की चिन्ता मुझे नही है। इसकी चिन्ता उन्हें हो जिन्हें मेरी पुस्तकें पैसे देकर खरीदनी है। हो सकता है कि मेरी मृत्यु के बाद

भी मेरे उपन्यासो की बिक्री होती रहे। इसलिए मुझ से और मेरे उपन्यास के मूल्य से कोई सम्बन्ध नही है। जहाँ तक आज के समाजवादी युग मे व्यक्ति का सम्बन्ध है, इसकी कल्पना ही नही की जा सकती कि कभी भी किसी वाद के जोर से समाज मे व्यक्ति का मूल्य शून्य हो रहेगा। मान लिया कि एक समाजवादी स्टेट है। हो सकता है, वह बिलकुल निरापद स्थिति मे भी हो—टोटलिटेरियन किस्म की कह लीजिए। उस पर एक डिक्टेटर ! पर वह भी समाज ऐसा नहीं हो सकता कि व्यक्ति के "गुण" का महत्त्व ही न रहे। बल्कि वह समाज मजबूत तभी दीखता है जब वह डिक्टेटर के व्यक्तित्व मे मूर्त्त हो जाता है। पेड कितना भी बडा हो, दूसरा पेड नही उगा पाता है। उसी के छोटे बीज मे से दूसरा पेड निकलता है। यानी हरएक सस्था मूल मे व्यक्ति मे से उगती है। समाज स्वय व्यक्ति में ही पकडा जा सकता है। समाज से व्यक्ति का महत्त्व तभी खत्म हो सकता है जब व्यक्ति-व्यक्ति न रहकर अंक बन जायगा। किसी भी स्थिति में सुख-दु ख का अनुभव करने वाला 'मै' क्या कभी खत्म हो सकता है ? समाज आदर्श तभी होगा जब एक व्यक्ति मे अनेक व्यक्तियो का समावेश हो—जब व्यक्ति व्यक्ति-भावना से नही, समष्टि-भावना से चल सके। गाधीजी भारत हो गये, भारत ही क्या—मानवता बन गये। अकेला गाधी दुनिया-भर को भारत का बोध देता था। गांधी में भारत की आत्मा बोलती थी। व्यक्ति में समाज मूर्त्त हो सकता है। नि स्व व्यक्ति जब स्वतन्त्र (Sovereign) होगा, तभी आदर्श समाज बन सकेगा—उसे राम-राज्य कहे या और कुछ। स्टालिन के देश का समाज वही तक उत्तम या हीन है जहाँ तक स्टालिन सामान्य व्यक्ति के सुख-दु.ख से अभिन्न या भिन्न है।

प्रश्न—जो समाज लेखक को आदर और पैसे न दे उसके लिये लेखक क्यो लिखे ?

उत्तर—न लिखे। पैसा दे तो मनचाहे लिख सकते है क्या ? पैसे

से लिखने का सीधा सम्बन्ध नही है। मै अपनी पत्नी को प्रेम देता हूँ, तो वह भी मुझे प्रेम देती है। यदि कोई दूसरा उसे पैसे दे तो क्या उसे भी वह प्रेम दे सकती है ? चक्की में एक ओर से गेहूँ दिया जाता है, दूसरी ओर से आटा निकल आता है ? उसी तरह क्या एक ओर से पैसे देकर दूसरी ओर से साहित्य निकाला जा सकता है ? पैसे के द्वारा जो स्नेह सद्भाव आता है वही लिखा देता है। पर केवल पैसे के लिए कैसे लिखा जा सकता है ? एक सज्जन ने मेरे पास एक मनीआर्डर भेजा। कुछ दिनो के बाद उनका एक कार्ड आया जिसमें कहानी न मिलने की शिकायत थी। मैने उन्हे जवाब दिया—'मनीआर्डर के साथ कहानी कैसे लटकी आ सकती है ?' तुलसी को अगर कम भिक्षा मिली तो वे कैसे कह सकते थे कि मै जो यह 'स्वान्त सुखाय' रामायण लिख रहा हूँ, उससे मुझे भिक्षा भी विशेष नही मिलती ? वे भिक्षा के लिये तो नही लिखते थे। लिखने का सम्बन्ध गम्भीर भावना से है। 'एक्सचेन्ज' (विनिमय) के धरातल पर साहित्य की सृष्टि सम्भव नही।

प्रश्न—लेखक के विचारो, आदर्शों और मान्यताओ की ऊँचाइयो तक समाज न पहुँचे तो दोषी कौन ? लेखक या समाज ?

उत्तर—दोषी कोई नही ? क्या उस ऊँचाई तक समाज का पहुँचना जरूरी है ? एक ऊँचाई मुझे प्रेरणा दे रही है जिससे प्रेरित होकर मैं लिखता हूँ। उसका दायित्व मेरे सिवा दूसरे पर नही।

प्रश्न—लेखक क्या समाज के घोडे की पूँछ है ? या उसकी लगाम ? या उसकी आँखें ?

उत्तर—समाज को मै घोड़ा बना हुआ देखना चाहता हूँ। और तब मै देखूँगा कि मै उसमें पूँछ हूँ या लगाम हूँ या आँखे। वस्तुतः समाज एक ऐसी धारणा है जो कही दिखाई नही पडती। 'समाज' शब्द एक धारणात्मक शब्द है, यह कोई इकाई नही। जिसे हम 'कॉनसेप्ट' (Concept) के रूप में ही ग्रहण कर सकते है, ठोस वस्तु के रूप में

नही, उसके साथ हमे उस प्रकार व्यवहार-वर्तन नही करना चाहिए जिस प्रकार एक ठोस वस्तु के साथ हम करते है।

प्रश्न—क्या भारतीय सस्कृति खतरे में है ? सस्कृति यदि युग की समस्त चिन्ताधाराओ का सर्वोत्तम है तो सर्वोत्तम को खतरा क्या हो सकता है ? पद्मपत्र को पानी से क्या डर ?

उत्तर—यदि कोई चीज स्वय उत्कृष्ट हो तो उसे खतरा क्यो हो ? वही खतरे को दूर कर देगी। खतरा निकृष्ट वस्तु को ही हो सकता है, उत्कृष्ट को नही। इसे मै ठीक मानता हूँ। रक्षा करने वाले धर्म को स्वय खतरा कैसे हो सकता है ? अत भारतीय सस्कृति को बाहर से खतरा बताना एक अहकार है। अहकार को टूटना है तो टूटने दो। उसे खतरा भारत से ही है, अभारत से नही। हम भारतीयो को अपने विकारो के बारे में सजग रहना है। यह खतरा हमें अँगरेजियत की तरफ से है। हम अपने को भूलकर नकल करने के पीछे हैरान है। अँगरेजो से हमें बहुत-कुछ मिला है, जिनमे से कुछ से तो हम अपने को सबल बना सके है, पर अधिकाश से हमे हानि ही हो रही है। आज साहित्य और सस्कृति के नाम पर कुछ ऐसी चीजें चल रही है जिनमें विकार है। पद्मपत्र को पानी से क्यो डर ? इसमें भी हमें भारतीय सस्कृति यही कहती है कि हम पद्मपत्र बने रहे; हमें कर्दम से कोई सम्बन्ध न हो।

प्रश्न—आधुनिक कलाकृतियो को देखकर यह विश्वास होने लगा है कि कला मनुष्य का पतन है। आपकी क्या राय है ?

उत्तर—तो आप उसके पीछे न भटके। किन्तु यदि कलापूर्ण नयन मिल जायें तो सारे आदर्शो के रहते आप थोडी देर के लिये सब छोड उधर देख आएगे। कला से मुख मोडना असम्भव है।

प्रश्न—कोई चीज अच्छी या बुरी क्यों हो जाती है ? क्या उसके प्रति दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण है ? वस्तु का अपने-आप में कोई महत्त्व नही ?

उत्तर—चीज अच्छी या बुरी सापेक्ष है। चीजें स्वय अच्छी या बुरी नही होती। यथास्थान यथोपयुक्त प्रयोग द्वारा वस्तु बुरी नही। विष्ठा यथास्थान खाद बनकर अन्न पैदा कर हमारा पोषण करती है। अन्यत्र रहकर वह जुगुप्सा ही पैदा करती है। हमारे लिए सब आदमी उपयोग के है। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है—सच्चा दृष्टिकोण है।

प्रश्न—"साहित्य मे साधुता वाञ्छनीय नही"—एक लेख। पर जैनेन्द्रजी की साहित्यिक कृतियाँ साधुता की ओर उन्मख है। क्या अब मे आप साहित्य में असाधुता अपनायेगे ?

उत्तर—यह शायद मेरे ही किसी लेख का अश है। मेरी कृतियो में जब से साधुता लक्षित होने लगी है तब से पहले की वह पक्ति है। मै यह कहूँगा कि महादृष्टि होनी चाहिए। जो साधुता जगत् से अपने को काटती है और 'कु' कहकर कुछ को छोडती है, उसकी प्रतिष्ठा साहित्य में नही। अल्पप्राण व्यक्ति को साहित्य मे प्रतिष्ठा कैसे होगी ? जो ऐसा सोचता है कि नारी नरक की ओर ले जाने वाली है, तो ऐसा साधु वास्तव में साधु नही है। मुझे अनीति का प्रचारक कहा गया है। एकाँगी दृष्टि प्रीति की दृष्टि नहीं, भय की दृष्टि है। जो दुनिया को 'सु' और 'कु' में बाँटता है, वह साधु नही है। जो समग्र विश्व में समानता देखता है वही वस्तुत साधु है। भयवादी और पलायनवादी साधुता का साहित्य मे स्थान नही।

प्रश्न—साहित्य और राजनीति दो विपरीत धाराएँ है या एक ही धारा के दो अवान्तर तट ?

उत्तर—जबतक चर्चा है तबतक दो विपरीत धाराएँ है। किन्तु उन्हे 'विपरीत मानते हुए भी राजनीतिज्ञो के प्रति हम अवमानता नही दिखायें। इसमें हमें काफी सावधानी की आवश्यकता है। राजनीति यह मानती है है कि वह आगे है—दूसरा पीछे, मै प्रधान—दूसरा अप्रधान, मै साधन—दूसरा साध्य। यही वृत्ति राजनीति मे है। किन्तु जहाँ पर

दूसरा ही प्रधान और 'मैं' दोयम होता है उस दर्शन से संस्कृति उत्पन्न होनी है। यही मुख्य भेद है। जहाँ 'स्व' प्रधान है और दूसरो मे केवल काम निकालना है, वही राजनीति है।

प्रश्न—कथाकार जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और अश्क के विषय मे आपके विचार ?

उत्तर—ये प्रेम की आपसी बाते है जो खुले-चौडे मे होना ज्यादा ठीक नही।

प्रश्न—आधुनिक हिन्दी-उपन्यासो पर आपके क्या विचार है ? हिन्दी मे उपन्यास-साहित्य का भविष्य कैसा है ?

उत्तर—हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का भविष्य उससे भी उज्ज्वल है जो रूस में 'प्रि-रिवोल्युशनरी दिनो' में था—जब गोर्की, टालस्टाय, तुर्गनेव थे। पश्चिम का शकावाद, अर्थवाद हमें पूरे वेग से झकझोर रहा है। अत इस समय हमारे लिए इतना गहन मथन का अवसर है जो उस समय रूस के पास था। अत इस समय ऐसा उपन्यास निकल सकता है जो जगत् को जाज्वल्यमान कर दे। आज के उपन्यास के सम्बन्ध मे मै यही कह सकता हूँ कि मै कम पढता हूँ। थोडा-बहुत जो पढा है उससे यही समझता हूँ कि उसमें अपने मतो को आरोपित करने की वृत्ति अधिक है, अपने 'स्व' को समर्पित कर रचना करने की प्रवृत्ति कम। किन्तु आनेवाले चालीस-पचास वर्षो मे वह साहित्य उत्पन्न होगा जो जगत् को चकाचौध मे डाल देगा।

प्रश्न—आधुनिक कहानियो में 'टेकनीक' को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। इसके पीछे कौन-सी मनोवृत्ति काम कर रही है ?

उत्तर—मै 'टेकनीक' की 'स्पेलिङ्ग' बहुत दिन के बाद समझ सका जब बहुत-कुछ लिख चुका था। यदि इसे समझने की कोशिश करता तो खो जाता—सर्वदा 'टेकनीक' पर ही दृष्टि रहती। 'टेकनीक' दिवाला है अपने अन्दर का।

प्रश्न—आपकी रचनाओ मे हास्य और व्यग्य का अभाव है । हिन्दी के अन्य लेखको के सम्बन्ध मे भी यही कहा जा सकता है । क्या हिन्दी के कलाकारो को इस ओर ध्यान नही देना चाहिए ?

उत्तर—किसी रचना मे प्रसाद और व्यग्य का न होना बहुत खराब है । मेरी रचनाओ मे नही है, यह भी खराब है । हास्य अच्छा नही, मुझे मुस्कान रुचकर है । पर व्यग्य तो होना ही चाहिए । कहानी जो कुछ कहती है, व्यग्य से ही कहती है । साधे रूप में तो वह कुछ कहती नही । यदि कहानी अच्छी है तो उसमे व्यग्य अवश्य है । यदि मेरी रचनाओ में उसका अभाव है तो मै इसे अच्छा नही मानता ।

प्रश्न—कहाँ तक सम्भव है कि पुरुष के समक्ष नारी एकाएक अपना नग्न प्रदर्शन करे ! 'सुनीता' ने भयवश ऐसा किया या उसकी दमित चिरसचित भावना का वह प्रकटीकरण था ?

उत्तर—एकाएक तो नग्न होना होता ही नही है । नग्नता नाम की चीज है तो भीतरी । हम अभी अच्छे-अच्छे कपडे पहने बैठे है तो क्या हम चौबीस घटे ऐसे ही रहते है ? हम सबके भीतर नग्नता मौजूद है। डाक्टर के यहाँ, स्नानघर में—क्या नग्नता से हम अपरिचित है ? हमने कपडे को अधिक महत्त्व दिया, शरीर को कम, इसीलिए नग्नता का प्रश्न उठता है । उपन्यास भी समाज है, पर दोनो की मर्यादा में भिन्नता है । उपन्यास के नायक और समाज के व्यक्ति में भिन्नता है । पात्र में मानसिकता और भावना ज्यादा होती है, शरीर की मर्यादा कम । जहाँ तक 'सुनीता' का प्रश्न है...भई इतनी लबी जिन्दगी है और उसमे क्या सब कही आवरण रहेगे ? . और, अगर 'सुनीता' नग्न भी हुई तो उसमें किसी के लिए भय क्यो ? वह तो पुस्तक मे है । सुनीता का नग्न होना किसी व्यक्ति की नही प्रतीक की नग्नता है ।

प्रश्न—किन्तु 'सुनीता' तो हमारे समाज की प्रतीक है, फिर उसकी नग्नता दूसरे की नग्नता क्यो नही ?

उत्तर—उपन्यास के पात्र हमारी सकीर्णताओ से सीमित नहीं। वे हमारी ही अपनी अव्यक्त भावनाओ के प्रतीक है । वे हमारी आत्मा के प्रतीक है, हमारे मताग्रहो के नही।

प्रश्न—क्या प्रेम एकान्त में ही हो सकता है ?

उत्तर—हाँ, बल्कि प्रेम में इतनी शक्ति है कि वह एकान्त पैदा कर लेता है। समष्टि उसको एक बिन्दु में समाई दिखाई देती है। आदमी को प्रेमी होना चाहिए। जिससे प्रेम किया जाय, भगवान उसी में हो रहता है। जो प्रेममय है उसके लिए एकान्त ही है। सब विविध उसे एक में खो रहता है। वह जहाँ है, उसके समक्ष वही है। एकान्त या एकाग्रता एक ही है।

प्रश्न—'कट्टो' और 'सुनीता' में कौन आपके अधिक निकट रही है।

उत्तर—'कट्टो' रही है। 'सुनीता' से मेरे जीवन का सबध नहीं—वह बुद्धि से, कल्पना के आधार पर, खडी की गई है। 'कट्टो' से आप-बीती का हल्का-सा सम्बन्ध है। 'कट्टो' मेरे जीवन के निकट रही है।

प्रश्न—अज्ञेयजी का कहना है कि हम आज भी उपन्यास-साहित्य मे प्रेमचन्द से आगे नही बढ़े है। इस गत्यवरोध के लिए आप अपने को भी उत्तरदायी मानते है या नही ? यदि नही, तो आपने हमारे उपन्यास-साहित्य की प्रगति में क्या योग दिया है ?

उत्तर—ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द से खास आगे नही बढा गया है। हा, मै जिम्मेदार हूँ। मुझे लिखना चाहिए था, पर लिख नही सका। किन्तु एक आदमी के लिखने न लिखने से गत्यवरोध हो जायगा ? यदि मुझे यह विश्वास आप दे दे कि पटना एक हजार कापी खरीद लेगा तो एक महीने में एक उपन्यास लिख दूँ। गति-अवरोध के लिए कोई एक आदमी जिम्मेदार नही। भगवान की इच्छा ही कभी लिखा लेगी।

प्रश्न—कल आपने कला और सस्कृति पर भाषण करते हुए बहुत-से

अगरेजी शब्दो का प्रयोग किया था। हिन्दी मे अगरेजी शब्दो के प्रयोग पर आपके क्या विचार है ?

उत्तर—हमे यदि बाते सुननी और समझनी है तो उसमे अगरेजी शब्दो का आना बहुत घबराने या शर्मिन्दा होने की बात नही है। यदि मै कह गया और आपको समझने मे सुविधा हो गई तो यह अच्छी ही बात है। आप मुझसे हिन्दी-भाषा चाहते है या मेरी बात ? यदि भाषा चाहते है तो वही सही। वह भाषा तब पुस्तकीय भाषा होगी। शायद शुद्ध पर बेजान।

प्रश्न—आप अपने पात्रो मे किसे सर्वाधिक पसन्द करते है ?

उत्तर—एक को पसन्द कर कोई कारण नही कि दूसरे को पसन्द न करू। सौन्दर्य एक जगह केन्द्रीभूत नही। वह सदैव बिखरा होता है। मेरे सामने जब जो पात्र चले आते है, वही मुझे सुन्दर लगने लगते है। और जो पात्र आएँगे, मै उन्हे भी पसन्द करने को तैयार हूँ।

प्रश्न—कलागत सत्य और जीवन के सत्य मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—कला वही है जहाँ जीवन का सत्य इस रूप मे बध आए कि रग मे, चित्र मे, आकर भी गति और स्पन्दन से हीन न हो जाय। चित्र देखकर हमारे हृदय मे ऐसी भावना होनी चाहिए कि उसमे और कुछ है। जब स्वाद मे रस आता है तभी वह रस देता है। सत्य जड न बने तभी कलागत सत्य है। स्थिर दीखकर भी कलागत सत्य स्थिर नही होता।

प्रश्न—आपके चरित्र अस्पष्ट और रहस्यात्मक होते है। क्या ऐसा आप जान-बूझकर करते है ?

उत्तर—'जान-बूझकर' शब्द बडा बेढब है। सूझ-बूझ तो रहती है, पर किसी सिद्धान्त को पकडकर मै ऐसा नही करता हूँ। बीस वर्ष मेरी शादी हुए हो चुके, पर मै अपनी पत्नी को नही समझ सका हूँ। जहाँ रहस्य समाप्त हो गया, वहाँ तो कुछ रहा ही नही। ऐसा पात्र ही क्या जिसमे कुछ रहस्य बचे नही। बिना रहस्य के तो आदमी छूछा हो

जाता है। कुछ सजीव है, इसलिए कि कुछ रहस्य है। कुछ है, जो पकड में नही आता। रहस्य तो जीवन का मर्म ही है। वह बँधे तो कैसे ? प्रयत्न करने से वह और रहस्यात्मक हो जाता है।

प्रश्न—हिन्दी-साहित्य पर मार्क्सवाद का प्रभाव और उसका परिणाम ?

उत्तर—प्रभाव काफी, पर अनिष्टकर।

प्रश्न—कला में श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न और आपका विचार ?

उत्तर—श्लील और अश्लील का सम्बन्ध वाक्य से नही, वृत्ति से है। जहाँ छल है, वही अश्लीलता है। कपट के बिना कुछ भी अश्लील नही है। यदि कोई स्त्री कपडे पहनती है और कपडे ही कहें कि मेरी नग्नता की कल्पना तो करो, तो वह अश्लील है। ऐसे आवरण स्वय अश्लील बन सकते है। जहाँ वस्त्र नही है वहाँ अश्लीलता जरूरी हो सो नहीं। जहाँ हमारा सम्बन्ध सघन सहानुभूति का है, वहाँ अश्लीलता रह ही नही जाती। वेदना प्रधान है जहाँ वहाँ अश्लीलता है ही नही। 'खलील जिब्रान' के चित्र सब-के-सब नग्न हैं, किन्तु वहाँ अश्लीलता की बात ही नही उठ सकती। वहाँ उसका सम्बन्ध शरीर से नही, आत्मिकता से है।

प्रश्न—कलाकार का सामाजिक उत्तरदायित्व ?

उत्तर—अपने माध्यम मे है। दूसरे मनुष्य की भावना मे उतरकर ही वह समाज की सेवा कर सकता है। समाज को सीधा ऐसा या वैसा करने का काम उसके दायित्व से सम्बन्ध नही रखता। वह समाज का परिष्कार भावना के माध्यम से ही कर सकता है।

प्रश्न—"कला कितनी भी हवाई हो, परन्तु वह भौतिक दाना-पानी के बिना नही जीवित रह सकती।" क्या आप सहमत है ?

उत्तर—सहमत नही हूँ। मै रोटी खाता हूँ, पर कला को कौर लेते कभी

देखा नही। तो कला तो बिना दाना-पानी के ही रहती है। कलाकार दाना-पानी चाहता है। वह पचकर जब रस बन जाता है, तभी कला निकलती है। सीधा सम्बन्ध उनमें देखने का आग्रह ठीक नही।

प्रश्न—साहित्यिक रचना के समय आप व्यक्ति को केन्द्र मानते हैं या समाज को ?

उत्तर—साहित्य-रचना में—इस भगवान की दुनिया में—केन्द्र नाम की कोई चीज नही। आदमी अपने को खो दे—केन्द्र को नष्ट कर दे—शून्य कर दे, यही साहित्य-रचना है। आदमी अपने को खो दे, इस लाचारी में उसे लिखना पडता है। अपने को केन्द्र मानने से ही परेशानी होती है। मै हूँ—यही मेरे दु ख का कारण है। मै अपने दु.ख को बाँट चलूँ—इसी में लिखना आता है।

प्रश्न—साहित्य मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये उपन्यासो के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?

उत्तर—उसका परिणाम अनिष्टकर है।

प्रश्न—आपने अपने जीवन मे बडे-बडे राजनीतिक आन्दोलन देखे हैं, किन्तु आपकी रचनाओ मे इनका प्रयोग नगण्य है। क्यो ?

उत्तर—पटना मे आन्दोलन हुए तो हुए, किताब मे क्या जरूरत है ? देश में राजनीतिक आन्दोलन होने से किताब में उनका होना जरूरी नही। बाह्य आन्दोलन यदि रचना में ज्यो-के-त्यो उतरें तो उस रचना को मैं निकृष्ट समझूँगा। मै अवतारणा व्यक्तियो की करता हूँ। व्यक्ति तो सुख-दुख के द्वारा ही कुछ करेगा। बीस हजार का आन्दोलन तो 'बैकग्राउण्ड' (पृष्ठभूमि) बन जायगा। पुस्तक में ज्यों-का-त्यो आन्दोलन का आना मुझे अनिवार्य नही मालूम पडता है। सन् ३०-३२ के आन्दोलन हुए तो मैंने अपने को जेल में पाया। मैं उस आन्दोलन को पुस्तक में कैसे लाऊँ—समझ में नही आता।

प्रश्न—क्या उपन्यास के क्षेत्र मे हम प्रेमचन्द-युग को पार कर गए है ?

उत्तर—चीजो को काटकर देखना तो ठीक नही। यह तो गणित का ढग है। चेतना की सडक मीलो में नही नपती। एक आदमी उस चेतना में ऐसा अवगाहन करता है कि वह युगो को पार कर जाता है, वर्षों को लाँघ जाता है। वह बँधता नही। काल और अवकाश (स्पेस) की भाषा में हम उसे समझने की चेष्टा कर सकते है—उसे जडित करना ठीक नही। प्रेमचन्द की वृत्ति लेकर लिखने वाले बाद भी आएँगे। उनसे भिन्न वृत्ति वाले उस समय भी थे। प्रेमचन्द और प्रसाद साथ-साथ पार्क में घूमा करते थे। तो क्या वे दो युग के थे ? पर क्या वे एक ही तरह के लेखक थे ?

प्रश्न—क्या 'त्यागपत्र' की 'मृणाल' का, जो एक सुसस्कृत उच्च परिवार मे पल चुकी है, सम्बन्ध एक कोयले वाले से जोड़कर आप स्वाभाविकता से दूर नही जा पडे है ?

उत्तर—स्वाभाविकता क्या ऐसी चीज है जिसकी सीमाओ का कुछ पता हो ? स्वाभाविकता नाम की चीज की सीमाएँ ज्ञात नही। हमारी कल्पना जहाँ तक जाती है, सत्य उससे भी आगे जाता है। उपन्यास स्वाभाविक बनने के लिए नही है, वह तो एक प्रभाव पैदा करने के लिए होता है, जिसकी रचना इसलिए स्वाभाविक बनाई जाती है कि वह आपके मन पर थोडी देर के लिए उतर जाय।

प्रश्न—क्या आप बतला सकते है कि सास्कृतिक आन्दोलन के क्षेत्र में सफलता क्यो नही मिल रही है ?

उत्तर—वजह है मानसिक मनोरजन से आगे वह चीज बढ नही पाई है।

प्रश्न—कुछ लोगो का कहना है कि प्रगतिवाद के बाद आप कोई नया 'वाद' चलाएँगे। क्या यह सच है ?

उत्तर—तो आगे फिर कोई-न-कोई 'वाद' खडा हो जायगा—

सर्वोदयवाद हो या गाधीवाद । 'वाद' चलेगा, फिर खतम हो जायगा । चलना जीवन की गति है । वह गति कुछ 'वाद' के कारण नही होती । मै नही चाहता कि 'वाद' चले । 'वाद' कोई अच्छी चीज नही ।

प्रश्न—छायावाद की उत्पत्ति क्यो, कब और कैसे हुई ?

उत्तर—मेरे पास कोई जन्मपत्री नही है ।

प्रश्न—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान-योग क्या ईश्वर प्राप्ति के तीन विभिन्न साधन है ? अथवा, तीनो एक ही साधन के तीन सोपान है ?

उत्तर—मै अपनी भाषा में कहूँ तो यो कहूँगा कि सोपान भी एक के बाद दूसरे होते है, ये तो युगपत् है । ये एक ही चीज है । एक ही चीज के तीन पहलू है—कर्मेन्द्रियो से देखने पर कर्म, हृदय से देखने पर भक्ति और बुद्धि से देखने पर ज्ञान । कोई एक अकेला नही है । तीनो एक दूसरे के साथ अभिन्न है । भिन्न है वहाँ मुक्ति नही ।

प्रश्न—गोदान मे प्रेमचन्द का सदेश ?

उत्तर—आदमी के सकल्प और शुभवृत्ति मे 'होरी' डिगता नही है—वह अपने कर्म से मुख नही मोडता । कर्म करते-करते उसकी मृत्यु हो जाती है । 'कर्म' ही उसका सदेश है ।

प्रश्न—उपन्यासकला की दृष्टि से 'गोदान' को हम एक सफल उपन्यास कह सकते है या नहीं ? क्या हम 'होरी' को प्रेमचन्द का प्रधान पात्र कह सकते है ?

उत्तर—हाँ, कह सकते है 'गोदान' को सफल उपन्यास । उसके पात्रो से हमारा व्यक्तिगत सहानुभूति का सम्बन्ध हो जाता है । 'होरी' को भी अवश्य प्रधान पात्र कह सकते है ।

प्रश्न—कहा जाता है कि प्रत्येक लेखक अपने जीवन में एक ही रचना करता है । इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार है ?

उत्तर—मेरे पाँच बच्चे है, सो क्या बताऊँ आपको ?

—पटना कालेज के हिन्दी-साहित्य परिषद में प्रश्नोत्तर

: ५७ :

अश्लील और अश्लीलता

('जीवन-साहित्य' के सम्पादक के नाम)

प्रिय सम्पादक जी,

आपने चिट्ठी का सिलसिला मेरे सिर बाँध ही दिया। चलिये अच्छा हुआ। ऐसे खुद मुझे अपने को समझने में मदद मिल जायगी।

मार्च-अङ्क में मशरूवाला जी का 'अश्लीलता' पर लेख पढ़ा। मैं तो भुगता प्राणी हूँ। अब भी सुन मिल जाता है कि मेरी अमुक रचना यों अश्लील है। स्तुति अनसुनी की जा सके पर त्रुटि-निर्देश पर अचेत कैसे रहा जा सकता है। चुनाचे अश्लीलता को समझने की लाचारी मेरे सामने कई बार आई है। परिणाम-स्वरूप मुझे सोचना पड़ गया है। पर सोच-विचार वह किसी किनारे आ लगा है, इसका संतोष मुझे नहीं है। मशरूवाला जी के वक्तव्य से भी मन भरा नहीं। और मैं अपना निवेदन सुना चलना चाहता हूँ।

शुरू आप-बीती से करूँ, क्योंकि जग-बीती को समझने की दूसरी कुंजी नहीं है। मुश्किल से बारह वर्ष उम्र का हूँगा कि एक पत्रिका के चित्र को लेकर मैंने अपना बुरा हाल कर लिया था। कहा जायगा कि चित्र सदोष रहा होगा। वह अश्लील होगा। पर वह चित्र अब भी जहाँ-तहाँ दीखता है, और विकार नहीं उपजता। न चित्र में कुछ दोष पकड़ मिलता है। इससे उचित मालूम होता है कि अपनी दुरवस्था का सारा पाप मैं उठाऊँ और उसका तनिक भी भाग निमित्त बनने वाले उस चित्र पर न टालूँ।

इससे मैं नतीजा निकालना चाहता हूँ कि अश्लीलता यदि है तो वस्तु में नहीं व्यक्ति में है। मेरे भीतर से जिस निमित्त को लेकर बुराई उभर

उठी है वह निमित्त तो उतना भर्त्सनीय नही जितना मै स्वय हूँ। बुराई को अपने भीतर न टटोल कर उसे वस्तु में आरोपित करू तो यह मेरे हक में हलकी बात होगी।

इस ढग से सोचने पर शायद अश्लील कही कुछ रह ही न जाय। मेरे लेखे ऐसा हो तो हर्ज नही। मेरा काम तब भी चल जायगा। पर सुधारक का काम तब कैसे चलेगा ? और सुधारक भी अभीष्ट तो है ही। उसके लिए अश्लील को अपने मे बाहर भी देखना लाजिमी है। मानो अश्लीलता का एक मापक बनाकर उसे समाज को देना होगा।

मशरूवाला जी का प्रयत्न इसी दिशा मे है। पर मुझे मालूम होता है कि भलाई की वृत्ति की भूमिका मे सचाई की दृष्टि चाहिए। अन्यथा भलाई की बुनियाद कच्ची होगी। और सच्चाई के लिहाज से शायद मशरूवाला जी के तर्क से आगे बढा जा सकता है। उस ढग से उनका माप मुझे अपर्याप्त और अयथार्थ दीखता है।

मशरूवाला जी ने फल मे परीक्षा बतलाई है। यानी जिससे कामोत्तेजना हो और वीर्यपात की सम्भावना बढे, वह उतना ही अश्लील है। (मशरूवाला जी का वीर्य-वमन शब्द-प्रयोग मुझे अवैज्ञानिक, इसलिये तत्व-विचार की दृष्टि से गलत मालूम होता है। शायद वह स्वय अश्लील है क्योकि घोर अरुचि-बोधक है।)

ऊपर जो मैने अपने बचपन की बात कही, उसमे अनिष्ट का दुहरा कारण है। एक चित्र, दूसरा मै। इन दोनो के मिलने से जो अनिष्ट फल हुआ, उस पर से चित्र के सम्बन्ध में मुझे अनधिकारी और मेरी अपेक्षा मे चित्र को वर्जनीय कहा जा सकता है। मेरी अपेक्षा के अभाव में, अर्थात् अपने आप में, चित्र को अश्लील नही कहा जा सकता।

इस बात को और साफ करने के लिए एक मित्र की मिसाल दूँ। वह गान्धी जी के परम भक्त है। उनकी आत्म-कथा उनके लिए एक धर्म-पुस्तक ही है। पर वह जब गान्धी जी के उस अनुताप-प्रसग पर

आते है जहाँ पिता मृत्यु-शैय्या पर है और गान्धी जी विषय-लिप्त, तो वह अपने बावजूद उत्तेजित हो रहते है। यहाँ तक कि वीर्य-रक्षरण तब उनके लिए दुःसाध्य हो जाता है।

इस फल को देखकर क्या नतीजा निकाल लिया जाय कि गान्धी जी की आत्म-कथा अश्लील है, अथवा वह प्रसंग ही अश्लील है ? मेरे लिए तो वह गहरे पश्चात्ताप की अश्रु-कथा है। फिर भी एक व्यक्ति है कि उसको पढ़कर विकार मे बेबस हो जाता है !

इससे यह तो परिणाम निश्चय-पूर्वक निकाला जा सकता है कि विषयोत्तेजना प्राप्त हो ऐसे सब सांनिध्य और स्पर्श से बचो। लेकिन वह स्थल अथवा वह वस्तु अश्लील है, यह ठहराना ठीक नही है। हेय-उपादेय जैसे शब्दों से ऐसी जगह मदद ली जा सकती है, क्योकि हेयोपादेयता वस्तु में नहीं है। रोगी खटाई से बचे, खटाई उसके लिये हेय है। पर खटाई इसी कारण अपने आप में निपिद्ध तो नही है।

फल द्वारा परीक्षा के नियम में बड़ी कठिनाई यह है कि किस व्यक्ति को औसत मनुष्य का प्रतिनिधि मानें ? हर चीज का हर आदमी पर जुदा असर देखा जाता है। क्या सामान्य नियम निकालने के लिए गणित का सहारा लेना होगा, और अधिकाँश आदमियों पर क्या असर पड़ता है इसको देखना होगा ? पर इसकी जाँच का भी कोई उपाय नहीं है, अन्त में जाकर यह काम अनुमान के सहारे ही किया जाता है।

पर एक उपाय है। वह यो कि गहराई में हर आदमी हर दूसरे का प्रतिनिधि है। आत्मा तो सब में एक है न। इसलिए वह उपाय यह है कि दोष वस्तु में न देखकर व्यक्ति में देखने की आदत डाली जाय। फल तो व्यक्ति-निर्भर है।

इस दृष्टि से सृष्टि में कुछ अश्लील नही है, यद्यपि सब-कुछ उसमें है।

एक युवक चिड़ियो और कबूतरो के जोड़ों को आसक्त भाव से

देखता रह जाता है। अब हम क्या कहें ? यह कहें कि चिडिया या कबूतर अश्लील है, इसलिए उन पर आँख बन्द रक्खो, या कपडे पहनाकर उन्हें सभ्य बनाना शुरू करो ? या यह कहे कि युवक अभी कच्चे ह, खुली प्रकृति की अपेक्षा अभी पुस्तक में उन्हें अधिक ध्यान रखना चाहिए ?

छुटपन में एक पुराण की कहानी सुनी थी। एक स्त्री का शव मरघट जाता है। वहाँ चार जन चार तरह की कल्पना करते और चार तरह की भावनाओ मे मग्न हो जाते है। यहाँ तक कि एक यह सोचकर कि यह स्त्री वेश्या ही न रही हो, कामान्ध बन जाता है। इस उदाहरण में स्खलन की उत्तेजना मिलने पर भी शव को अश्लील नही कहा जा सकता।

एक और दृष्टि से वीर्य-व्यय के साथ अश्लीलता का सम्बन्ध जोडना असगत है। पर-स्त्री के प्रति कुदृष्टि अश्लील है कि नही ? अवश्य अश्लील है। किन्तु क्या पितृत्व और मातृत्व भी अश्लील है ? कदापि नही।

मात्र कुदृष्टि में वीर्यपात का प्रश्न नही उठता। जब कि रजो-वीर्य सयोग बिना माता-पिता की कल्पना ही असम्भव है।

ऊपर से स्पष्ट है कि एक जगह वीर्य-व्यय है लेकिन अश्लीलता नही है। दूसरी जगह वह व्यय नही है, लेकिन अश्लीलता है।

नग्नता और आवरण से भी अश्लीलता के प्रश्न का सम्बन्ध नही है। मै कह सकता हूँ कि सम्भ्रान्त श्रेणी में पहिनी जाने वाली चटकीली साडियाँ और निमन्त्रण देते जम्पर-ब्लाउज़ अश्लील है और जगल में लकडी बीनती या घास छीलती नग्नप्राय एक भील युवती की मूर्ति मे अश्लीलता नहीं है। क्योकि एक तरफ कपडे बदन को ढक कर भी बदन को उघाडते नही तो उस पर आँख तो खीचते ही है। दूसरी ओर शरीर पर आवरण यद्यपि नही है पर उस शरीर का ध्यान भी नही है।

अर्थात् नग्न शरीर मे अश्लीलता नही है और पूरी तरह ढका हुआ शरीर भी अपने आप में अश्लीलता के दोष से बाहर नही है।

अब वे तत्त्व ले जिन्हे ग्राम्यता, फूहडपन कहा जाता है। उनके पीछे एक प्रकार की अरुचि और अशुचि भावना है। सुनते है कि जहाँ पर्दा बहुत सख्त है वहीं स्त्री के पैर की एडी खुली दीख जाय तो मन में कुण्ठा-सी पैदा हो जाती है। मानो स्त्री की ओर का यह फूहडपन है कि उसकी एडी दिखलाई दे गई।

आज जिस सभ्यता म साँस लेकर हम जी रहे है, मै मानता हूँ कि वह बहुत कृत्रिम है। आत्मा से उसका लगाव नही है, वह हठात् धन के प्रमाद में पैदा की हुई नाजुक ख्याली है। कहते है कि लखनऊ के नवाब की तरफ से कहलाया गया कि कम्पनी बहादुर उनके खत्म करने की फिक्र मे न पडे, बाहर के सहन से महतरानी गुजर जाय तो यही उनकी जान लेने को काफी होगा। इस नजाकत के नजदीक भला क्या चीज फूहडपन हो जायगी ?

कला और कुलीनता और शिष्टता के नाम पर बहुत-कुछ व्यर्थता आज पल और पुज रही है, पर वह निर्वीर्य है। जीवन का स्वरूप विकसेगा तो यह मानी गयी भद्रता, शुचिता और कला-पूजा झर जायगी।

काका एक बार किन्ही अतिशय कोमल रुचि की महिला की बात सुनाते थे। वह बहुत ऊँचे घराने की थी और वस्त्र की जरा भी असावधानी उन्हे बरदाश्त न थी। पिडली तो क्या किसी का टखना भी खुला दीखे तो उनका मन जाने कैसा हो जाता था। वही गान्धी जी से मिल कर आई तो बेहद खुश। पूछा गया कि गान्धी जी सिर्फ पछा पहन कर रहते है, सो ? पर उन्हे तो इस बात की सुध भी न थी। उन्हे यह मानने तक मे दिक्कत हुई कि गान्धी जी सचमुच उघाड़े बदन थे।

इस पर से प्रकट होगा कि ग्राम्यता कोई दोष नही है। बल्कि जबरदस्ती पैदा कर ली गयी नाजुक-मिजाजी उल्टे टूटनी ही चाहिये। अब भी तो ऐसे लोग है, स्त्रियाँ और भी अधिक है, जो मेहतर का नाम सुन ग्लानि अनुभव करने लगते है। गान्धी जी ने मैला खुद साफ किया है, अपने सब शिष्यो से कराया है, और बताया है कि वे अकृतज्ञ है जो अपना मैला साफ करने वाले के प्रति कृतज्ञता अनुभव नही करते, और जो उनको हीन मान कर अपने को श्रेष्ठ जानते है, वे तो पाप कमाते है। अर्थात् अहम्मन्यता, अहम्-सेवन की वृत्ति में से जो एक तहजीब-याफ्ता नजाकत खडी कर दी गयी है—वह असभ्य वस्तु है, और गिरनी चाहिये।

धन में, बुद्धि में, कुल में, और विद्या में श्रेष्ठ माने जाने वाली श्रेणियो मे इस तरह का छुआ-मछापन काफी देखने में आता है। ये श्रेणियाँ अश्लीलता के बारे मे भी जरूरत से ज्यादा चौकन्नी है। इसलिए नही कि उन्हे सयम की साधना प्रिय है, बल्कि इसलिए कि सत्य की साधना का उन्हें साहस नही है। और ऊपर की सफेदपोशी के सहारे भीतर के मैले अधियारे को सहने और सम्हाले रखने मे, उन्हें सुभीता होता है।

इस तरह जबकि मशरूवाला जी की कसौटी या दूसरी कसौटियाँ स्थूल होने से अपर्याप्त ठहरी, तब सवाल उठता है कि अश्लीलता का निदान कहाँ ढूँढना होगा ? मेरी धारणा है कि अश्लीलता छल के साथ है। जहाँ शरीर सम्बन्धी असत्य है, उसके वर्णन में, चित्रण में, संवार-व्यवहार मे, दर्शन-स्मरण में असत्य है, कपट है, वही अश्लीलता है। असत्य, छल और कपट शब्दो का इस सिलसिले में शायद मुझ से खुलासा माँगा जा सकता है।

शरीर-वर्णन जहाँ ध्यान को अपनी ओर अटकाने के लिए है या वर्णन करने वाले का ध्यान खुद शरीर मे अटक कर रह गया है, और इस तरह जहाँ समभाव और आत्मभाव का भग है, वहाँ अश्लीलता है।

किन्तु जहाँ शरीर-व्यापार द्वारा मनोवृत्ति को समझने-समझाने का अथवा उससे भी आगे बढकर उसके भीतर से आत्म-धर्म की शोध या प्रतिष्ठा का प्रयास है---वहाँ अश्लीलता नही है।

शरीर अपने आप में सत्य नही। भोग निमित्त होकर तो असत्य ही है। आत्मा को साधने का साधन होकर वही सत्य हो जाता है। उस दृष्टि से हम शरीर के कोने-कोने को छान सकते है, क्योकि कही भी मैल रहे गया तो मुक्ति असिद्ध होगी। इसी लिहाज से जितेन्द्रिय पुरुषो को शरीर के एव काम-विज्ञान के बारे में सही ज्ञान देकर समाज में स्वच्छता लाने का प्रयत्न करना होगा।

महान और अश्लील साहित्य के मूल में सचमुच थोडा ही भेद है। थोडा है पर गहरा है। वह भेद वृत्ति का है। महान साहित्य में से ढेर-के-ढेर ऐसे उदाहरण निकाले जा सकते है जिनमे अश्लीलता देखी और दिखलायी जा सके। पर उससे क्या ? रामायण महाभारत में क्या नही देखा-दिखाया गया ? क्या कुछ उनमें नही खोजा पाया जा सकता ? पर यह भी प्रत्यक्ष है कि लोग है जो उनसे आत्म-स्फूर्ति और धर्म-प्रेरणा प्राप्त करते है।

जो अश्लील है उसमें या तो दुबकाचोरी है या सीनाजोरी। वहाँ या तो चुनौती के साथ भोग पक्ष मे शरीर का निरकुश वर्णन होगा, नहीं तो शील के एक आडम्बर के नीचे लाग-लपेट के साथ वैसा कुतूहल पैदा करने की वृत्ति होगी। जहाँ आडे बाके सूचन है, जहाँ डाट्स से काम लिया गया है, जहाँ तीक्ष्ण,चाहे फिर वे भर्त्सना के ही हो, विशेषण काम में लाये गये है वहाँ अचूक अश्लीलता है।

एक भाई ने वेश्याओ पर किताब लिखी। उसमे उन्हे सख्त दुर्वचनो से याद किया था, करतूतें खोली और उनका खतरा दिखाया था। लेखक का कहना था कि वह समाज के शरीर पर से इस कोढ के

दाग को मिटाना चाहते है। पर वह जो हो, पुस्तक अश्लील थी। इसलिए नही कि वह वेश्या और उसके पेशे के बारे मे थी बल्कि इसलिए कि उसमें छल था। घृणा छल है। वेश्या को प्रेम कर सकते हो तो उस पर लिख भी सकते हो। पर उसके लिये बडी छाती चाहिये। तब उसके पाप तुम्हारे पाप होगे। पाप दिखाया जा सकता है, पर अपना पाप दिखाया जा सकता है। दूसरे का पाप जब तक तुम्हें अपने भीतर नही दीखे तब तक उस बारे मे लिखने के तुम अनधिकारी हो। वेश्या कही जाने वाली बहिनो के हृदय और आत्मा की अपेक्षा उनके निम्न समझे जाने वाले कर्मो को देखा और दिखलाया जायगा तो उससे मन में दुर्वचन के लिए जगह खाली नही रह जायगी, क्योकि वह मन सहानुभूति से भर आयगा।

इस से साफ है कि जहाँ चुनौती और सीनाजोरी है वहाँ भी मूल में छल ही है। कपट और दर्प दोनो एक रोग है।

मन का यह असत्य ही वस्तु में अनिष्टता पैदा करता है।

अश्लीलता को लेकर हम आतक में न पड़ें। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध से उसका कोई सम्बन्ध नही है। वैसे तो विवाह सस्कार, गृहस्थ धर्म, पितृऋण, मातृ-सेवा आदि सब शब्द झूठे पड जायेंगे। विवाह से वर कन्या पति-पत्नी बनतेहै। अर्थात् विवाह उन्हें परस्पर में भोग द्वारा सतति सृष्टि करने की अनुमति देता है। विवाह एक धार्मिक अनुष्ठान है। इसी तरह पितृत्व, मातृत्व आदि समाज को कायम रखने वाली पवित्र सस्थाए है।

अश्लील शब्द का प्रयोग उनके सम्बन्ध में एकदम असम्भव है। वहाँ वह शब्द ही अश्लील है। समाज की ओर से विहित एव विवाहित होने के कारण उनके परस्पर प्रजोत्पादन में सत्य का स्वीकार है और असत्य का परिहार है। इसी से वह सस्कार है।

असत्य के आधार पर नैतिक शिष्टाचार की बहुत ऊँची इमारत खडी की जा सकती है। पर नीव में घुन है इससे वह इमारत ढहने को ही खडी है। बड़े-बड़े ऋषिमुनियो के पतन की कहानियो का क्या भेद है ? वह यही असत्य।

अश्लीलता के कीटाणु सत्य की धूप से ही मरेंगे। आँखो से उन्हें लुकाने—छुपाने की नीति से वे अधेरा पाकर और भी बढ सकते है। बुराई अधेरे में फैलती है। हवा और धूप लगने से वह छू होती दीखती है। यह कहना क्या गगा को उलटा बहाना न हो जाएगा कि हवा और धूप में अश्लीलता को न आने दो, क्योकि इससे हवा खराब होगी और धूप मैली होगी ? महान् साहित्य में और धर्म में वह चीज यदि अनिवार्य रूप से है कि जिसको कहन वाले अश्लील कह दें, तो क्यो ? कारण कि समग्र और सम्पूर्ण में निषेध किसी का नही है। शरीर अपने प्रत्येक अवयव और जीवन अपनी सब प्रवृतियो को लेकर वहाँ स्वीकृत है। किसी को भी काट कर कम करने की जरूरत नही है। आत्मा की साधना में उनको नाश नही वश करना है। अर्थात् सधा शरीर ह्रस्व और हीन नही होता, केवल आत्मगत होता है। इसी से जहाँ शरीर-धर्म एकदम अनुपस्थित है वहाँ आत्मा की महत्ता भी असिद्ध है। महान् में क्षुद्र इसी कारण क्षुद्र नही रहता कि महत्ता के साथ वह समरस हो जाता है। महान् साहित्य महान् नही रहेगा अगर वह केवल नीका और भला रह जाएगा। अपूर्णताओ के मेल से पूर्णता बनेगी। उन्हे छोडते चलने से पूर्ण नही, शून्य हाथ रह जायगा।

पर यह सब कहने के बाद भी प्रश्न जो रह जाता है वह यह कि बच्चे के हाथ चाकू कैसे न पहुँचे ? चाकू गलत न हो, पर बच्चे के हाथ पडकर तो उसमें खतरा है।

सच पूछिये तो सवाल का रूप यही है। और इसका उपाय समझदार

लोग जहाँ जैसी स्थिति हो करे। ईश्वर की ओर से तो आदमी को बुद्धि मिल गयी है जो उसकी अनुकम्पा से परिमित भी है। अनन्तर ईश्वर ने उसके चारो ओर अपनी प्रकृति की खुली पुस्तक रख दी है। पुस्तक खुली है, हमारी अविद्या का ही बीच में पर्दा हो तो हो, स्वय उसपर अवगु ठन नही है। जीव-जन्तु, लता-वनस्पति अपने रहस्यो को लेकर हमारी आँखो के आगे लीला सम्पन्न कर रहे है। अर्थात् ईश्वर ने मनुष्य का विश्वास किया है कि दया की भी अधिकता नही की है। अपनी अनोखी करुणा में उसने मनुष्य को अवसर दिया है कि वह प्रकृति को देखकर चाहे तो अपने को उद्भ्रान्त भी बना ले। हाँ, ऐसे ही वह अपने को उत्तरोत्तर मुक्त भी बना सकता है। ईश्वर की ओर से मनुष्य को तो स्वराज्य ही है।

इसी तरह अश्लीलता के प्रश्न के बारे में मेरी धारणा है कि हवा और धूप खूब लगने देनी चाहिए। अश्लीलता बिचारी भला कहाँ धरी है वस्तु में ? और हो तो उसमें दम कितना है ?

बालक किशोर होता है और उसमें लाज समा जाती है। कन्या वय पाकर अपने आप ही में रोमांचित हो रहती है। वे दोनो बढते-बढते वर-वधू, पति-पत्नी, पिता-माता बनते है। यह सहज राह है। शकित निगाह से देखो तो यह बढती हुई अश्लीलता की राह दीख सकती है। पर अश्लीलता कोई हौआ न हो तो यही सहज जीवन की भी राह है।

असल चीज अश्लील को समझना नही, धर्म को समझना है। धर्म सबको धारण करता है। यहाँ तक कि धर्म की श्वास से भोग भी न्याय्य होता है। गाँधी जी के जीवन में धर्म का बीज ही तो था। उसको लेकर वह किशोरावस्था में किशोर, यौवन में युवा और गृहस्थी में गृहस्थ रहे, फिर भी उन सब दशाओ में से होकर बराबर मुक्ति की ही दिशा में बढते रहे।

और धर्म वृत्ति का प्रश्न है, वस्तु का वह थोडे ही है।

पर लीजिये यह जाने कहाँ किनारे से दूर मैं आ रहा। और कह गया इतना कि बिसात से बाहर। पर मशरूवालाजी मुझे गुरुतुल्य हैं और बालक को बहुत माफ होता है। यही ढाढस है। लेकिन आपके पत्र की जो इतनी जगह ली सो क्या आप भी माफ कर सकियेगा ?

: २ :

अश्लीलता पर कुछ व्यावहारिक सुझाव

('जीवन-साहित्य' के सम्पादक के नाम)

प्रिय सम्पादक जी,

इस बार मैं कुछ और लिखता पर मशरूवाला जी के 'सापेक्षवाद' ने मेरी कुछ कठिनाई मेरे सामने ला दी है। उसे लाँघकर बढना मुश्किल है।

जिन्दगी में दो चीजें है विचार और कर्म। असल में तो ये दो नही होनी चाहिएँ। उनमें पूर्वापर सम्बन्ध होना चाहिए। करना विचारने का फल होना चाहिए। पर प्राय. विचारक विचारते रहते है और कर्म-पक्ष उनमें मूर्च्छित हो रहता है और कर्मठ हैं जो विचार का कष्ट नही उठाते। दुनिया के लोगो में इनका सन्तुलन और ऐक्य विरल है। सबमें इनकी तरतमता ही मिलती है।

यहाँ एक बात साफ है। विचार व्यक्तिगत है, कर्म वैसा व्यक्तिगत नही रहता। कर्म पर बाहर की भी रोक-थाम है। विचार पर भीतरी रोक-थाम ही हो सकती है। कर्म परस्परता उत्पन्न करता है। प्रत्यक्ष हिसाब में आता है तो कर्म। विचार तो दीखता भी नही। विचार और भावना के यन्त्रोपकरण तभी तो भीतर अलक्ष्य रखे गये है। कर्म के उपकरण हमारे दीखनेवाले अगोपाग है।

इस पर से मै यह परिणाम निकालता हूँ कि केवल विचार और भावना की समस्याओ को लेकर अखबारी लिखा-पढी नही की जानी चाहिए। समस्या सामुदायिक यानी व्यवहार की होकर ही सार्वजनिक पत्रो द्वारा विचारणीय बनती है। अर्थात् किसी प्रश्न को शास्त्रीय रूप नही मिल जाना चाहिए। वह शास्त्रीय बना कि खोया भी गया। फिर वह विवाद के भँवर से छूट नही पाता।

कभी खयाल नही था कि अश्लीलता की चर्चा में मै पड़ूँगा। ऐसे प्रश्नो की चर्चा हो तो सकर्मक होनी चाहिए। यानी अश्लीलता को परिभाषा पहनाना नही, बल्कि उसका निराकरण करना हो, तभी चर्चा छिडे तो उसमें योग दिया जा सकता है। अश्लीलता की चुनौती यह नही है कि उसे जानो, वह तो यह है कि उसे जीतो।

मुझे अचरज हुआ था कि श्री मशरूवाला इस प्रश्न को विचार में नीचे उतारकर अमल की सतह से यह दूर क्यो खीच ले चले ? तथ्य पाने चला जायगा तो अश्लीलता तो एकदम अतथ्य वस्तु निकलेगी, और इस ढग से देखने पर वह वीर्य-व्यय के साथ नही बल्कि असत्य के, कपट के साथ जुडी हुई पायी जायगी। मै अब भी मानता हूँ कि देह से या वीर्य से उसका सम्बन्ध नही, मन के मैल से उसका सम्बन्ध है और हम भारी भूल करेंगे अगर देह से चिपटा हुआ उसे देखेगे।

न न, विचार में सापेक्षवाद को कोई मौका नही। दो और दो चार ही हो सकते है। न एक अश कम, न एक अश अधिक। चार के कितने भी आसपास हो, वह सख्या गलत ही कहलायेगी, दो और दो के योग-फल के रूप में एक और अकेला चार ही होगा जो सही उत्तर होगा। इस धरातल पर बाल-बराबर फर्क भी असह्य होना चाहिए। यहाँ का अपेक्षा-वाद विचार-शिथिलता का ही दूसरा नाम है।

अर्थात् पदार्थ-विवेचन और तत्त्व-निर्णय का जहाँ प्रश्न है वहाँ कोई दूसरी और अपेक्षा नहीं है। वहाँ बस मैं हूँ और मुझ पर प्रतिफलित

सत्यानुभति है। किन्तु यह व्यक्तिगत तल की बात है। सत्य को कोई चुका नही सकता। सबको सत्य की एक झाँकी ही प्राप्य है। आदमी को अधिक-से-अधिक इतना ही हक पहुँचता है कि वह अपनी झाँकी पर प्राण दे दे, पर उसे इन्कार न करे। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सत्य के प्रति व्यक्ति का सम्बन्ध उपासना, प्रार्थना और आराधना का ही हो सकता है। स्वानुभूत सत्यांश के आग्रह मे हाँ प्राण भी निछावर किये जा सकते हैं।

किन्तु उस व्यक्ति-धर्म के धरातल से उतरकर हमे प्राप्त होती है—अहिंसा। व्यवहार-धर्म वह है। कहना चाहिए कि सामाजिक मनुष्य का सत्य अहिंसा है। व्यक्तिगत भूमिका से अलग जब सामाजिक भूमिका पर किसी समस्या का विचार प्रस्तुत हो तो उसके लिये कसौटी अहिंसा हो सकती है, न कि सत्य।

इस ऊपर की बात पर ज्यादा ज़ोर भी कम है। यदि हम किसी विचार को कर्म में सफल करना चाहते है तो उसका मतलब यही है कि उस विचारणा द्वारा हम अहिंसा को सिद्ध करना चाहते है। यह व्यवहारोपयोगी विचार-प्रयोग की सीमा और शर्त है।

व्यवहारोपयोगी विचार शास्त्रीय और वैज्ञानिक विचार से भिन्न है। विज्ञान में और दर्शन आदि शास्त्रो में विचार स्वयम् अपना इष्ट हो सकता है। वहाँ कर्म द्वारा उसके समर्थन की अपेक्षा नही है। वह निरपेक्ष है। किन्तु व्यावहारिक विचार निरपेक्ष हो सकता ही नही है; न उसे होना चाहिए।

शास्त्रीय विचार में अपेक्षावाद नही चल सकता। वहाँ सापेक्षता का इस्तेमाल है भी तो, निषेध (elimination) के प्रयोजन से।

पर व्यवहार की तो शर्त ही अपेक्षावाद है। मै ही सच्चा हूँ, यह मानकर चलने से तो अगले कदम पर झगडा आ जायगा। इसलिए

मानना पडेगा कि वह भी सच्चा है और तुम भी सच्चे हो। सब अलग-अलग कहते है। पर सब अपने ढँग से ठीक भी कह सकते है।

श्लील-अश्लील का प्रश्न ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य का प्रश्न नही है। पहला सामाजिक है, दूसरा व्यक्तिगत। ब्रह्मचर्य की परिभाषा श्लीलता की परिभाषा नही हो सकती। ब्रह्मचर्य परम धर्म है। वह मुक्ति तक साथ है। श्लील-अश्लील की व्याप्ति थोडी है। सामाजिक से बाहर उस प्रश्न की स्थिति नही है।

लोक-मर्यादा और लोक-शिष्टता से अश्लीलता के प्रश्न का सीधा सम्बन्ध है। उसमे पारिवारिक शील की रक्षा का प्रश्न गर्भित है। हमको जानना चाहिए कि समाज परिवारो को लेकर बनता है और विवाह पर बनता है। परिवार मे माता-पिता और पुत्र-कन्या आदि होते है। स्पष्ट है कि परिवार को मिटाकर समाज नही बन सकता और विवाह को मिटाकर परिवार नही फल सकता।

ब्रह्मचर्य तो परम-धर्म है। उसका दायित्व ऐहिकता पर समाप्त है। नही ब्रह्मचर्य के खिलाफ यह दलील नही दी जा सकती कि उससे फिर समाज कैसे चलेगा! व्यक्ति को सामाजिक नही, वरन् उससे भी आगे समष्टिगत यानी सर्वात्मरूप बनाने की साधना ब्रह्मचर्य की है। इससे एक जगह जाकर ब्रह्मचर्य की परिणति जाहिरा असामाजिक भी दीखती है।

पर मै मानता हूँ कि श्लील-अश्लील को ब्रह्मचर्य के रूप मे देखना भूल से खाली नही होगा। अगर वीर्य-दमन को श्लीलता की कसौटी माना जायगा तो उससे व्यवहार सँभलेगा नही, बल्कि उल्टे गडबड मे पड़ जायगा। सास अपनी बहू को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे तो क्या हमें उसे अश्लील मानना होगा? मशरूवालाजी की बतायी कसौटी व्यवहार का नही काम देती और वह लोक-नेतृत्व की कुशलता में से नहीं

निकली हैं—यह मानने के कारण ही उस बारे में कुछ लिखना पडा था। वीर्य-रक्षण उपादेय है ही, पर लक्षण के रूप में और तो और वह ब्रह्मचर्य का लक्षण भी नही कहा जा सकता। उसको लक्षण मानने से लाभ से अधिक ब्रह्मचर्य की हानि ही हुई है। अश्लीलता के प्रसग मे तो वह एक दम असगत है ही।

पति-पत्नी स्वेच्छित भाव से भाई-बहन के तौर पर रहने लगें, तो मेरे लेखे यह अपने आप में सचमुच बहुत इष्ट बात हो। पर अश्लीलता के विरोधी को आवश्यक रूप से इसी का उपदेश करने में नहीं लग जाना होगा। एक सद्‌गृहस्थ अश्लीलता का विरोध कर सकता है, बल्कि सच पूछिए तो यह गृहस्थो का ही काम है। अश्लीलता कौटुम्बिक मर्यादा और शील की जडो को खाये जा रही है। कुटुम्ब की पवित्रता की रक्षा मे ही अश्लीलता की बाढ से लडना और भी अनिवार्य है। लेकिन अश्लीलता यदि वीर्य-व्यय आदि किसी स्थूलता से जोडी जायगी तो क्या हम यह नही देखते कि उससे तो फिर गार्हस्थ्य की नीव ही उखड जायगी। अरे, पिता को अपनी पुत्री के शील की चिन्ता इसीसे तो है कि वह पिता है। क्या अपनी कन्या के सम्बन्ध मे उसे हम याद दिलाना चाहेंगे कि वह पिता क्यो है? हम कृपया कोई ऐसी बात न करें कि मातृत्व को अपने ऊपर लज्जित होना पडे।

अश्लीलता से बचने की दिशा में पहली आवश्यकता यह बताना है कि अपने प्रति ईमानदार रहो। कोई पुस्तक पढते हो तो छिपाओ मत। दुष्कर्म कुछ बनता भी है तो झूठ मत बोलो। छिपो मत, चुराओ मत। दुर्गुण हैं, तो कृत्रिम साधुता की ओट उसे मत दो। विकार निर्बल पडेंगे तो ऐसे ही। अन्यथा मन को मैला और लँगोट को कसा रखने से कुछ न होगा।

सार्वजनिक रूप से अश्लीलता के प्रति अरुचि उत्पन्न करनी होगी; क्योकि वह तो पाप भी नही है, केवल गदगी है। साहित्य में की

अश्लीलता को दूर करना है तो साहित्यिको से बहस नही मोल लेनी होगी, बल्कि उन्ही से कहना होगा कि तुम जिसे गन्दा मानते हो, वही तो तुम्हारी उज्ज्वलता के विकास को रोक रहा है। साहित्य के कर्मियो को मौका देना होगा कि अपने क्षेत्र की गन्दगी को वे खुद ही दूर करें। उन्हे उनकी परिभाषा बनाकर नही देनी है, उन्हे स्वयम् अपनी परिभाषा बना लेने देना है। लोकनेतृत्व के लिए हम लोगो पर आरोप की भाँति नही आ सकते। वह काम हम स्वय उत्तरोत्तर उनके हृदय की वाणी बन कर सहज कर सकते है।

ऊपर अहिंसा का शब्द आ गया है। कट्टरता एक हिंसा है। और अहिंसक में अधिकाधिक स्थितियो की समाई है। अहिंसक सहानुभूति से कोई वचित नही हो सकता। जो पतित है अहिंसक उसके आगे उतना ही अनुतप्त है, क्योकि हरेक पतन उसे अपना दोष लगता और प्रभु-प्रार्थना में लीन करता है। कोई हमसे कटकर छूट जाता है तो वही मानो हमारी अहिंसा को चुनौती है। इससे यदि लोक-जीवन को सम्भालने के लिए चलना है तो उसपर ऊपर से कुछ डालना नही, बल्कि भीतर से ही कुछ उभारना होगा। नीति के सूत्र देने से अधिक नैतिक जाग जगाना इष्ट है।

मै सोचता हूँ कि इस स्थल पर यह विचारना अधिक उपयोगी होगा कि अश्लीलता के प्रतिकार के लिए किस सार्वजनिक उपाय का अवलम्बन किया जाय ? भारत की कोई केन्द्रीय साहित्य-सस्था काम करती हुई हमारे पास नही है। भारतीय-साहित्य-परिषद् जब थी, तब गाँधी जी की प्रेरणा से उस ओर दिशा-दर्शक एक प्रस्ताव भी स्वीकृत किया गया था। पर काका के शब्दो मे वह परिषद् तो सुला दी गयी। राष्ट्रभाषा की भी कोई हिन्दुस्तानी संस्था नही है। तब प्रयाग का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन है। क्या उसके द्वारा प्रयत्न किया जाय ? सोचना चाहिए कि अपने अगले अधिवेशन में क्या वह इस दिशा में कुछ दिशा-दर्शन दे सकता है ? दूसरे

लोग अपनी भाषा या अपने प्रभाव के क्षेत्र में क्या कर सकते है यह देखें। सम्पादक की हैसियत से आपसे विनय है कि विवेचन से हटकर व्यावहारिक रूप से हिन्दी के क्षेत्र में क्या और कैसे कुछ किया जा सकता है, इसपर कृपया ध्यान दें। और 'जीवन साहित्य' द्वारा अन्य हितैषियो से सुझाव मांगे।

इस आलोचन-विवेचन का यदि कोई अमली परिणाम निकल सका तो वह भी क्षम्य और सार्थक हो जायगा। नही तो इससे पहले कि विवाद तर्क-विलास का रूप ले, उसे समाप्त कर देना चाहिए।

: ५८ :

कला और जीवन

भाई माचवेजी,

पत्र मिला। • •

मेरे बारे मे यह बात आप जान ले कि किताबो में मेरी पहुँच कम है। इसलिए मेरा जवाब थोडा और सादा ही हो सकता है।

जीवन से कला को तोडकर मै नही देख पाता। सत्याभिमुख विशेषण मैंने लगाया है। अर्थात् जो हम है, वही हमारा जीवन नही है। जो होना चाहते है हमारा वास्तव जीवन तो वही है। जीवन एक अभिलाषा है। जब कला के सम्बन्ध मे 'जीवन' शब्द का उपयोग करता हूँ तब उसे आप उस चिर-अभिलाषा की परिभाषा में ही समझें। उस अर्थ में समझने से जीवन और कला का विरोध, या Parallelism उड जाता है।

क्या जो होना चाहते है, वही हम है ? क्या कभी भी वैसे हो सकेंगे ? स्पष्टत नही। किन्तु इसका क्या कभी भी यह मतलब है कि Aspiration व्यर्थ है ? यह मतलब करना तो सारी गति और चेष्टा को मिटा देना है।

आदर्श और व्यवहार में अन्तर है। वह अन्तर एक दृष्टि से अनन्त-काल तक रहेगा। उस दृष्टि से वह अनुल्लघनीय भी है। किन्तु इसी-लिए तो उस अन्तर को कम करना और भी अनिवार्य है। आदर्श अप्राप्य है, क्या इसी से उसके साथ एकाकारता पाने के दायित्व से हमारी मुक्ति हो जाती है ?

इसी से कला को 'कला' के ही क्षेत्र की वस्तु न मानने देकर उसे जीवन में उतारने की वस्तु कहते रहना होता है।

जो कला वास्तव से असम्बद्ध होकर ही जी सकती है, वास्तव के स्पर्श से जो सर्वथा छिन्न-भिन्न हो रहती है, मेरे निकट तो वह ह्रस्व प्राण है। मै उसे गिनती मे नही लाता। कला अपने भीतर भरी श्रद्धा की शक्ति से 'वास्तव' को सस्कृत करने के लिए है, उससे परास्त होने के लिए नही।

कला मात्र स्वप्न नही। वास्तव के भीतर रमी हुई वास्तविकता है। जैसे शरीर के भीतर रमी हुई आत्मा। वह अधिक वास्तव है।

जिस आदर्श क्षेत्र को हम कलात्मक चेतना से स्पर्श करते है, जिस स्वर्ग की हम इस प्रकार झाँकी पाते है और उसके आह्लाद को व्यक्त करते है, क्या उस स्वर्ग में अपने इस समग्र शरीर और शारीरिक जीवन के समेत पहुँचे बिना हम तृप्त हों ? तृप्त नही हुआ जा सकेगा। इसीसे तमाम जीवन के जोर से कला को पाना और वहाँ पहुँचना होगा।

Oscar Wilde को मैंने कुछ पढा है। मै उसे भटक गया हुआ व्यक्ति समझता हूँ। विचार की सुलझन उसकी विशेषता नही।

अपनी रचनाओ की विविधता पर मै अप्रसन्न नही हूँ। न उनमें कोई ऐसा विरोध देखता हूँ। हाँ, विविधता तो देखता ही हूँ।

और सबका विविध मूल्य भी आँकता हूँ। 'एक टाइप' और 'राज-पथिक' में स्थान-भेद और मूल्य-भेद तो है ही। पर मेरी अपेक्षा से तो दोनो में एक-सा ही सत्य है।

यह स्वीकार करना होगा कि मैं अपनी किन्ही रचनाओ में भाव-प्रवण अधिक हूँ, कही जीवन-समीक्षक विशेष। किन्तु कहानियो के साथ मै अपना सम्बन्ध चिन्तापूर्वक स्थिर नही करता हूँ और अपनी सभी रचनाओ को मैं प्रेम करना चाहता हूँ।

मै चाहता हूँ, छोटी और तुच्छ वस्तु मेरे लिए कही कुछ रहे ही नही। धूल के कन में भी मै उस परम प्रेमास्पद परम रहस्य को क्यो न

देख लेना चाहूँ जिसे 'परमात्मा' कहते है । और वह परमात्मा कहाँ नही है ? आज कीचड में ही उसे देखना होगा । यही आस्तिकता की कसौटी है । मूर्ति में तो अल्प श्रद्धावान् भी देख पाता है ।

कलाकार उसी अपरिमेय श्रद्धा का प्रार्थी है और तब कहाँ उसके हाथ Soiled हो सकते है । वह तो सब जगह अपूर्व महिमा के दर्शन कर और करा सकता है । यदि मै खाद की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ अपना मौलिक उपयोगी अनुभव लोगो को बता सकूँ तो यह मै साहित्यिक जैनेन्द्र के लिए कलक की बात नही समझूँगा, प्रत्युत श्रेय की बात ही समझूँगा ।

हम क्यो कला को छुई-मुई-सी वस्तु Hot House Product बनावे । वह शीशे में बन्द प्रदर्शन की वस्तु ही बनकर रहने वाली क्यो बने, वह क्यो न महाप्राणवान सर्वथा अरक्षित, खुली दुनिया में अपने ही बल पर प्रतिष्ठित बनी खडी हो ? मेरी कल्पना है कि ऊपर के वाक्यो में अपने प्रश्न के सम्बन्ध में मेरी स्थिति का कुछ आभास प्राप्त होगा ।

ता० २५–९–३५

..... मुझे अपने वाक्यो मे विरोध नही दीखता । अन्य विचारको के वाक्य जो आपने लिखे है, उनके साथ भी मेरी स्थिति का अविरोध बैठ सकता है । हम को मान लेना चाहिए कि जो शब्दो में आता है, सत्य उसके परे रह जाता है । उसकी ओर सकेत कर सकें, यही बस है। वह भला कही परिभाषा में बँधने वाला है ! इससे लोगो के भिन्न-भिन्न वक्तव्यों का भाव लेना चाहिए । मै जिसे 'सत्य' शब्द से बूझता हूँ, उसमें तो सत्ता-मात्र समाई है । जगत् का झूठ-सच सब उसमें है । 'वास्तव' से मेरा अभिप्राय लौकिक सत्य से है जिसको भरने के लिए सदा ही 'असत्य' की आवश्यकता होती है । जीवन में तो द्वन्द्व है ही

किन्तु लक्ष्य तो निर्द्वन्द्वता है। जीवन विकासशील है। क्या कला जीवन से अनपेक्ष्य ही रह सके ? ऐसी कला तो दंभ को पोषण दे सकती है।

ता० २१-११-३५

मैं लिखना न छोड़ूँ, हो जो हो,—यह आप कहते हैं। आप ठीक हैं। लेकिन मैं अपने लिखने को वैसा महत्त्व नहीं दे पाता। मैं नहीं लिखता, इससे साहित्य की क्षति होती है, यह चिन्ता मुझे लगाये भी नहीं लगती। जब मुझ में वह भाव नहीं है, तब उसे ओढ़ूँ क्यों ? मैं उसे अपने ऊपर ओढ़कर बैठना नहीं चाहता। साहित्यिक विशिष्ट व्यक्ति मैं अपने को एक क्षण के लिये भी नहीं समझना चाहता। ऐसा समझना अनिष्ट है। ऐसी समझ, मैं देख रहा हूँ, बहुत अंश में आज हिन्दी के साहित्य को हीन बनाये हुए है।

मानो जो साहित्यिक है उसे कम आदमी होने का अधिकार हो जाता है, अथवा कि वह उसी कारण अधिक आदमी है ? इसलिए मैं उस तरह की बात को अपने भीतर प्रश्रय देना नहीं चाहता। पर, मैं देखता हूँ, मुझे अपने ही कारण लिखना नहीं छोड़ना है। क्योंकि जब साहित्य का जिम्मा मेरे ऊपर नहीं है तब मेरी अपनी मुक्ति तो मेरा अपना ही काम है। और कब आत्म-व्यक्तीकरण मुक्ति की राह में नहीं है ?

ता० ३१-८-३६

'राम-कथा' जैसी चीजें मैं लिखना विचारता हूँ। लेकिन देखता हूँ कि मेरी राह जैसी चाहिए खुली नहीं है। मैं सोचा करता हूँ कि जब मेरे साथ यह हाल है, तब नवीन लेखकों की कठिनाइयों का तो क्या पूछना। मैं तो अब पुराना, स्वीकृत भी हो चला हूँ। जो नये हैं, उनके हाथों नवीनता तो और भी कठिनाई से वे लोग स्वीकार करेंगे।

कठिनाइयाँ जीवन का Salt हैं पर उनको लेकर व्यक्ति में Complexes पैदा होने लगते हैं। वही गड़बड़ है। उनसे बचना।

अब तुम्हारे सवाल, जो कभी शान्त न होगे। सवाल है ही इसलिए नही कि वह शान्त होकर सो जाय। वह सिर्फ इसलिए है कि अगले सवाल को जन्म दे। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। वह दभी नही तो मूढ है जो जताता है कि उसका प्रश्न हल हो गया। वह मुक्तावस्था है और मुक्तावस्था आदर्श है, अर्थात् वह एक ही साथ तर्क का आदि है और अन्त है। तर्क के मध्य मे, और जीवन के मध्य में, आदर्श-स्थिति का स्थान नही समझना चाहिए। इसलिए सवाल का समाधान नही है, मात्र परिणति है। बाहर से उसका मुख भीतर की ओर फेरने से ऐसा परिणमन सहल होता है। इसलिए यह जो सिद्धान्त रूप से मान लो कि सवाल को फिर भीतर की ओर मुडना होगा और हरेक उत्तर अपने आप में स्वय अन्तत प्रश्नापेक्षी हो रहेगा। प्रश्नोत्तर द्वारा वस्तुत हम परस्पर को ही पावें, अधिक की अपेक्षा न रक्खें।

कला हेतु-प्रधान होती है कि हेतु-शून्य ?

मै कहूँगा कि कलाकार अपने मे देखे तो कला हेतु-प्रधान क्यो, हेतुमय होती है। कलाकृति के मूल में मात्र न रहकर उसका हेतु तो उस कृति के शरीर के साथ अभिन्न रहता है। वह अणु-अणु में व्याप्त है। कलाकार की दृष्टि से कभी कला हेतु-हीन (अर्थात्, नियम-हीन, प्रभाव-हीन) हो सकती है ? और वह तो हेतु-प्राण है।

कलाकार के अस्तित्व का हेतु ही उसकी कला में ध्वनित, चित्रित होता है।

लेकिन बाहर की दृष्टि से मै उसे सहेतुक कैसे मानूँ ? इस भाँति उसे सहेतुक मानना कलाकृति और कलाकार के बीच में खाई खोदना जैसा है। मनुष्य और उसका धधा ये दो हो सकते हैं। पर मनुष्य और उसकी मनुष्यता (यानी, उसकी भावनाएँ) दो नही है। उसका व्यवसाय मनुष्य के साथ प्रयोजन-जन्य, मनुष्यता उसके साथ प्रकृतिगत है।

जहाँ मानव अपनी घनिष्ठता मे अपनी निजता मे, प्रकाशित है, वहाँ उतनी ही कला है। जहाँ अपने से अलग रक्खे हुए हेतुओ की राह से वह चलता है, और हेतुओ के निर्देश पर रचता है, वहाँ उतनी ही कम कला है।

कला मे आत्म-दान है।

आत्म-दान सबसे बडा धर्म है, सबसे बडी नीति है, सबसे बडा उपकार है, और सबसे बडा सुधार है। अत कला सुधार, उपकार, नीति और धर्म, सबसे अविरुद्ध है और सबसे अपरिबद्ध है। इस प्रकार कला सत्य की साधना का रूप है। वह परमश्रेय है।

कला तो निश्रेयस की साधिका ही है। जहाँ ऐसा नही है वहाँ वह भ्रान्त है। यह कहिए कि वहाँ कला ही नही है।

बात यह है कि मानव का ज्ञान अपने सम्बन्ध मे बेहद अधूरा है। वह अपनी ही भीतरी प्रेरणाओ को नही जानता। यह सही नही है कि वह प्रयोजन को ही सामने रखकर चलता या चल सकता है। हेतु उसके भीतर सश्लिष्ट है, inherent है। जिसको अह विकृतज्ञान में हेतु मान उठता है, उसके प्रति वह सकाम होता है। वह, इस तरह हेतु होता ही नही। मनमानी लोगो की गरज उनके जीवनो की वास्तव हेतु नहीं है। इस दृष्टि से हेतुवाद एक बडा भारी मायाजाल है। जो जितना महत्पुरुष है वह उतनी ही दृढता और स्पष्टता से जानता है कि व्यक्तिगत कारण से कोई बडा ही कारण उसे चला रहा है। इतिहास के सब महापुरुष इसके साक्षी हैं। और मै कहता हूँ कि इस व्यक्तिगत हेतु की भावना से ऊपर उठने पर ही सच्चे जीवन का आरम्भ और सच्ची कला का सृजन होता है। हेतुवादी वह ससारी है जो साँसारिकता से ऊँचा उठना नही चाहता।

(और तुम पूछते हो कि) अगर कला Self-expression ही है तो फिर मैं तो आज कला को Self-expression की परिभाषा में

ही समझने की इजाज़त देना चाहता हूँ। यद्यपि इसमे (समझने मे) खतरा है, फिर भी उसी प्रकार की परिभाषा यथार्थता के अधिक निकट और अतत अधिक उपयोगी है।

पर, फिर भी वह तनिक भी उच्छृ खल नही और अधिक से अधिक दायित्वशील है। वह इसलिए कि जो हमारा भीतरी Self असली Self है वह बाहरी जगत के साथ अभेदात्मक है। हम असल में विश्व के साथ एकात्म है। जितना अपने को पाएँगे उतना ही, अनिवार्य और सहज रूप में, विश्व को पाएँगे। इसलिए प्रत्येक Self-expression, अगर वह अपने साथ सच्चा और जागरूक है तो प्रेमात्मक ही हो सकता है, विद्वेषात्मक तो हो सकता ही नही। साधना में जो आत्म-वचना कर जाता है उसकी बात तो मै करूँ क्या,—पर साधक व्यक्ति का Self-expression कभी अहितकर नही हो सकता। आर्टिस्ट साधक है। असल में साधक अनुभव करता है कि वासनाओ में उसका सच्चा 'स्व' ही नही है और वह वासना-रस को अनायास छोडता चलता है। वह अतिसहज भाव से दायित्वशीलता की ओर बढता है और साथ ही विनम्रता की ओर बढता है। इस भाँति साधक आर्टिस्ट के लिए जरूरी हो जाता है कि बाहर की कसौटी पर अपनी साधना को कसता भी रहे—कि वह उच्छृ खल, अविनयशील अहमन्य तो नही हो रहा है। रोग की जड अहमन्यता है और आर्टिस्ट अहमन्यता का खोखलापन आरम्भ से ही देखता है।

कला बुद्धि-प्रधान हो कि भावप्रधान ?

बला से, कुछ भी हो। व्यक्तित्व में बुद्धि का खाना कहाँ है और भाव का कहाँ ? और जहाँ अपनी आत्मा का ही दान है वहाँ बुद्धि अथवा भाव को बच निकलने की जगह कहाँ है ?

और इन प्रश्नों को लेकर क्या कहूँ ? कितना भी कहते जाओ

तत्त्व उतना ही महन रहता है। सत्य की पुकार तो है कि आदमी सब नाते, सब बन्धन, तोड छूट पडे।—तब कुछ समझ मिले तो मिल भी सकती है।-अन्यथा सब वृथा है।

अपनी जिन्दगी के बारे में क्या कहूँ? क्या कुछ उसमे कहने लायक है? अभी तो मुझे कुछ पता नही। .

मैथिलीशरण जी को मै क्या मानता हूँ? हिन्दी कवियो में आज मै समझो उन्ही को मान पाता हूँ। श्रद्धा के नाते उन्हे ही, समझ के नाते यो औरो को भी मान लेता हूँ।

१९—९—३६

······प्रोफेसरो का अविश्वास मै समझ सकता हूँ। पर दिल से अहकार निकाल डालने का तरीका ही यह है कि उसे हथेली पर ले लिया जाय। जिसे निन्दा से डरना नही है, वह प्रशसा से डरे? जो अपवाद पर झल्लाते है, वे ही पर्याप्त से अधिक सकुचित हो सकते है। पर वे दोनो एक रोग है—नीति और लालसा।··

···जिसके प्रति मन में प्रशसा न हो उसके प्रति Conscious झुकाव रखना सच्ची नीति है। 'नीति' का मतलब पालिसी नही, कर्त्तव्य भी मै लेता हूँ। क्योकि आखिर तो आलोचना की जड में अज्ञान ही है। इसी से जवाहरलाल जी की आलोचना वैसी लिखी गई जैसी लिखी गई।···

···शरद समाज के प्रति निर्मम है, पर व्यक्ति के प्रति निर्मम क्यो न हुआ जा सके? सच्ची निर्ममता मै तो उसे जानू जो समाज के लिए व्यक्ति को तजे, समाज को ज्ञान के लिए, ज्ञान को तथ्य के लिए, और इस प्रकार अपने सब-कुछ को अखण्ड-सत्य के लिए। "अश्रुमती गौतम" क्यो भाई? सीधी बात है कि भाई इस से भाई।

उसमें tendency मेरे मन की है। लेकिन एक बात है। आत्म-

त्याग एक वस्तु है, आत्म-त्याग की भावना बिलकुल दूसरी वस्तु। जहाँ यह भावना प्रधान है वहाँ आदर्श-'वाद' है। और ध्यान रखना चाहिए, स्वय आदर्श-'वाद' भी और वादो की तरह थोथा होता है। 'वाद' नही चाहिए, स्वय आदर्श चाहिए। आत्मत्याग का एक Doctrine एक Dogma बनाकर व्यक्ति सचमुच स्वार्थी होने में मदद पाता है। तुम्हारी 'अश्रुमती गौतम' मुझे प्रतीत होता है, आदर्श की अपनी 'धारणा' से चिपटी रही। आदर्श को ही पकडती तो उससे चिपट नही पाती। क्योकि आदर्श, जितने बढते हो, उतना ही स्वय बढता जाता है। इसलिए आदर्श की ओर यात्रा करने वाला व्यक्ति सदा मुक्त रहता है, उसका स्वभाव खुलता ही जाता है। जबकि आदर्श-'वादी' व्यक्ति अपने 'स्व' के घेरे को और मजबूत ही बनाता है। पर जैसे 'अ-रूप' की आराधना नही होती, आराधना स्वय अ-रूप को स्वरूप दे देती है, वैसे ही जाने-अनजाने बुद्धि वादानुगामिनी होती है। और अश्रुमती, मुझे बहुत खुशी है, किसी Doctrine की नही, एक idea (गौतम-idea) की अनुगामिनी है। idea सप्राण वस्तु है। इसकी रेखाएँ बँधी नही है इसी से।

: ५६ :

उपन्यास-लेखक में तप चाहिए

('साहित्य सन्देश' के सम्पादक के नाम)

प्रिय महेन्द्र जी,

आपके पत्र पर पत्र मिले। उपन्यास लिख गया हूँ, इससे उपन्यास के बारे में लिखने से आप मुझे माफ कर सकते थे। पर 'साहित्य-सन्देश' चलाने में माफी के आदी शायद आप नही होना चाहते है।

पर क्या लिखूँ ! मेरे बारे में पहली सच बात यह है कि लिखने के क्षेत्र में मेरा अनधिकार प्रवेश हुआ। राज-मार्ग से मै वहाँ नही पहुँचा। तैयारी नही थी, कुछ सीखा नही था, जाना नही था। ऐसी हालत में सन् १९२९ में 'परख' लिख गया। प्रश्न होगा, किन प्रेरणाओ स वह पुस्तक लिखी ? उत्तर में बाहरी परिस्थितियो की प्रेरणा तो यह कहिए कि मै खाली था और नही जानता था कि अपना और अपने समय का क्या बनाऊँ। दूसरी, जिसे भीतरी कहनी चाहिए, यह कि एक घटना का बोझ मन पर था जिससे दबा न रहूँ तो मुझे हलका ही रहना लाजिमी था। कह नही सकता कि पुस्तक मे जीवन की घटित घटना और मन की कल्पना के तारों का ताना-बाना किस तरह बैठा। पुस्तक घटना और कल्पना का कुछ ऐसा रासायनिक मिश्रण है कि उन दोना के किसी अणु को भी एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता।

खैर, पन्ने कुछ काले हुए और वे छप गए। तब आलोचको की जबानी मालूम हुआ कि मै तो उपन्यास लिख गया हूँ। लेकिन साफ है कि उस विषय की कला अथवा विज्ञान से मै एकदम कोरा था।

जैसा तब वैसा ही अब। उपन्यास कही जानेवाली रचनाएँ और भी मेरी दो-तीन हो गई है। पर हिसाब में आ सकने वाली जानकारी मेरी

उस सम्बन्ध मे नही बढी है। तभी तो एक अध्ययनशील मिलनेवाले ने जब हालमे मुझ से कहा कि 'कल्याणी' उपन्यास नही है, तो मुझे अचरज नही हुआ। क्योकि उपन्यास की परिभाषा की परिधि-रेखा ठीक कहाँ रुक जाती है, इसका मुझे ज्ञान नही है।

मेरी एक कमजोरी है। उससे मै तग हूँ। पर वह मुझ से छूटती नही है। मूर्ख जानना चाहता है और मेरे साथ मूर्खता लगी है कि मै जानना चाहता हूँ। मै जानता हूँ कि जाना जर्रे को भी नही जा सकता। अणु मे विश्व है और जानकार कब कोई किसी को चुका नका है ? इससे बुद्धिमान जानने से अधिक पाना चाहते है। पर पाने की मुझ मे शक्ति नही, इससे जानने को ललचता हूँ।

जीवन का सच्चा उपयोग जीना है। लेकिन जीने की सामर्थ्य नही, इससे उस जीने के अर्थ को, उसके नियम को, आदर्श को, उसकी नीति को समझ से पकड़ना चाहता हूँ। जीवन की राह का चलने से पता खुलता है। पर कुछ मूर्ख होते है, चाहे उन्हे अलग कह दीजिए, जो ठीक-ठीक चलने के द्वारा नही, अर्थात् प्राणो के द्वारा नही, बल्कि बुद्धि से, मीमासा से और कल्पना से उस जीवन को समझना चाहते है। लेखक शायद इसी दयनीय कोटि के जीव होते है।

मैने 'दयनीय' कहा, दूसरा 'गौरवशाली' भी कह सकता है। क्योकि जगत्-व्यवहार के बहुतेरे धन्धे जीवन को कल्पना से भी छूने की ओर नही बढते है। बल्कि वे तो जीवन से और उल्टी ओट लेते है। इस से उस विषय में नम्रता की अतिशयता मुझे नही करनी चाहिए।

ऊपर की मेरी धारणा से लेखन-कर्म की मर्यादा जो मै मानता हूँ, वह भी प्रकट हो जाती है। अर्थात् लेखक वह है जो सौ-फीसदी सच्चा आदमी नही है। वह दूसरो में अपने को पूरी तरह खो नही पाता। उसमें अह की गाठ रहती है। वह एकदम सेवक नही, कुछ स्वार्थी भी

होता है, पर मन उसका स्वार्थ में नही, प्रीति मे रहता है । इस तरह दूसरो के अर्थ जब वह अपनी समग्रता को विसर्जित नही पाता कर तब उनके लिए अपने मन को तो सहानुभूति से भरा रखने की कोशिश मे रहता ही है । यह द्वन्द्व उसकी वेदना है । इसीसे मुक्ति के प्रयास में वह लिखता है ।

दार्शनिक मीमासक है । वह व्यष्टि को लाघ सकता है । व्यवहार की ओर से आँख मीच सकता है । कर्म-जगत मे क्या हो रहा है, इससे विमुख रहकर उसी के अन्तिम कारण के अनुसन्धान में वह व्यस्त हो जा सकता है । सहानुभूति से उसे लगाव नही । उसे तटस्थता चाहिए । पर उपन्यासकार का काम इससे कठिन है । तटस्थता तो उसे भी चाहिए ही, पर सहानुभूति भी कम नही चाहिए और समष्टि को समझने के लिए व्यष्टि को अन-समझा वह नही छोड सकता । व्यवहार से दूर जाकर कही आत्म-सिद्धान्त पाने की उसे छूट नही । उसे व्यक्त और पदार्थ जीवन में अव्यक्त आत्म-सूत्र घटित हुआ देखना है । उसे कार्य-कारण की उस शृंखला को खोज निकालना है जो एक ओर इस कर्म-कर्दम से भरे ससार को तो दूसरी ओर शुद्ध-चिन्मय ईश तत्त्व को थामती और समन्वित रखती है ।

उपन्यासकार का क्या यो कुछ काम समझा जाता है, वह मै नही जानता । शायद समझा जाता हो कि वह समकालीन जीवन का नक्शा दे और इस तरह समाज का ज्ञान बढावे । अथवा कि समाज का सुधार करे । अथवा कि जनता का मनोरजन करे । अथवा कि उसके चारो ओर चलने वाले राष्ट्रीय, जातीय या बौद्धिक आदोलनो की पैरवी या आलोचना करे । गरीबो की गरीबी मिटा दे और अमीरो की अमीरी हरण करे । एक वर्ग को दूसरे वर्ग से विशिष्ट बने रहने में सहायता दे । वह जो हो, मेरे पास वह दृष्टि नही है, लाचार जो मेरे पास दृष्टि है,

मै उसीसे क्या उपन्यास, क्या साहित्य और क्या राजनीति, सब को देख सकता हूँ।

दुनिया मे बहुत-कुछ घटित हो रहा है। उसको घटना कहते है। वह क्यो घटित हो रहा है, शायद उसके कारण को भावना कह कर हम चीन्ह सकें। वही हाल बुद्धि कार्य के कारण की खोज चाहती है। आदमी मशीन नही है या मशीन है तो मन वाली मशीन है। उसके द्वारा होने वाले व्यक्ति-व्यापार का उसके मन की अव्यक्त भावना से सीधा सम्बन्ध है। जगत के मनोभाव ही जगत्-कर्म में प्रस्फुटित होते है। घटना इस तरह कार्य है, तो भावना कारण। उस कार्य-कारण की सूक्ष्म श्रृङ्खला को पकडना ज्ञान का लक्ष्य है। पूरी तरह तो वह समझ की पकड मे आ नही सकती। क्योकि अन्त में कार्य-कारण भेद ही भ्रान्ति है। इसी से कहना होता है कि सब का अन्तिम नियम और अन्तिम नियन्ता ईश्वर ही है, पर उस ईश्वर को दुरधिगम्य प्रतीति में रखते हुए भी उसे अधिकाधिक रहस्य से प्रकाश में और कल्पना से समझ मे लाने की आवश्यकता है। जाने-अनजाने मनुष्य का यही पुरुषार्थ है और युग-युग के भीतर वाणी द्वारा और कर्म द्वारा वह वही करता चला आ रहा है।

तो मै उपन्यास में यही टटोलता हूँ कि उसमे जगत्-व्यापार और मनोभाव के बीच कैसी घनिष्ठ और सही और गहरी कार्य-कारण श्रृङ्खला बैठाई गई है। दूसरे शब्दो में कहो तो सत्य का कितना गहरा अनुसन्धान वहाँ मिलता है। अन्तिम सत्य का जितना मार्मिक उद्घाटन जिस रचना द्वारा मुझे मिले, उतना ही उसके प्रति मै कृतज्ञ होता हूँ।

घटनात्मक वर्णन से अति पृथुल कोई रचना हो सकती है। उसमें बहुत चकरीला प्लॉट हो सकता है, सैकडो पात्र हो सकते है। वैचित्र्य इतना हो सकता है कि खूब। लेकिन मेरी सहानुभूति को उदार और समझदार बनने में उससे मुझे मदद न मिले तो आत्यन्तिक मनोरजन

के रहते भी उस रचना के प्रति उतना ऋणी-भाव मुझ से अनुभव न किया जायगा।

सत्यानुसन्धान की इस वृत्ति को लेखक में मैं पहले खोजता हूँ। ध्यान रहे कि यह दार्शनिक का सत्य नही है जो निस्पन्द हो सकता है। यह तो वह सजीव चिन्मय सत्य है जो हर स्त्री-पुरुष के हृदय में हर श्वास के साथ धडकता सुन पड सकता है। और मैं मानता हूँ कि इस वृत्ति के भीतर समाज, या राष्ट्र, या जाति, या विश्व, या गरीब, या अमीर सब के हित की बात आ जाती है। अलग से किसी और उपयोगिता को पकड रखने की जरूरत नही पडती।

मेरी मान्यता है कि हम चाहे अथवा न चाहे, प्रगति उसी ओर है। बाहरी घटती घटनाएँ यदि विचारणीय है तो इसीलिए कि वे कुछ भीतरी का प्रतीक है। भीतर की अपेक्षा में ही बाहर को समझा जा सकेगा। इसी तरह भीतर को बाहर से विरोधी बनाकर देखने की जरूरत नही है। मानव-जाति का साहित्य धीमे-धीमे, पर निश्चयपूर्वक उसी ओर बढ रहा है। उत्तम उपन्यास इसके प्रमाण है।

हाल में एक बन्धु का लेख देखा था। लेख हार्दिक था। उसमे था कि 'जोश' ही एक चीज है, मै मानता हूँ। पर कुछ दिन हुए बम्बई में चौपाटी के एक प्रभात की याद आती है, लहरे एक से एक टकराती आती और किनारे पर फूट कर जोर की आवाज के साथ फेन बखेर जाती थी। देर तक मै वहाँ बँधा खडा रहा, हटने को जी न होता था। सन्नाटा था और ऐसा मालूम होता था कि समुद्र भीतर कही सिसक रहा है।

अब बिचारी लहर को तो मैं जोशीला कह दूँ; पर उसके गर्जन को और उसके फेन को देखकर क्या समुद्र को भी मै जोशीला कह सकूँ? हाय, यह मुझ से न होगा। समुद्र जोशीला नहीं है, तभी तो लहरें अपने

जोश के साथ उसकी छाती पर खेलती रहती है। और जहाज चलते रहते है और बम्बई उसके तट पर बसा हुआ है। लहरो का जोश दर्शको के मन को प्रसन्न करता है, क्योकि दर्शक जानते है कि यह लहरें ही है और समुद्र दयाशील है। इन लहरो का लहरीपन भी समुद्र-मर्यादा के भीतर रहने वाला है। समुद्र जिस क्षरण मर्यादा छोडेगा, उस क्षरण प्रलय ही न आ जायगी। इससे यदि समुद्र की सतह पर लहर खेल भी रही है तो उसके गर्भ में तो अगाध अवसन्नता है, अगाध अवसन्नता।

यह नही कि जोश का कायल होने से मै बच सकता हूँ। पर ऐसा लगता है कि उस शब्द में ही ध्वनि है कि वह टिकाऊ नही है। जो टिका रहे, उसको भी क्या जोश कह सकते है? जैसे कि जो उतरता नही उसे नशा भी नही कह सकते। और टिकता है उस जोश का पुराना नाम है तप। उसको नया भी कर सकते है। उपन्यास-लेखक मे तप चाहिए। तप यानी कायम और ठण्ढा जोश। वह धूनी की आग वाला तप नही जो सस्ता हो गया है। पर वह तप जिसमें अपने अह को जलाना पडता है। भोग में उस तप को विरक्ति होगी। और उस विराग द्वारा ही योग की खोखली असलियत को तपस्वी पकड कर चित्रित कर देता है कि जिससे मालूम हो भोग सम्भोग नही है, वह तो सन्ताप है। व्यास ने किस जघन्य भोग को अपनी कलम से कीले बिना छोडा है, कारण कि वह ऋषि थे। ऋषि ही जघन्य जघन्यता को जान सकता, माप सकता है। जगत के वे सब श्रेष्ठ उपन्यासकार जिन्होने मानवता के हृदय को हिला दिया है, रुला दिया है; जिन्होने मनुष्य को अपनी बुराई अपने अन्दर देखने को लाचार किया है कि दूसरे की भलाई देख सके, वे सब ऋषि है। गेरुए कपडे के ऋषि नही, निर्वैयक्तिक जीवन आदर्शो में तिल-तिल अपने अहकार को तपाने वाले ऋषि।

मेरे लिखने की अन्तिम जाँच यही रहे। और क्या कहूँ! इस तरह

की हवाई बातो के अतिरिक्त उपन्यासो के सम्बन्ध में कोई काम की बात कहने का तो अधिकार मेरा नही है। अध्ययन न मेरा है, न शास्त्रीय।

: ६० :

हिन्दी-अंग्रेजी का भेद और सरक.

(‘आजकल’ के सम्पादक के नाम)

सपादक जी,

‘आजकल’ के जुलाई अक मे आपने मुझ जैनेन्द्र पर एक अपना नोट लिखा है। क्या उसे आपकी कृपा मानूँ ? मै सार्वजनिक नही हूँ, एकाकी हूँ। सार्वजनिक होने के लिए किताबे है, जो बिकती है । उनकी राह से इस समूचे मुझको सार्वजनिक बना देना क्यो आवश्यक है, यह समझ में नही आता। राजनीतिक लोगो को प्रभाव की आवश्यकता है। वे केवल भाव या अभाव में नही रह सकते। इसलिए उनकी तस्वीरे छपे तो यह उनके और सबके लिये मुनासिब है। नोट के साथ मेरी शकल की तस्वीर भी आपने छापी है। तस्वीर बुरी लगती है, सो नही पर उससे क्या फायदा ?

आपको यह पत्र मै इसलिए लिख रहा हूँ कि उस नोट में एक काम की बात भी आ गई है। वह है गिरस्ती की गाडी चलने की बात। सचमुच वह गाडी आज हिन्दुस्तान में नही चल रही है। बहुत-कुछ वह टूटी जा रही है। कुछ लोगो के पास यो गाडी क्या मोटर-कार तक है जो चलती नही, हमेशा ही भागती है, अर्थात् गिरस्ती एक मध्य-वित्त सस्था के रूप में इतने बोझ के तले आ गई है कि बस साँस लेती ही वह जी रही है।

मेरी गिरस्ती इसमें अपवाद नही है। सच पूछिये तो वह उजागर उदाहरण है इस अनिवार्यता का कि व्यक्ति और समाज बदले। व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध का नियमन होता है अर्थ के आधार पर। इससे साराश यह हुआ कि अर्थ-रचना बदले।

व्यक्तिगत रूप से मै अनुभव करता हूँ कि जिस अबोधा को मेरी पत्नी बनना हुआ है, और जिस पर मुझे सम्हाले रखने का काम आया है, वह नही समझ पाती कि इस दिल्ली में जहाँ मोटर है, बगले है, आराम है और आनन्द है वहाँ वह और उसकी गिरस्ती उसके किस पाप के कारण इन सब न्यामतो से वचित है । व्यक्तिगत रूप से मै स्वय इस पर खिन्न हूँ, क्लान्त हूँ, क्षुब्ध हूँ। तदुपरात मै स्वाधीन हूँ कि लेखक बनूँ, या न बनूँ । लेखक बन कर क्षोभ को मै फेंक नही सकता, अपनाये ही रख सकता हूँ। अर्थात् गरीबी से बिगड कर सीधी अमीरी पाने के प्रयत्न में मै नही पड सकता हूँ। वैसा करूँ और कर सकूँ तो शायद गाडी ठीक चलने लग जाय, और क्या अचरज कि गाडी तब मोटर बनकर सरपट दौडने लग जाय। लेकिन वह होने वाली चीज नही । क्योकि स्वय अपनेपन से छुटकारा पाना बन नही सकता।

यह देखकर मै मान बैठा हूँ कि पाप मै स्वय हूँ। पत्नी को भी यही समझाता हूँ कि उसके सारे कष्टो के लिए दुर्भाग्य और पाप को उसे और ढूँढने जाना नही है। पति के रूप में उसके आगे वह स्वय मूर्तिमान है।

आज की अर्थ-रचना की समीक्षा में मै आपको साथ नही लूँगा। वह चर्चा यहाँ असगत है । उस दृष्टि से गरीबी मेरी परिस्थिति न रह कर समाज की व्यापक व्याधि बन जाती है । ऐसी व्याधि कि जिसमें सामने होकर अमीरी एक नगी विडम्बना हो रहती है।

लेकिन उस सिलसिले में जो सगत है वह कह दूँ। आपका पत्र सरकारी है। सरकार आज जनतान्त्रिक है। हिन्द की जनता और इसलिए सरकार भी आज हिन्दी ही रह सकती है। अंग्रेजी रह कर आगे वह चल नही सकती । अग्रेजी पनप नही सकती । अग्रेज विदेश के थे, विदेशी और देश के अतिथि के रूप में अब जो चाहे तो रहे, देश के शासक के रूप में वे या शासक-भाषा के रूप में अग्रेजी नही रह सकते ।

अब आपके प्रकाशन-विभाग में क्या हो रहा है ? वहाँ क्या हिन्दी को अंग्रेजी से निम्न बनकर नही रहना होता ? अंग्रेजी को अपने सम्बन्ध में सम्भ्रम और गर्व रखने का अवसर देते जाना आजकल स्वतन्त्र भारत में अपराध से कम नही गिना जाना चाहिए। लेकिन आपका 'आजकल' शायद अब भी पुराने 'कल' में रहना चाहता है। आपका प्रकाशन-विभाग शायद अंग्रेजो की डाली लीक मे हटना नही चाहता। खैर, आप अपनी जाने। मै उस अपराध मे आपका साथ देने की हिम्मत नही रखता हूँ।

अंग्रेजी-हिन्दी मे यह ऊँच-नीच का सम्बन्ध दुनिया के बाजार में है, हिन्दुस्तान के बाजार मे है, यहाँ की सरकार के और विभागो मे है, जहाँ समझदारी है वहाँ सब कही है—यह कहकर उस ऊँच-नीच को चलाये जाना अपराध की जगह कर्तव्य नही बन जाता। आपका विभाग अंग्रेजी को ऊँची कीमत देकर हिन्दी को नीची उजरत देता है तो उस नीचता को अपने ऊपर लेकर उस उजरत के रुपये से अपनी गिरस्ती की गाडी मजे में चलाने का साहस मुझमें नही।

मै जानता हूँ कि सरकार के मत्री और सेक्रेटरी बडे-बडे काम कर रहे है। उसमें इस छोटी बात के ऊपर ध्यान उनका नही भी जाता होगा। वह ध्यान जब तक जाय तब तक पाँच-सात-सौ-हजार गिरस्ती की गाडियाँ गिर कर टूट जाय तो मै इसमें कुछ हर्ज नहीं देखता हूँ। मनुष्य सहज नही जागता। काम-धाम में वह इतना व्यस्त रहता है कि दुर्घटना ही उसे जगाती है। यह दुःख के स्पर्श से ही उतरता है। इसलिए गिरिस्तियो का टूटना और लोगो के दुःखों का बढना इतिहास की प्रगति के लिए आवश्यक होता है। चीन कम्युनिस्ट हो गया है। कोरिया पर उसकी जीत चढी चली जा रही है; और जगह भी उसके अस्तित्व की झाँकी लौ देकर जबतब जल आती है। उस सब की जड में दुख है, वह

दुख जो रचनात्मक और क्रियात्मक बन नही पाता, इससे ।जसके लिए ध्वसात्मक और वादात्मक बनना ही शेष रह जाता है ।

मेरी निष्क्रियता की आप चिन्ता न करे । व्यक्तिगत रूप में मेरी मृत्यु भगवान के हाथ है । लेखक के रूप में समझता हूँ मै अवश्य अपने को मार सकता हूँ । इस छोटे से कर्त्तव्य के अधिकार को जो मनुष्यो को मिला है, मै छोडने को तैयार नही हूँ । अर्थात् लेखक-रूप में कोई या किसी की मजबूरी मुझे जीने को मजबूर नही कर सकती है । किसी के जिलाये उस रूप में कोई जी नही सकता है । मेरी विनय है कि आप मेरी चिन्ता छोड दें । बस, अपने कर्तव्य का पालन करें । उसमें आप का और सबका भला निकल आने वाला है ?

आपके छपे नोट के उत्तर में लिखे गये इस पत्र को भी क्या आप छापेंगे ?

: ६१ :

साहित्य : सत्-असत् का द्वन्द्व

('विद्या' के सम्पादक के नाम)

भाई, आपका पत्र मिला, क्या यह जबर्दस्ती नही है कि आप जो माँगे वही मुझे देना हो ? आप कहानी चाहते है। तत्त्व को तात्त्विक ही न रहने देकर जब उसे व्यवहारगत उदाहरण का रूप दिया जाता है, तब वह कहानी बन जाता है। इसमे उसकी गरिष्ठता कम हो जाती है, रोचकता बढती है। तत्त्व कुछ कठिन, ठोस, वजनदार चीज जँचती है। कहानी की शकल में वही हलकी, रगीन, दिलचस्प काल्पनिक वस्तु बन जाती है।

पर आपकी 'विद्या' उत्कृष्ट कोटि के होने का सकल्प उठाकर आने वाली है। ऐसी हालत मे, मै शिक्षितो और विद्वानो का अपमान नहीं करूँगा, अर्थात्, कहानी नही लिखूँगा। और, कुछ ऐसे शब्द ही लिख सकूँगा जो शिक्षितो की शिक्षा के अनुसार बेरग हो और भूलें भी सरल न हो।

सच यह है,—दुनिया में द्वन्द्व दिखाई देता है। मनमें भी द्वन्द्व है, बाहर भी द्वन्द्व है। बाहर के द्वन्द्व को कुछ लोग व्यक्तियो की लडाई समझते है, कुछ वर्गों और जातियो का सघर्ष मान लेकर अपना समाधान करते है। वे लोग, राजाओ और राजवशो के कृत्यो की तारीखो से भरे हुए इतिहास को पढ-पढकर, उसमें से सिद्धान्त निकालते है। इतिहास, उनके निकट अमुक सिद्धान्त, अमुक तत्त्व के क्रम-विकास को सम्पन्न करने वाली अतीत क्रिया का नाम है। उस तमाम इतिहास में उनके निकट एक अनुक्रम है, निश्चित निर्देश है, एक तर्क है। ये सब ठीक हैं, और जो दुनिया को व्यक्ति के अर्थ रखने वाली माने वे उन से गलत क्यो

हैं । जो व्यष्टि को समष्टि के प्रयोजनार्थ समझते हैं वे गलत क्यों हैं ? और वे गलत क्यों हैं जो इतिहास का तमाम तत्त्व इस में समझते हैं कि हम जानें कि अमुक राजा किस सन् में मरा और फलाँ लड़ाई किस सन् में लड़ी गई ?

सब बात अपनी-अपनी भूमिका और अपनी-अपनी दृष्टि की है। और जो द्वन्द्व इस घोरता के साथ घट-घट में व्याप रहा है उसे मैं सत्-असत् का द्वन्द्व कह कर समझूँ इसमें मुझे सुख मिलता है। साहित्य में भी सत्-असत् की लड़ाई है। असत् कहने से यह न समझा जाय कि जिसमें बल नहीं है वह भी असत् है। नहीं ; बल्कि, मात्र आँखों से देखे तो बात उलटी दीखेगी। क्रोध मे जो बल है, शान्ति में कहाँ है ? और हिंसा में प्राबल्य किसने नहीं देखा ? अहिंसा को कौन मानेगा कि वह उससे चौथाई भी प्रबल है ? लेकिन, फिर भी हम क्रोध को कहेंगे असत्, और हिंसा को कहेंगे असत् ।

किसी को असत् कह कर व्यक्ति के ऊपर जिम्मेदारी आ जाती है कि वह सिद्ध करे, अपने आचरण और उदाहरण द्वारा प्रमाणित करे, कि जिसको उसने सत् माना है वह उससे कहीं शक्तिशाली है—अर्थात् क्रोध शान्ति की शक्ति के सामने अपदार्थ है और हिंसा अहिंसा की सात्त्विक शक्ति के आगे सदा ही पराजित है।

मैं विश्वास करना चाहता हूँ कि इस सत्-असत् के युद्ध मे साहित्यिक सत् के पक्ष में अपने को खपायेंगे, यानी लिखेंगे तो उस पर आरूढ भी होंगे। इस भावना के साथ—

नवम्बर १९३४

विशिष्टशब्दानुक्रमणिका

आ

इ

ई

उ

ज

ट

ड

त

द

ध

न

प

फ

ब

भ

शा

स